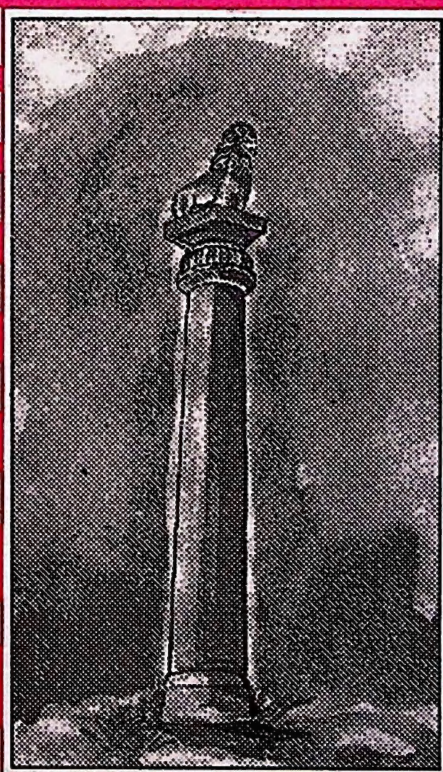


# लिच्छवियों का उत्थान एवं पतन

शैलेन्द्र श्रीवास्तव





भारतीय इतिहास में लिच्छवियों की लम्बे समय तक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। वैशाली के लिच्छवियों का उदय भारतीय इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ ही नहीं अपितु—संस्कृति का एक विशिष्ट उपाख्यान है। इसका अपना गौरवपूर्ण इतिहास मगध शासन, गुप्त वंश, गंगा घाटी के सामाजिक-सांस्कृतिक बिन्दुओं से जुड़कर पूर्ण होता है। छठी शताब्दी ईसा पूर्व (बौद्ध काल) में लिच्छवियों ने एक शक्तिशाली गणराज्य की स्थापना की थी जिनका उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है। इतिहासकार लिच्छवियों के सुदृढ़ गणराज्य का उल्लेख विश्व के प्रथम गणराज्य के रूप में करते हैं।

पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मगध के अजातशत्रु की साम्राज्यवादी नीति के कारण 480 ई. पू. के बाद लिच्छवियों का पराभव इतिहास में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। लिच्छवि पुनः चन्द्रगुप्त प्रथम (320 ई.) के समय में प्रमुख शक्ति के रूप में राजनीतिक मंच पर दृष्टिगोचर होते हैं। अजातशत्रु और चन्द्रगुप्त प्रथम के मध्यकाल में लिच्छवियों के इतिहास के बारे में बहुत कम जानकारी मिलती है। शैलेन्द्र श्रीवास्तव ने नन्द राजाओं, मौर्य राजाओं, शुंग, कण्व, सातवाहन और शक राजाओं की राजनीतिक स्थिति के गहन विश्लेषण के माध्यम से इस अंतराल को भरा है। पूर्ववर्ती विद्वानों ने इस पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया था।

लिच्छवियों के चरित्र-निर्माण में भगवान बुद्ध और भगवान महावीर स्वामी के विचारों का महत्त योगदान रहा है। शैलेन्द्र श्रीवास्तव ने प्रस्तुत पुस्तक में लिच्छवि-बुद्ध तथा लिच्छवि-महावीर स्वामी के सम्बन्धों पर शोधपूर्ण दृष्टि से उत्कृष्ट विवेचना की है।

भारतीय इतिहास में छठी शताब्दी ईसा पूर्व का समय ऐतिहासिक तथा पूर्व ऐतिहासिक काल का संधि काल माना जाता है। इस दृष्टि से इस काल का विवेचन प्राचीन इतिहास में रुचि रखने वाले प्राध्यापकों, बुद्धिजीवियों एवं शोधार्थियों के लिए जरूरी है।

प्रस्तुत पुस्तक की अनुशंसा अनेक विद्वानों ने की है। 'एन अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैशाली' के लेखक प्रख्यात इतिहासकार प्रोफेसर योगेन्द्र मिश्र ने इसे लिच्छवियों के राजनैतिक व सांस्कृतिक इतिहास पर विस्तार से प्रकाश डालने वाला हिन्दी में लिखा प्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ और हर प्रकार से इसे अभिनन्दनीय कहकर लेखक को साधुवाद दिया है। (विद्वानों से प्राप्त पत्रों से)







लिच्छवियों का उत्थान एवं पतन  
(600 ई० पू०-781 ई०)







# लिच्छवियों का उत्थान एवं पतन (600 ई० पू०-781 ई०)

डॉ० शैलेन्द्र श्रीवास्तव

जनभारती

साहिबाबाद-201005



प्रकाशक  
जनभारती  
ए-128ए, लाजपत नगर  
साहिबाबाद-201005

© : डॉ० शैलेन्द्र श्रीवास्तव

संस्करण  
1998

मूल्य  
रु० : 300.00

शब्द संयोजन  
उमेश लेखर प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110 032

मुद्रक  
त्रिवेणी ऑफसेट, शाहदरा, दिल्ली-110 032

---

LICHCHHAVIYON KA UTTHAN AVAM PATAN

by Dr. Shaillendra Srivastava

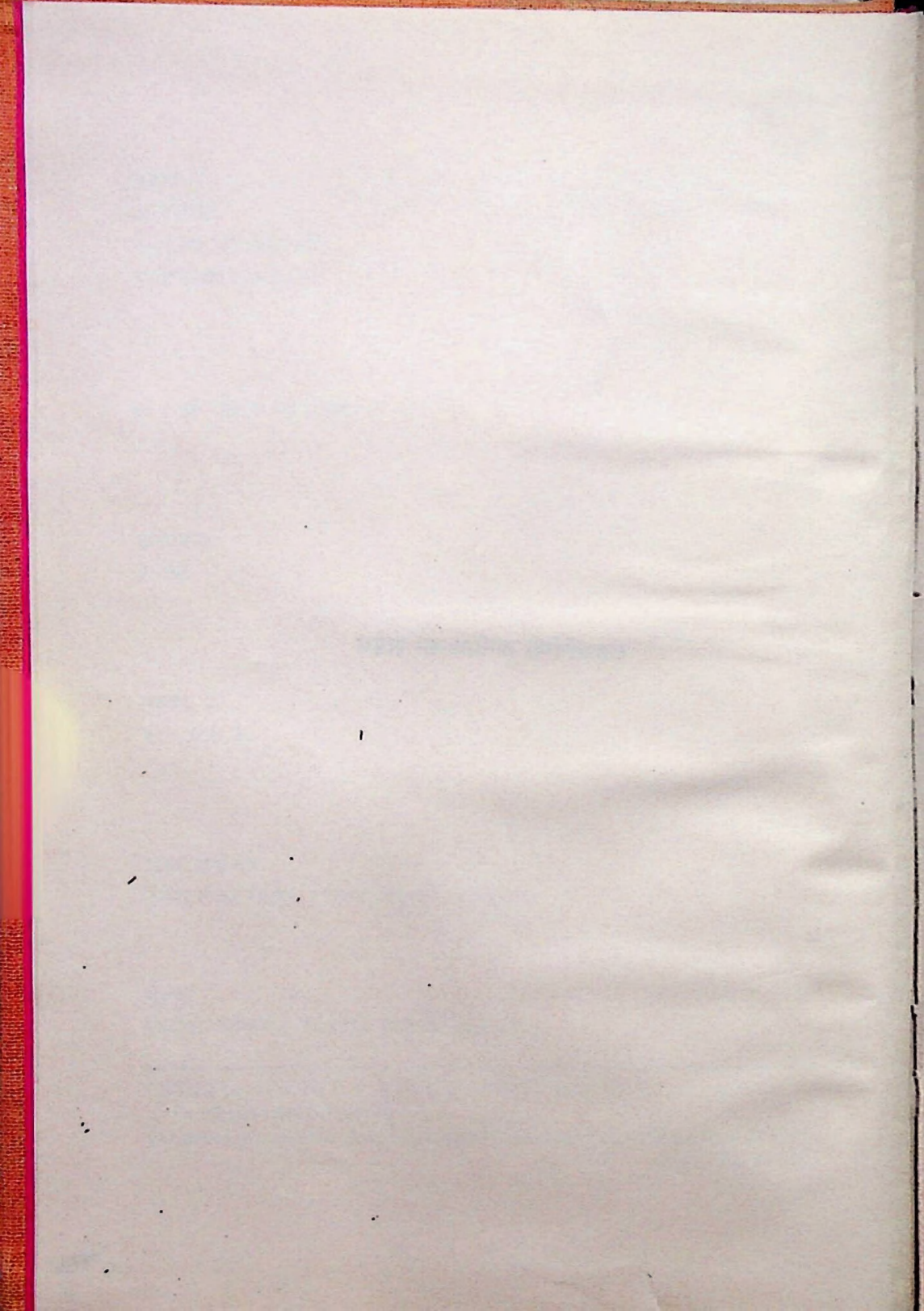
Published by Janbharti, A-128 A, Lajpat Nagar, Shahibabad, Ghaziabad-201005

Price : Rs. 300.00



सहधर्मिणी अनीता को सप्रेम







मत सम्मत

## लिच्छवियों का विस्तृत इतिहास

‘लिच्छवियों का उत्थान एवं पतन (600 ई० पू०-781 ई०)’ नामक पुस्तक हिन्दी में अपने विषय पर लिखी पहली प्रामाणिक पुस्तक है। इसमें वैशाली के लिच्छवियों का विस्तृत इतिहास वर्णित है, साथ ही उनके नेपाल में जाकर वहां शासन करने का विवरण भी दिया गया है। इसमें विषय का सांगोपांग प्रतिपादन हुआ है और कोई महत्त्वपूर्ण पक्ष निरूपित होने से नहीं छूटा है। लेखक ने हर तरह के साक्ष्य का उपयोग किया है। परिणामतः पुस्तक में प्रामाणिकता के साथ रोचकता का अपूर्व समावेश हो गया है। पुस्तक हर तरह से अभिनन्दनीय एवं संग्रहणीय है। आशा है, इस कृति का सर्वत्र स्वागत होगा।

—डा० योगेन्द्र मिश्र

भूतपूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

इतिहास विभाग

पटना विश्वविद्यालय, पटना

□ □ □

It is a good attempt to present a connected history of the Lichchhaves from 600BC - 781AD. The Author is critical in handling original Sources & the views of earlier Scholars, It is useful Study.

—Dr. Lallanji Gopal

(Pro. Banaras Hindu University)

## एक नई दृष्टि

वैशाली के लिच्छवियों का उदय भारतीय इतिहास की एक कहानी नहीं, संस्कृति का भी एक विशिष्ट अध्याय है। यह अध्याय मगध शासन, गुप्तवंश और गंगा-घाटी के सामाजिक-सांस्कृतिक बिंदुओं से जुड़कर पूरा होता है। चौथी सदी के शुरू में मगध एक बार फिर मौर्यकाल की तरह राजनैतिक केंद्र बन गया। गुप्त साम्राज्य के संस्थापक श्रीगुप्त ने महाराज की उपाधि धारण की, पर गुप्त साम्राज्य के शक्ति और वैभव का काल चंद्रगुप्त प्रथम से शुरू होता है। चंद्रगुप्त प्रथम के पुत्र समुद्रगुप्त ने प्रसिद्ध प्रयाग-स्तंभलेख में कहा है कि वह 'लिच्छवियों का दौहित्र' है। इससे पता चलता है कि चंद्रगुप्त प्रथम की पत्नी लिच्छवि थी। लिच्छवियों के साथ विवाह संबंध स्थापित करके गुप्त शासकों ने राजनीतिक दूरदर्शिता का परिचय दिया था, क्योंकि लिच्छवि प्राचीन भारत के राजनीतिक जीवन में एक प्रमुख शक्ति के रूप में रहते आए थे। ऐसी स्थिति में लिच्छवि कन्या कुमारदेवी के साथ चंद्रगुप्त के विवाह के परिणाम बड़े दूरगामी थे। यह देखकर आश्चर्य और दुख होता है कि लिच्छवियों के इतिहास पर थोड़ा-बहुत ही विचार किया गया है, सुव्यवस्थित अध्ययन नहीं हुआ। इस अभाव को पूरा करने के लिए ही 'लिच्छवियों का उत्थान एवं पतन' की शोधदृष्टि सक्रिय रही है।

मगध के राजा अजातशत्रु ने (480 ई० पू० के लगभग) लिच्छवियों को युद्ध में हराया था। फिर लिच्छवि लंबे समय तक शक्तिशाली गणराज्य के रूप में उभर नहीं सके। लिच्छवि पुनः तब प्रकाश में आए जब गुप्त वंश के राजा चंद्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवि कन्या को अपनी साम्राज्ञी बनाया, जिसका प्रमाण 'कुमारदेवी-चंद्रगुप्त' प्रथम के स्वर्ण सिक्के देते हैं। वैशाली के लिच्छवि किस काल में नेपाल गए, उनका सामाजिक-आर्थिक जीवन कैसा रहा, यह जानकारी अभी तक बहुत कम मिलती है। लिच्छवियों के इतिहास पर सबसे पहले विमलचरण ला ने 'दि लिच्छवीज इन एशियेंट इंडिया' शोध निबंध में कुछ नई जानकारी दी थी। इसी समय इतिहास के कुछ अन्य विद्वानों ने लिच्छवियों पर शोधपरक निबंध लिखे। लिच्छवियों के इतिहास पर विस्तृत प्रकाश डालने वालों में योगेंद्र मिश्र तथा हितनारायण झा का नाम आता है। योगेंद्र मिश्र की पुस्तक 'एन अर्ली हिस्ट्री आफ वैशाली' (1962) में वैशाली पर आदि काल से शासन करने वाले राजवंशों का इतिहास मिलता है और यह पुस्तक अजातशत्रु और लिच्छवियों के संबंधों पर भी प्रकाश डालती है। हितनारायण झा की पुस्तक 'लिच्छवीज' (1970) मुख्यतः नेपाल के लिच्छवियों का राजनीतिक इतिहास प्रस्तुत करती है। लिच्छवियों के सांस्कृतिक-आर्थिक इतिहास का महत्त्व समझते हुए शैलेंद्र श्रीवास्तव ने इस दिशा में यह महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

लिच्छवियों का इतिहास सौभाग्यवश बौद्ध ग्रंथों में विशेषकर विनय पिटक, सुत्तपिटक, जातक कथाएं, बुद्धघोष की अट्ठकथा, जैन ग्रंथ आचारांग सूत्र, कौटिल्य



अर्थशास्त्र, पतंजलि का महाभाष्य, कौमुदी महोत्सव नाटक एवं 'चोर वस्तु' में जगह-जगह मिलता है। बौद्धग्रंथ 'चोर वस्तु' में तो यह उल्लेख भी है कि लिच्छवियों की गणतंत्रात्मक प्रणाली बड़ी विकसित थी और एक गणनेता की मृत्यु होने पर नए गणनेता का निर्वाचन होता था। गणनेता के निर्णय सभी को मानने पड़ते थे और उनकी उपेक्षा करने वालों को कठोर दंड दिया जाता था। गण अपने अधिकारी नियुक्त करता था, जो उसके प्रतिनिधि होते थे। विद्वानों ने नेपाल के लिच्छवियों के इतिहास को खोजने के लिए, नेपाल के राजवंश की वंशावलियों, अभिलेखों और सिक्कों को प्रमुख माध्यम बनाया है। खोजों में निष्कर्षों को भरोंसे का बनाने के लिए वैशाली उत्खनन में मिले सिक्कों, मुहरों, मूर्तियों, ललित कलाओं की तमाम सामग्री, चीनी यात्री विवरणों को तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर परखा है। अजातशत्रु से लेकर चंद्रगुप्त प्रथम तक जो लंबा अंतराल है, उसे भी शुंग राजाओं की राजनीतिक स्थितियों के बीच में समझाने का कार्य हुआ है।

शैलेन्द्र श्रीवास्तव ने इतिहास-साहित्य, ललितकला आदि से प्राप्त लगभग सभी सामग्री को लेकर लिच्छवियों की उत्पत्ति और मूल स्थान की खोजपूर्ण विवेचना की है। लिच्छवि नाम के विभिन्न रूपों, जातिगत मतों पर अनेक विद्वानों के विचारों का परीक्षण किया है। लिच्छवियों के राजनीतिक इतिहास में घसने से पहले बुद्ध से पूर्व वैशाली का इतिहास भी दिया गया है। इस दिशा में रामायण, महाभारत और पुराणों में प्राप्त सामग्री को भी एकत्रित किया गया है। जातकों तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र में विदेह में करालजनक शासनतंत्र को टटोला गया है। इन विचारों को स्पष्ट करने के लिए शिशुनाग, नंद राजाओं, मौर्य राजाओं, शुंग, कण्व, सातवाहन और कनिष्क काल के लिच्छवियों पर बड़े परिश्रम से कार्य किया गया है। श्रीवास्तव ने वैशाली के ब्राह्मण, आजीविक, जैन और बौद्ध मतों के साथ लिच्छवियों के संबंध विश्लेषण में तब की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों पर विशेष ध्यान दिया है। इस दृष्टि से लिच्छवियों की विवाह-विधि, वेश भूषा, अलंकरण, कला, संगीत, भवन योजना, आर्थिक संपन्नता, शूद्रों और दासों की स्थिति, नारी की प्रतिष्ठा, शिक्षा, खान-पान पर विस्तृत विचार किया गया है। इस अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि लिच्छवियों के चरित्र निर्माण में बुद्ध के विचारों का बड़ा योगदान था। लिच्छवियों की भाषा और साहित्य से भी यह ज्ञात होता है कि आर्य-अनार्य परंपराओं को आत्मसात कर वे बड़े प्रगतिशील प्राणी थे।

लिच्छवियों के राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास पर विस्तार से प्रकाश डालने वाला यह शोध कार्य निश्चय ही भारतीय इतिहास और साहित्य के विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

डा० कृष्णदत्त पालीवाल

(दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

प्राचीन भारत में अनेक गणराज्य थे। इन गणराज्यों की जनता का जीवन लोकतांत्रिक व्यवस्था द्वारा संचालित होता था। परंतु बाद में जोर-जबरदस्ती, अन्याय और षड्यंत्र द्वारा इन गणराज्यों को किसी न किसी राजा या सम्राट ने हड़प लिया और उनके विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया रोक दी। लिच्छवियों के सुप्रसिद्ध, समृद्ध व सुसंस्कृत गणराज्य के साथ अजातशत्रु ने ऐसा ही किया।

लिच्छवियों के इतिहास पर अनेक शोध प्रबंध लिखे गए हैं, परंतु श्री शैलेन्द्र श्रीवास्तव के इस शोध प्रबंध में लिच्छवियों की ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में नई दृष्टि से उत्कृष्ट विवेचन किया गया है। इस शोध प्रबंध में वैशाली की भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक संपदा भूमि-व्यवस्था, व्यापार, उद्योग-धंधे आदि पर प्रकाश डाला गया है। इसमें लिच्छवियों की उत्पत्ति व मूल स्थान, उनका राजनैतिक इतिहास, भगवान बुद्ध के समय लिच्छवि-मगध संबंध तथा वज्जि संघ का पतन, अजातशत्रु से पराजित होने के बाद लिच्छवियों की स्थिति, गुप्त-अधुदय से पूर्व लिच्छवियों का इतिहास, नेपाल के लिच्छवियों का इतिहास, लिच्छवियों के पतन के कारण, उनकी आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक व धार्मिक दशा आदि की सारगर्भित विवेचना की गई है।

श्री शैलेन्द्र श्रीवास्तव ने इस पुस्तक के लेखन के लिए अनेक उत्खनन स्थलों, संग्रहालयों, अभिलेखागारों तथा वैशाली क्षेत्र में वर्षों तक अनुसंधान व अध्ययन किया है। पुस्तक में अनेक नए तथ्य प्रस्तुत किए गए हैं।

डा० विश्वमित्र उपाध्याय  
दैनिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली



## प्रस्तावना

छठी शताब्दी ई. पू. (बौद्धकालीन भारत) लिच्छवि गणराज्य एक पूर्ण विकसित गणराज्य के रूप में मिलता है। लेकिन अजातशत्रु से पराजित (480 ई. पू. के लगभग) होने के बाद लिच्छवि दीर्घकाल तक पूर्व की भांति शक्तिशाली गणराज्य के रूप में प्रकाश में नहीं आ सके। इस अंतराल के पश्चात लिच्छवि पुनः प्रकाश में उस समय आए जब गुप्त नरश चन्द्रगुप्त प्रथम का विवाह लिच्छवि कुमारी कुमार देवी के साथ हुआ, जिसका प्रमाण कुमार देवी चन्द्रगुप्त प्रथम के सिक्के हैं, जिनके पृष्ठ भाग पर 'लिच्छवयः' अंकित है। गुप्तकाल के चरमोत्कर्ष काल में ही लिच्छवि नेपाल के शासनाधिकारी बने किन्तु तब लिच्छवियों ने शासन पद्धति गणतांत्रिक प्रणाली से परिवर्तित कर राजतांत्रिक शासन प्रणाली अपना ली थी। इस प्रकार प्राचीन भारत और नेपाल में लिच्छवियों का एक लम्बा इतिहास है जिनकी विस्तृत सामग्री बौद्ध एवं जैन ग्रंथों तथा नेपाल के शिलालेखों में बिखरी पड़ी है।

लिच्छवियों के इतिहास पर सर्वप्रथम श्री विमल चरण ला ने अपने शोध निबन्ध 'द लिच्छवि इन एंशियेण्ट इंडिया' तथा शोध ग्रंथ 'क्षत्रिय क्लान्स इन बुदिष्ट इंडिया' में कुछ जानकारी दी। इसके अतिरिक्त अनेक विद्वानों ने लिच्छवियों की उत्पत्ति, शासन प्रणाली आदि पर महत्त्वपूर्ण शोध निबन्ध लिखे जिनमें सैमुअल बील, जे. एफ. हेविट, विसेंट आर्थर स्मिथ आदि पश्चात्य विद्वान तथा भारतीय विद्वानों में यू. एन. घोषाल, सतीश चन्द्र विद्याभूषण, रमेश चन्द्र मजूमदार, काशी प्रसाद जायसवाल आदि प्रमुख नाम हैं। इन विद्वानों के शोध निबन्धों ने बाद के इतिहासकारों के मन में लिच्छवियों के विषय में अधिक जानकारी प्रस्तुत करने की उत्सुकता उत्पन्न की। लिच्छवियों के इतिहास के विषय में तमाम सामग्री बौद्ध तथा जैन ग्रंथों, कौमुदी महोत्सव, प्रयाग प्रशस्ति तथा नेपाल में प्राप्त अभिलेखों में अव्यवस्थित रूप में उपलब्ध थी। इन सामग्रियों को ऐतिहासिक सूत्र में पिरोने के प्रयास किये गये।

इन प्रयासकर्ताओं में श्री योगेन्द्र मिश्र तथा श्री हित नारायण झा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। श्री योगेन्द्र मिश्र की पुस्तक 'एन अर्ली हिस्ट्री आफ वैशाली' (1962) में वैशाली पर आदि-काल से राज्य करने वाले राजवंशों का इतिहास विवेचित है। इस पुस्तक में अजातशत्रु के समय में लिच्छवियों के इतिहास पर भी विशेष प्रकाश डाला गया है। श्री हित नारायण झा की पुस्तक 'लिच्छवीज़' (1970) में प्रमुख रूप से नेपाल के लिच्छवियों के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। श्री योगेन्द्र मिश्र ने अपनी पुस्तक

में लिच्छवियों के इतिहास को अजातशत्रु के समय तक सीमित रखा, और श्री हित नारायण झा ने वैशाली के लिच्छवियों के राजनैतिक इतिहास का एक महत्वपूर्ण काल (अजातशत्रु तथा गुप्त नरेश चन्द्रगुप्त प्रथम के मध्य के काल में लिच्छवि) के इतिहास को केवल कुछ पंक्तियों में समेट दिया। प्रस्तुत पुस्तक में इस महत्वपूर्ण काल के इतिहास पर विशेष रूप से विवेचन करने के साथ-साथ लिच्छवि गणराज्य की स्थापना तिथि (650 ई. पू. के लगभग) और नेपाल में अंतिम लिच्छवि राजा की अंतिम ज्ञात तिथि (781 ई.) की अवधि में लिच्छवियों के इतिहास को क्रमबद्ध किया गया है।

प्रथम अध्याय में लिच्छवियों की उत्पत्ति व मूल स्थान पर विवेचना की गई है। 'लिच्छवि' शब्द की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में विभिन्न मत प्रस्तुत किये हैं। काशी प्रसाद जायसवाल के मत में लिच्छवि शब्द 'लिच्छु' से बना है और इसका अर्थ होता है—लिच्छु (लिक्षु) का वंशज। लिक्ष का अर्थ लक्ष्य विशेष होता है। लिक्षु और लिक्ष आपस में मिलते हैं। संभवतः यह पुकारा जाना वाला नाम किसी गोत्र विशेष के चिह्न का द्योतक है। सतीश चन्द्र सरकार का मत है कि 'लिच्छ' शब्द 'ऋक्ष' का अर्थ भालू या कोई लोमधारी पशु भी होता है जैसे सिंह। सिंह शक्ति का द्योतक है। ऋक्ष से प्राकृत में 'लृ' का 'लि' तथा 'क्ष' का 'च्छ' अर्थात् ऋक्ष का लिच्छ हो गया। सम्भवतः लिच्छवियों ने सिंह को अपनी पताका का चिह्न चुना हो, जिसे बाद में शिशुनागों और मौर्यों ने भी अपना लिया। हित नारायण झा ने 'परमत्यजोतिका' में वर्णित लिच्छवियों की एक काल्पनिक उत्पत्ति कथा में प्रयुक्त 'लिनाच्छवि' शब्द का व्युत्पत्ति विग्रह इस प्रकार दिया है—लीडः श्लेषणों—ली (न) चवि—लीचवि=लिच्छवि। कथा के अनुसार बनारस की रानी के गर्भ से मांस पिंड उत्पन्न हुआ जिसे रानी ने काष्ठपिंजर में रखकर गंगा नदी में बहा दिया। काष्ठपिंजर एक यति को मिला। उसने मांस पिंड की सेवा की जिससे जुड़वा बच्चे (एक लड़की व एक लड़का) उत्पन्न हुए। ऐसा कहा जाता है इन बच्चों के पेट में जो कुछ जाता था, साफ दिखाई पड़ता था; जैसे दोनों बच्चों का पेट पारदर्शी हो। अतः वे चर्म रहित (निच्छवि) मालूम होते थे, कुछ लोग कहते थे, इनका चर्म इतना पतला है (लिनाच्छवि) कि पेट में जो कुछ पदार्थ जाता है, सिला हुआ जान पड़ता है। इस तरह ये बच्चे 'निच्छवि' या 'लिच्छवि' पुकारे जाने लगे। उन्होंने पारदर्शी पेट का अभिप्राय सौंदर्यबोध माना है। सतीश चन्द्र विद्याभूषण तथा कुछ अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने इस शब्द की व्युत्पत्ति एक पारसी शब्द 'निसिविस' से मानी है। उनका मत है कि ये शब्द संस्कृत में निच्छवि तथा कालांतर में पालि में लिच्छवि हो गया होगा। दरअसल मनुस्मृति (10-12) में प्रयुक्त 'लिच्छवि' शब्द को बंग टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने 'निच्छवि' पढ़ा था जो पंद्रहवीं शताब्दी में बंगाक्षर में 'न' और 'ल' का साम्य होने से 'लि' के बजाय 'नि' पढ़ा गया। मनुस्मृति के प्रकांड विद्वानों ने 'लिच्छवि' को शुद्ध पाठ माना है। अतः 'निच्छवि' शब्द की व्युत्पत्ति स्वतः ही अमान्य हो जाती है। इस तरह 'लिच्छवि' की व्युत्पत्ति के विषय में स्पष्ट कुछ निर्णय नहीं लिया जा सका है। इसी



प्रकार लिच्छवियों की जाति और मूल स्थान के विषय में भी पर्याप्त मतभेद हैं। कुछ पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने उन्हें यू-ची, कोलार, तिब्बती तथा पारसी प्रजाति से संबंधित बताया है तो कुछ ने उन्हें किन्नर, किरात, खशो तथा यक्षों के सदृश्य किसी आर्येतर जाति से संबंधित बताया है। किन्तु अधिकांश विद्वानों ने इन मतों का जोरदार तर्कों से खंडन किया और उन्हें आर्य क्षत्रिय से संबंधित माना है।

पुस्तक में सभी विद्वानों के मतों का ऐतिहासिक विश्लेषण करने के पश्चात् निष्कर्ष निकाला गया है कि लिच्छवि मूलतः भारतीय थे और उनका मूल स्थान वैशाली क्षेत्र (पहले विदेह क्षेत्र कहा जाता था) ही है। लिच्छवि ठीक उसी अर्थ में क्षत्रिय थे जिस अर्थ में शाक्य मुनि गौतम बुद्ध को विद्वान क्षत्रिय स्वीकार करते हैं। मनुस्मृति में 'लिच्छवि' को 'वात्य' के अंतर्गत ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने इसलिए रख दिया होगा, क्योंकि लिच्छवि अब्राह्मण मत के अनुयायी थे।

दूसरे अध्याय में भगवान बुद्ध के पूर्व लिच्छवियों का इतिहास विवेचित है। बुद्ध के पूर्व लिच्छवियों के विषय में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध अप्रत्यक्ष संकेतों तथा विवरणों को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने से विदित होता है कि कोशल के राजा दशरथ तथा विदेह के राजा सीरध्वज जनक के काल में वैशाली में सुमति का शासन था। सुमति को सभी पुराणों में वैशाली के अंतिम इक्ष्वाकु वंशीय राजा के रूप में दर्शाया गया है। संभवतः सुमति के पश्चात् वैशाली में इक्ष्वाकु वंशीय राजाओं का शासन समाप्त हो गया, और वैशाली क्षेत्र विदेह राजा के अंतर्गत आ गया। संभवतः विदेह में राज्य क्रांति के समय तक यह उसी के अंतर्गत रहा। विदेह में हुई इस राज्य क्रांति का उल्लेख प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में जातकों और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हुआ है। विदेह में करालजनक के समय में हुई राज्य क्रांति तथा लिच्छवि गणराज्य की स्थापना भगवान बुद्ध के समय से सौ वर्ष पहले लगभग 650 ई. पू. के लगभग की घटना है।

लिच्छवियों की तरह वज्जि, उय, भोग, अक्षविक, ज्ञातिक, कौरव आदि क्षत्रिय कुल भी इस क्षेत्र में निवास करती थे। बाद में लिच्छवियों ने अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए सभी कुलों तथा विदेह को सम्मिलित कर एक मजबूत संघ 'वज्जि संघ' की स्थापना की।

तृतीय अध्याय में भगवान बुद्ध के समय लिच्छवि-मगध-संबंध तथा वज्जि संघ का पतन विवेचित है। इसके अतिरिक्त पड़ोसी गणराज्यों से लिच्छवियों के संबंध पर विवेचना की गई है। लिच्छवि मगध के मध्य युद्ध के कई कारणों का उल्लेख बौद्ध तथा जैन ग्रंथों में मिलता है, परन्तु मुख्य कारण संभवतः गंगा के जलमार्ग पर अधिकार करने को लेकर हुआ था। अजातशत्रु ने गंगा के जलमार्ग पर एकाधिकार करना चाहा जिस पर लिच्छवियों ने विरोध किया। फलतः दोनों के मध्य युद्ध हुआ। लिच्छवियों ने अजातशत्रु के विरुद्ध एक बड़ा संयुक्त मोर्चा बनाया जिसमें लिच्छवि राजा चेटक के नेतृत्व में नौ

‘लिच्छवि’, नौ मल्ल तथा काशी-कोसल के 18 गणराजा में शामिल हुये। सम्भवतः युद्ध एक वर्ष तक चला। अंततः अजातशत्रु की जीत हुई। चेटक के नेतृत्व में बना संयुक्त मोर्चा बिखर गया। कुछ विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया कि युद्ध में पराजित होने के बाद चेटक के अनुयायी नेपाल की दुर्गम घाटी में जा छुपे और लिच्छवि राजा चेटक ने कुएं में कूदकर आत्महत्या कर ली। कुछ विद्वान लिच्छवियों का नेपाल पलायन की घटना 483 ई. पू. मानते हैं। किन्तु मेरे विचार से यह सही नहीं है। सम्भवतः अजातशत्रु से पराजित होने पर अन्य लिच्छवि राजा वैशाली लौट आए। मेरे विचार से सम्भवतः लिच्छवियों को युद्ध में पराजित करने के बाद भी अजातशत्रु ने वैशाली में गणतांत्रिक व्यवस्था को समाप्त नहीं किया। सम्भवतः इसीलिए वज्जि संघ में शामिल दो प्रमुख गणराज्य वज्जि और लिच्छवि अलग-अलग गणराज्य के रूप में कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लिखित किये गए। यह स्थिति शुंग नरेश वसुमित्र की मृत्यु तक बनी रही। वसुमित्र के पश्चात् मगध साम्राज्य कमजोर पड़ गया। पाटलिपुत्र का दरबार स्वयं षड्यंत्र का अड्डा बन गया जिसके परिणाम स्वरूप अंतिम शुंग राजा देवभूति की हत्या कण्व द्वारा हुई। कण्वों का शासन बहुत अल्प है। कण्वों के काल में ही भारत में अराजकता का युग शुरू हुआ। कण्वों के पश्चात् और गुप्त-अभ्युदय (321 ई.) के पूर्व तक पाटलिपुत्र पर किसका शासन रहा इतिहास में विवादास्पद विषय रहा है। क्योंकि इसी अवधि में पाटलिपुत्र पर कलिंग नरेश खारवेल ने आक्रमण किया और जीत लिया। सातवाहनों ने भी पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर जीता। यह स्थिति इस बात का द्योतक है कि उत्तर भारत में अराजकता का युग था। इसी काल में पश्चिम भारत में यौधेय, मालव, क्षुद्रक, अर्जुनायन, कुकुर तथा वृष्णि आदि गणराज्यों का पुनरुत्थान हुआ। इसी तरह मध्यदेश के सामंत स्वतंत्र शासक बन बैठे जिनके ‘मित्र’ विरुद्ध वाले सिक्के प्रचुर मात्रा में प्राप्त हुए हैं। संभवतः वैशाली के लिच्छवि भी इसी अवधि में स्वतंत्र हो गये।

इतिहासकारों का मत है कि कण्वों के पश्चात् आंध्र-सातवाहनों ने मगध पर अधिकार कर लगभग 50 वर्षों तक शासन किया। मेरा विचार है कि संभवतः लिच्छवियों ने इस कार्य में सातवाहनों की सहायता की थी और बाद में सातवाहनों को जब अपना ध्यान पश्चिम भारत के कुषाणों की ओर लगाना पड़ा तो ऐसी स्थिति में लिच्छवियों ने सातवाहनों से आज्ञा प्राप्त कर पाटलिपुत्र पर अधिकार कर लिया अथवा स्वयं सातवाहनों ने पाटलिपुत्र का शासन भार लिच्छवियों को सौंप दिया हो। इस प्रकार पाटलिपुत्र भी लिच्छवियों के अधिकार क्षेत्र में आ गया।

इतिहास में यह अभी तक निश्चित नहीं हो पाया है कि शक राजा कनिष्क द्वारा पाटलिपुत्र पर आक्रमण किए जाने के समय पाटलिपुत्र पर किस राजा का शासन था और वह कौन राजा था जिसे कनिष्क ने पराजित किया था। इस महत्वपूर्ण बिन्दु पर मैंने दृष्टिकोण से राजनीतिक स्थिति की समीक्षा की। इस समस्या के हल के लिए मैंने उस चीनी जनश्रुति का सहारा लिया है जिसमें कहा गया है कि देवपुत्र (कनिष्क) ने पराजित



राजा से क्षतिपूर्ति के लिए नौ लाख स्वर्ण मुद्राओं की मांग की, किन्तु इसके बदले पराजित राजा ने देवपुत्र को भगवान बुद्ध का प्राचीन भिक्षापात्र भेंट कर मैत्री स्थापित कर ली। मेरे विचार से कनिष्क से पराजित होने वाला राजा लिच्छवि था क्योंकि एक अन्य जनश्रुति के अनुसार अंतिम बार वैशाली छोड़ते समय भगवान बुद्ध ने अपना प्रिय भिक्षापात्र लिच्छवियों को दे दिया था। कनिष्क के समय पाटलिपुत्र पर लिच्छवि राजा ही विद्यमान था, इस तर्क की पुष्टि के लिए मैंने 'कौमुदी महोत्सव' नाटक को भी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया है। नाटक में पाटलिपुत्र पर स्वतंत्र राजा का चित्रण है। संभवतः लिच्छवि नरेश कनिष्क के उत्तराधिकारी हुविष्क के पश्चात् जब कुषाण साम्राज्य हासोन्मुख हुआ तो लिच्छवियों ने पुनः अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली और पाटलिपुत्र पर शासन कर रहे करद लिच्छवि राजा ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर लिया।

यह स्थिति गुप्तों के अभ्युदय के पूर्व तक अवश्य बनी रही है। क्योंकि कौमुदी महोत्सव के अनुसार सुंदर वर्मन सामंत राजा था जिसका राज्य पाटलिपुत्र के सीमित क्षेत्र पर ही था। संभवतः इसी सुंदर वर्मन की पुत्री कुमार देवी थी जिसका विवाह गुप्त नरेश चन्द्रगुप्त प्रथम से हुआ। संभवतः पारिवारिक कलह के कारण (नाटक के अनुसार पारिवारिक कलह में चण्डसेन तथा कल्याण वर्मन सब नष्ट हो गये) जब पाटलिपुत्र राजा-विहीन हो गया तो कुमार देवी और चन्द्रगुप्त प्रथम के सह-संचालन में पाटलिपुत्र सहित सम्पूर्ण मगध क्षेत्र आ गया। लिच्छवियों के इस संबंध का समुद्रगुप्त ने भी अपने दिग्विजय में भरपूर लाभ उठाया। इसी कारण समुद्रगुप्त लिच्छवियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए 'प्रयाग प्रशस्ति' में स्वयं को 'लिच्छवि दौहित्र' कहकर गौरवान्वित करता है।

समुद्रगुप्त के पश्चात् चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही प्रथम बार वैशाली में 'कुमारामात्य' पद की व्यवस्था कर लिच्छवियों की गणतांत्रिक व्यवस्था पर अंकुश लगाया। मेरा मानना है कि संभवतः इसी काल में लिच्छवियों के दल के दल वैशाली से पलायन कर नेपाल गये जहाँ पहले से लिच्छविवंश के लोगों का पहले से शासन था। लिच्छवियों की इस पलायन नीति से भविष्य में लिच्छवियों की संख्या वैशाली में न्यून होती चली गई।

छठे अध्याय में इस पर विचार किया गया है कि समुद्रगुप्त के समय नेपाल में कौन-सा लिच्छवि था जिसने 'सर्वकरदानादि' देकर करद राजा होना स्वीकार किया था। इसके लिए मैंने नेपाल के लिच्छवि राजाओं के इतिहास की छानबीन की है। नेपाल के इतिहासकार दिल्ली रमण रेग्मी का मानना है कि समुद्रगुप्त के काल में नेपाल न केवल स्वतंत्र था, और बना रहा, बल्कि नेपाल नरेश कम से कम साकेत से लेकर पुण्डवर्द्धन तक विस्तृत प्रदेश (वैशाली सहित) पर शासन कर रहे थे। उनके अनुसार नेपाल पर गुप्तों का अधिकार चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में हुआ था। उनका यह भी तर्क है कि चन्द्रगुप्त प्रथम की महादेवी नेपाल के लिच्छवि परिवार में उत्पन्न हुई थी। हितनारायण

झा के अनुसार नेपाल का लिच्छवि राजा सुपुष्प समुद्रगुप्त द्वारा प्रताड़ित करद राजा था। लेकिन काशीप्रसाद जायसवाल तथा वासुदेव उपाध्याय ने नेपाल नरेश जयदेव प्रथम को समुद्रगुप्त का समकालीन लिच्छवि राजा माना है। मैंने इन सभी विद्वानों के मतों की समीक्षा की और किसी का भी मत समीचीन नहीं पाया। नेपाल के लिच्छवि राजाओं की शासन तिथियों की गहन समीक्षा के उपरांत मैंने निष्कर्ष में पाया कि समुद्रगुप्त का समकालीन नेपाल का लिच्छवि राजा नेपाली वंशावलियों में उल्लिखित शिववर्मन था। संभवतः शिववर्मन ने समुद्रगुप्त को 'सर्वकरदानादि' देना स्वीकार करके समुद्रगुप्त से मित्रता स्थापित की थी। नेपाल में 'करद राजा' के रूप में शासन करने की स्थिति संभवतः स्कन्दगुप्त की मृत्यु (467 ई.) तक बनी रही है। स्कन्दगुप्त की मृत्यु होने के पश्चात् गुप्त साम्राज्य पतनोन्मुख हो गया तो इस स्थिति का लाभ उठाकर नेपाल के लिच्छवि राजा मानदेव प्रथम ने अपने को 467 ई. में स्वतंत्र घोषित कर लिया। और फिर उसने अपने राज्य का विस्तार (चांगुनारायण मंदिर अभिलेख के अनुसार) किया। नेपाल का यही प्रथम लिच्छवि राजा था जिसने भारत के गुप्त राजाओं को 'राजकर' देना बंद कर दिया। मानदेव के स्वतंत्र होने का प्रमाण उसके द्वारा नेपाल में बहुसंख्या में अभिलेख उत्कीर्ण कराना तथा स्वतंत्र 'मानांक' विरुद्ध वाले सिक्के ढलवाना है। मानदेव ने 'मल्लपुरी' (गोरखपुर का क्षेत्र) पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन कर लिया।

नेपाल में लिच्छवियों का शासन 781 ई. तक रहा है। छठे अध्याय में ही नेपाल के लिच्छवियों तथा भारत के गुप्त सम्राटों के संबंधों में नेपाल में लिच्छवियों के शासन का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है। नेपाल में लिच्छवि राजाओं का अंतिम ज्ञात शासनातिथि 782 ई. है।

सातवें अध्याय में लिच्छवि गणराज्य के पतन के कारणों की विवेचना की गई है।

लिच्छवियों ने न केवल प्राचीन भारत की राजनीति को ही प्रभावित किया, वरन् छठी शताब्दी ई.पू. में समाज में हो रहे सांस्कृतिक परिवर्तन में भी महत्पूर्ण योगदान किया था।

आठवें अध्याय में लिच्छवियों की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डाला गया है। लिच्छवियों की सुसज्जित वेशभूषा, विवाह के नियम, नगर व भवन योजना, आर्थिक सम्पन्नता की विवेचना के साथ-साथ लिच्छवि समाज में शूद्रों तथा दासों की स्थिति, नारी की स्थिति, शिक्षा, खानपान तथा सामाजिक जीवन की विस्तृत विवेचना की गई है।

नवें अध्याय में धार्मिक दशा की विवेचना की गई है। लिच्छवि प्रगतिशील विचारों के थे। उन्होंने सामाजिक बुराइयों को दूर करने वाले नये विचारों को सबसे आगे बढ़कर अपनाया। लिच्छवि भगवान बुद्ध से प्रभावित होकर बौद्ध धर्म में विश्वास करने लगे थे। वैशाली में यद्यपि ब्राह्मण आजीवक, जैन मतों के प्रचारक भी कम नहीं थे, किन्तु लिच्छवियों की श्रद्धा बौद्ध धर्म में ही अधिक थी, इस कारण वैशाली के लिच्छवियों का बौद्ध धर्म तथा भगवान बुद्ध से गहरा संबंध था। वैशाली में भगवान



बुद्ध जब भी वर्षावास करते, लिच्छवि कुमारों का झुण्ड उनके प्रवचनों के सुनने के लिए उत्सुक रहता था। भगवान बुद्ध ने वैशाली में रहते हुए अनेक प्रसिद्ध प्रवचन दिये थे जिनका उल्लेख बौद्ध ग्रंथों में मिलता है। वैशाली की राजनरती अम्बपाली बुद्ध से प्रभावित होकर अपना विशाल आम्रवन दान में देकर बौद्ध हो गयी थी। भगवान बुद्ध प्रायः इसी आम्रवन में अम्बपाली द्वारा बनाये कूटागार में ठहरते थे। बौद्ध संघ में नारी के प्रवेश का द्वार भी सर्वप्रथम वैशाली में ही खुला था। बौद्ध संघ में प्रवेश पाने वाली पहली महिला बुद्ध की सौतेली मां महाप्रजापति गौतमी थी। भगवान बुद्ध के समय में ही वैशाली बौद्ध मत का केन्द्र बन चुका था। यही नहीं भगवान बुद्ध के महानिर्वाण के लगभग सौ वर्ष बाद वैशाली में प्रथम बौद्ध संगीति का आयोजन हुआ जिसकी सम्पूर्ण व्यवस्था वैशाली निवासी अजित नामक भिक्षु ने की थी। इस संगीति की अध्यक्षता भी वैशाली निवासी 'सर्वकामी' नामक भिक्षु ने ही की थी। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में वैशाली के धर्म प्रचारकों तथा बौद्ध स्थलों के विषय में जानकारी भी दी है।

दसवें अध्याय में लिच्छवियों की शासन-व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है। वैशाली के लिच्छवि गणतांत्रिक व्यवस्था के पोषक थे। कहा जाता है कि भगवान बुद्ध ने बौद्ध संघों के दीर्घायु होने के लिए जो आवश्यक गुण गिनाये हैं, व उनको उन्होंने लिच्छवियों की शासन प्रणाली देखकर ही बौद्ध संघों के संचालन में अपनाया और उन गुणों के पालन करने पर जोर दिया जो लिच्छवियों में देखकर और अनुभव से जाना-समझा था। लिच्छवि गणराज्य में शासन के लिए एक केन्द्रीय समिति होती थी जिसने राज-संचालन संबंधी सभी मामले मतदान के जरिये प्रस्ताव पारित किये जाते थे। यहां तक कि सेनापति का चुनाव भी मतदान के जरिये ही किया जाता; जैसा कि उल्लेख मिलता है। इस केन्द्रीय समिति में मनोनीत अथवा निर्वाचित सदस्यों की संख्या 7707 थी। ये ही सदस्य मंत्रिमंडल के सदस्यों का चुनाव करते थे। मंत्रिमंडल के सदस्य की संख्या नौ थी। समिति के संचालन तथा प्रस्ताव पर वाद-विवाद के संबंध में नियम भी थे। स्थानीय शासन के लिए स्वायत्त संस्थाएं थीं जिनके अध्यक्ष का चुनाव होता था। लिच्छवियों की न्याय व्यवस्था भी उत्कृष्ट थी। न्याय व्यवस्था सात न्यायालयों में विभाजित थी। न्याय प्रणाली के अनुसार कोई अभियुक्त न्याय पाने के लिए क्रमशः सातों न्यायालयों में जा सकता था। किसी एक न्यायालय में उसका दोष सिद्ध होने पर स्वतः उसकी सुनवाई अगले न्यायालय में होती थी। केवल अंतिम न्यायालय में ही उस अभियुक्त को दोषी पाये जाने पर उसे दण्ड दिया जा सकता था। इस अंतिम न्यायालय का न्यायाध्यक्ष स्वयं गण-प्रमुख होता था।

लिच्छवियों की राजनीतिक तथा सैनिक दृढ़ता के पीछे की शक्ति उनकी आर्थिक सम्पन्नता थी। पुस्तक के ग्याहरवें अध्याय में लिच्छवि गणराज्य की आर्थिक स्थिति की विवेचना की गई है। वैशाली की आर्थिक सम्पन्नता का आधार उसकी भौगोलिक स्थिति थी। वैशाली क्षेत्र देश के प्रमुख व्यापारिक मार्ग पर स्थित होने के कारण इस क्षेत्र

में कृषि, उद्योग तथा व्यापार में आशातीत उन्नति हुई। वैशाली धनवान् व्यक्तियों से परिपूर्ण था। वैशाली के व्यापारियों के बड़े-बड़े सार्थवाह सिंधु, सौवीर तथा ताम्रलिपि व्यापार के लिए जाते थे जहां से उनका माल विदेशों में (रोम तक) निर्यात होता था।

बारहवें अध्याय में छठी शताब्दी ई.पू. प्राचीन भारत की भाषा तथा साहित्य विवेचित है। लिच्छवियों ने भारतीय वाङ्मय में कोई विशेष योगदान दिया था, इस विषय में स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती। लेकिन वैशाली में विभिन्न मतों के प्रचारकों के बार-बार आने तथा तर्क-वितर्क करने के उल्लेख से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन विभिन्न मतों के साहित्य की अनेक पद्धतियाँ स्वतंत्र रूप से वैशाली में विकसित हुई होंगी। किन्तु उनके साहित्य को सुरक्षित रखने के लिए जब लेखन कला विकसित हुई तब तक अनेक मतों का साहित्य लुप्त हो चुका था। उनके संबंध में छिटपुट उल्लेख बौद्ध तथा जैन ग्रंथों में मिलते हैं। ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन मत का साहित्य जो कुछ उपलब्ध है, वह इस समय के विद्वानों की उच्च कोटि की प्रतिभा एवं निष्ठा का द्योतक है।

वैशाली उत्खनन में प्राप्त कलात्मक मृदभाण्ड, मृण्मयी मूर्तियों के माध्यम से भारतीय कला के विकास में वैशाली के योगदान पर भी तेरहवें अध्याय में प्रकाश डाला गया है। वैशाली में अनेक भूमिक भवनों, कूटागार, स्तंभ, चैत्यों तथा स्तूपों के विवरण पुस्तकों में मिलते हैं, उसके आधार पर स्थापत्य कला पर प्रकाश डाला गया है। ये सब मिलकर वैशाली क्षेत्र में कला की विकास की कहानी स्वयं प्रस्तुत कर देते हैं।

सबसे अंत में हमने नेपाल के लिच्छवि राजवंश का राजनीतिक इतिहास प्रस्तुत किया है, इस विचार से कि पाठक वैशाली के लिच्छवि और नेपाल के लिच्छवियों के पारस्परिक संबंधों के विषय में एक जगह जानकारी पा सके। नेपाल के लिच्छवियों के इतिहास पर अन्य कई पुस्तकें शोधार्थियों के लिए पहले से बाजार में उपलब्ध हैं, इसलिए यहां हमने नेपाल के लिच्छवियों का इतिहास संक्षिप्त रूप में दिया है।

—डा. शैलेन्द्र श्रीवास्तव



## विषय सूची

---

मत सम्मत	5
प्रस्तावना	11
संकेत सूची	21
1. लिच्छवियों की उत्पत्ति	25
2. प्रारंभिक राजनीतिक इतिहास	50
3. बौद्धकालीन राजनीतिक इतिहास	62
4. हासोन्मुख लिच्छवि गणराज्य	78
5. गुप्त साम्राज्य के अभ्युदय के पूर्व	89
6. गुप्त काल में नेपालके लिच्छवि	101
7. लिच्छवि गणराज्य का पतन	119
8. सामाजिक इतिहास	123
9. धार्मिक दशा	158
10. प्रशासन	181
11. आर्थिक दशा	199
12. भाषा एवं वाङ्मय	214
13. कला	225
14. परिशिष्ट : नेपाल का लिच्छवि राजवंश	233
आधार ग्रंथ सूची	253
अनुक्रमणिका	261





## संकेत-सूची

अ. भ. ओ. रि. इ.	अन्लस आफ द भण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट
अर्ली. हि.	अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया (विसेंट आर्थर स्मिथ)
अमर.	अमर कोश
अंगु.	अंगुत्तर निकाय
अर्थ.	अर्थशास्त्र
अर्ली. सो. हिस्ट्री.	सम आस्पेक्ट आफ द अर्लीयेस्ट सोशल हिस्ट्री आफ इण्डिया
अथर्व.	अथर्ववेद
आजिविकाज	हिस्ट्री एण्ड डाविवक्स आफ द आजीविकस
आस. इ. ए. रि.	आक्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, एन्युअल रिपोर्ट
इ. ए.	इंडियन एण्टीक्वेरी
इ. न्यू. क्रो.	इंडियन न्यूमिस्मेटिक क्रोनिकल
इ. क.	इंडियन कल्चर, कलकत्ता
इको. लाइफ.	इकोनामिक्स लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एंशियेण्ट इंडिया
इ. हि. क्वा.	इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, कलकत्ता
एपि. इंडि.	एपीग्राफिका इंडिका
उ. हि. रि. ज.	उड़ीसा हिस्टारिकल रिसर्च जर्नल, भुवनेश्वर
ए. हिस्ट्री.	एडवांस्ड हिस्ट्री (मजूमदार, दत्त, रायचौधुरी, 1956)
ऋ.	ऋग्वेद
क्ला. एज.	द क्लाजिकल एज (सम्पा. रमेशचन्द्र मजूमदार)
का. इ. इ.	कार्पस इंस्क्रिप्शन इंडिकेरम, भाग 3, गुप्तवंश (फलीट)
का. ला.	कारपोरेट लाइफ इन एंशियेण्ट इंडिया (रमेशचन्द्र मजूमदार)
किरर्पाटिक	एन एकाउन्ट आफ दे किंगडम आफ नेपाल (किरर्पाटिक)
खुद्क. कमे.	खुद्कपाठ कमेंटरी (बुद्धबोध)
गरुड़.	गरुड़ पुराण

गुप्त. इ.

चुल्ल.

ज. अ. ओ. सो.

ज. इ. हि.

ज. उ. प्र. हि. सो.

ज. ए. सो.

ज. न्यू. सो. इ.

ज. बि. उ. रि. सो.

ज. बि. रि. सो.

ज. रा. ए. सो.

जा.

पार्जिटर.

डि. पा. प्रा. ने.

डायलाग्स

डे. हि. को.

तिरहुत.

दीघ कमे.

दीघ

दिव्या.

धम्म अट्ट.

नेपाल इति.

नोली.

न्यू. क्रा.

न्यू. स.

पाणिनि

पा. टे. सो.

प्रो. ए. सो. बं.

प्रो. इ. हि. का.

प्रो. ओ. का.

पो. हि.

गुप्त इंस्क्रीप्शन आफ द अर्ली गुप्त किंगडम दियर  
सक्सेसर (फ्लीट)

चुल्लवग्ग

जर्नल आफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी

जर्नल आफ इंडियन हिस्ट्री

जर्नल आफ यू.पी. हिस्टारिकल सोसाइटी

जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता

जर्नल आफ न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी, बंगाल, कलकत्ता

जर्नल आफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना

जर्नल आफ बिहार रिसर्च सोसाइटी, पटना

जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, लण्डन

जातक

पुराण टेक्स आफ द डायन्सटीज़ आफ द कलि एज़

डिक्शनरी आफ द पालि प्रापर नेम

डायलाग्स आफ द बुद्ध

डेवलपमेन्ट आफ हिन्दू कोनोग्राफी (जे.एन. वनर्जी)

हिस्ट्री आफ तिरहुत (सत्यनारायण सिंह)

दीघ कमेन्टरी, सुमंगल विलासिनी

दीघ निकाय

दिव्यावदान

धम्मपद अट्टकथा (धम्मपद कमेन्टरी)

नेपाल की ऐतिहासिक रूपरेखा (बी.सी. शर्मा)

नेपाल इन्स्क्रीप्शन्स इन गुप्त कैरेक्टर (नोली)

न्यूमिस्मेटिक क्रानिकल, लण्डन

न्यूमिस्मेटिक सप्लीमेन्ट, कलकत्ता

अष्टाध्यायी

पाली टेक्स सोसाइटी (जर्नल)

प्रोसीडिंग्स आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल

प्रोसीडिंग्स आफ इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस

प्रोसीडिंग्स आफ आल इंडिया ओरियंटल कांफ्रेंस

पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एशियेण्ट इंडिया (रायचौधुरी)



बि. म्यू. मु. से. ए. इ.	ब्रिटिश म्यूजियम, मुद्रा सूची, एंशियेण्ट इंडिया
बि. म्यू. मु. गु. वं.	ब्रिटिश म्यूजियम, मुद्रा सूची, गुप्त वंश
बि. बुद्ध	बिबल ओथेका बुद्धिका (सीरीज)
बि. इ. सी.	बिबल ओथेका इंडिया सीरीज
बि. धर्मा.	बाओग्राफी आफ धर्मास्वामिन (तिब्बती भिक्षु तीर्थयात्री)
बील.	बुद्धिष्ट रिकार्ड आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड (अनुदित)
बु. इंडिया	बुद्धिष्ट इंडिया (रिस डेविड)
बु. सी.	बुद्धिष्ट सीरीज (लण्डन)
बौधा.	बौधायन श्रोत्र सूत्र
भ. सूत्र	भगवती सूत्र
मज्झिम.	मज्झिम निकाय
मज्झिमस कमे.	मज्झिम कमेन्टरी
मभा.	महाभारत
मनु.	मनु स्मृति
मार्कण्डेय.	मार्कण्डेय पुराण
मिलिंद.	मिलिन्दपन्हो
याज्ञवल्क्य.	याज्ञवल्क्य स्मृति
रतिलाल	श्री बुद्धिष्ट इंडिया (रतिलाल मेहता)
रामा.	रामायण (बाल्मीकि)
रॉकहिल.	लाइफ आफ बुद्ध
राहुल.	बुद्धाचर्या (राहुल सांकृत्यायन)
रेग्मी.	एंशियेण्ट नेपाल (दिल्ली रमण रेग्मी)
लेवी.	ली नेपाल (लेवी)
वायु.	वायु पुराण
राइट.	हिस्ट्री आफ नेपाल (पर्वतीय से अनुवाद, 1977)
विनय.	विनय पिटक
विष्णु.	विष्णु पुराण
वि. सं.	विक्रमी संवत्
वेद. इ.	वेदिक इन्डेक्स
वै. अभि. ग्र.	वैशाली अभिनंदन ग्रंथ
वैशाली	एन अर्ली हिस्ट्री आफ वैशाली (योगन्द्र मिश्र)

संयुक्त.

सै. बु. ई.

शतपथ.

क्षत्रिय क्लान्स्

तैत्तिरीय.

तैत्तिरीय सं.

संयुक्त निकाय (द बुक आफ द किंगड्मेड सेइंग, अनुवाद)

सैक्रेड बुक आफ द ईस्ट सीरीज (रिस डेविड द्वारा अनूदित)

शतपथ ब्राह्मण

क्षत्रिय क्लान्स् इन बुद्धिष्ट इंडिया (विमल चरण ला)

तैत्तिरीय ब्राह्मण

तैत्तिरीय संहिता



## लिच्छवियों की उत्पत्ति

छठी शताब्दी ईसवी पूर्व उत्तर बिहार में एक सुदृढ़ गणतान्त्रिक व्यवस्था का संचालन करने वाले तथा अपने युग की महत्तम शक्ति कहलाने का गौरव प्राप्त करने वाले लिच्छवियों की उत्पत्ति के विषय में इतिहासकारों में मतभेद है। यह आज भी जिज्ञासा का विषय बना हुआ है।

विभिन्न ग्रंथों तथा शिलालेखों में 'लिच्छवि' नाम के अनेक रूप लिच्छवि<sup>1</sup>, लेच्छव<sup>2</sup>, लेच्छइ<sup>3</sup>, लेच्छकी<sup>4</sup>, लिच्छिवि<sup>5</sup>, निच्छवि<sup>6</sup>, लिच्छिखि<sup>7</sup>, लिच्छवि<sup>8</sup> तथा लिच्छिवि<sup>9</sup> इत्यादि देखने को मिलते हैं। पालि ग्रंथों, नेपाल के लिच्छवि राजाओं के अभिलेखों, सिक्कों तथा विदेशी साहित्य में प्रायः 'लिच्छवि' शब्द का ही प्रयोग हुआ है। कौटिल्य अर्थशास्त्र (11-1) में 'लिच्छविक' तथा चन्द्रगुप्त प्रथम की मुद्राओं पर बहुवचन में 'लिच्छवयः' रूप पाया जाता है।

'लिच्छवि' शब्द की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों ने अलग-अलग मत प्रस्तुत किए हैं। काशी प्रसाद जायसवाल<sup>10</sup> के मत में लिच्छवि शब्द लिच्छु से बना है और इसका अर्थ होता है : लिच्छु (लिक्षु) का वंशज। लिक्ष का अर्थ का होता है लक्ष्यविशेष। लिक्षु और लिक्ष आपस में मिलते हैं। संभवतः यह पुकारा जाने वाला नाम किसी गोत्र विशेष के चिह्न का द्योतक है। सतीशचन्द्र सरकार<sup>11</sup> का मत है कि लिच्छ शब्द ऋक्ष से बना है। ऋक्ष शब्द का अर्थ भालू या कोई लोमघारी पशु भी होता है जैसे सिंह। सिंह शक्ति का द्योतक है। ऋक्ष से प्राकृत में 'लू' का 'लि' तथा 'क्ष' का 'च्छ' अर्थात् ऋक्ष का लिच्छ हो गया। संभवतः लिच्छवियों ने सिंह को अपनी पताका का चिह्न चुना हो, जिसे बाद में शिशुनागों और गुप्तों ने भी अपना लिया। बुद्धघोष<sup>12</sup> ने 'परमत्यजोतिका' में इस शब्द की तथा लिच्छवियों की उत्पत्ति का एक काल्पनिक वर्णन दिया है। कथा के अनुसार बनारस की रानी से मांस-पिंड उत्पन्न हुआ जिसे रानी ने काष्ठपिंजर में रखकर गंगा में बहा दिया। काष्ठपिंजर एक यति को मिला, मांस-पिंड की उसने सेवा की जिससे जुड़वां बच्चे (एक लड़की व एक लड़का) पैदा हुए। ऐसा कहा जाता है कि इन बच्चों के पेट में जो कुछ जाता था साफ दिखाई पड़ता था, जैसे इन दोनों का पेट पारदर्शी हो। अतः वे चर्म रहित (निच्छवि) मालूम

होते थे, कुछ लोग कहते थे, इनका चर्म इतना पतला है (लिनाच्छवि) कि पेट में जो कुछ पदार्थ जाता है, सिला हुआ जान पड़ता है। इस तरह ये बच्चे 'निच्छवि' या लिच्छवि पुकारे जाने लगे। हितनारायण झा<sup>13</sup> ने इस कथा में प्रयुक्त 'लिनाच्छवि' शब्द का व्युत्पत्ति विग्रह इस प्रकार दिया है—लीङः श्लेषणो—ली (न) च्छवि—लीचवि=लिच्छवि। उन्होंने 'पारदर्शी पेट' का अभिप्राय सौंदर्यबोध माना है। सतीश चन्द्र विद्याभूषण तथा कुछ अन्य पाश्चात्य विद्वानों ने इस शब्द की व्युत्पत्ति एक पारसी शब्द 'निसिविस' से मानी है। कहा जाता है कि यह शब्द संस्कृत में निच्छवि तथा कालांतर में पालि में लिच्छवि हो गया होगा।<sup>14</sup>

वास्तव में मनुस्मृति (10-22) में लिच्छवि शब्द को बंग टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने 'निच्छवि' पढ़ा था जो पंद्रहवीं शताब्दी में बंगाक्षर में 'न' और 'ल' का साम्य होने से 'लि' के बदले 'नि' पढ़ा गया। मनुस्मृति के प्रकांड विद्वानों ने 'लिच्छवि' को शुद्ध पाठ माना है।<sup>15</sup> अतः 'निच्छवि' शब्द की व्युत्पत्ति स्वतः ही अमान्य हो जाती है। सतीश चन्द्र सरकार का कहना कि लिच्छवि महाकाव्यों तथा पुराणों में वर्णित ऋक्ष हो सकते हैं, ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित नहीं हैं। अतः लिच्छवि शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में अभी तक कुछ स्पष्ट निर्णय नहीं लिया जा सकता है।

### लिच्छवियों की प्रजाति

लिच्छवियों की जाति क्या थी, इस विषय में पर्याप्त मतभेद हैं। कुछ पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने उन्हें विदेशी कहा है, यद्यपि उनमें भी मतैक्य नहीं है। इन्होंने इन्हें यूची, कोलार, तिब्बती तथा पारसी प्रजाति से संबंधित बताया है। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न रूप में प्रस्तुत किया जाता है :

(क) यूची : सैमुअल बील ने लिच्छवियों को यूची जाति से संबंधित बताया है।<sup>16</sup> किंतु इसलिए इसे नहीं स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि भारत में यूची जाति का प्रवेश प्रथम शताब्दी ई. पू.<sup>17</sup> में हुआ। जबकि लिच्छवियों को हम छठी शताब्दी ई.पू. (बुद्ध निर्वाण 483 ई. पू.) के पूर्व, एक बहुप्रसिद्ध सुसंगठित राजनीतिक शक्ति के रूप में स्थापित देखते हैं जिनकी सभ्यता उच्चकोटि की थी।<sup>18</sup>

(ख) कोलार : जे. एफ. हेविट<sup>19</sup> का मत है कि लिच्छवि आर्यों व द्रविड़ों के बहुत पहले कभी इस क्षेत्र में आकर बस गए थे जो कोलार प्रजाति से संबंधित थे।

लेकिन लिच्छवियों के पूर्व हम वैशाली में आर्य क्षत्रिय राजाओं का अस्तित्व पाते हैं।<sup>20</sup> अतः लिच्छवियों को आर्यों तथा द्रविड़ों के पूर्व वैशाली क्षेत्र में स्थापित करना समीचीन नहीं लगता है।

(ग) तिब्बती : बिसेंट आर्थर स्मिथ<sup>21</sup> तथा उनके अनुयायी<sup>22</sup> इतिहासकारों का मत है कि लिच्छवि मंगोल प्रजाति की एक शाखा थी, जो तिब्बत और हिमालयवासियों से संबंधित थी। उन्होंने लिच्छवियों तथा तिब्बतियों में मृत-संस्कार और न्याय व्यवस्था



में एकरूपता के आधार पर यह मत प्रस्तुत किया है।

इस मत के खंडन में विमलचरण ला<sup>23</sup> तथा काशीप्रसाद जायसवाल<sup>24</sup> तथा राय चौधरी<sup>25</sup> का कहना है कि :

1. वैदिक आर्य मृत-संस्कार इसी विधि से करते थे। इस परंपरा को लिच्छवियों ने जारी रखा। अथर्ववेद<sup>26</sup> कहता है, 'हे अग्निः! गड़े हुए को, फेंके हुए को, अग्नि से जले हुए को तथा जो डाले पड़े गए हैं, उन्हें यज्ञभाग खाने को लाओ।' गाड़ने की प्रथा तथा उच्च स्थान पर शवों को रखने की प्रथा का उल्लेख आपस्तंब श्रौतसूत्र (1-87) में भी मिलता है।<sup>27</sup>

2. वैशाली की प्राचीन न्यायपद्धति और आधुनिक लासा की न्यायपद्धति में एकरूपता होते हुए भी प्रयोग में थोड़ा अंतर दिखाई देता है। प्रथम, लिच्छवियों की न्याय व्यवस्था में सात न्यायालयों की व्यवस्था थी जबकि तिब्बत की न्याय व्यवस्था में तीन न्यायालयों की व्यवस्था हम पाते हैं। द्वितीय, तिब्बती न्याय व्यवस्था में अभियुक्त के अपराध की जांच के दौरान अपराध स्वीकार कराने के लिए आठ विभिन्न स्तरों से गुजरना होता था जिसमें यातनाएं दी जाती थीं। केवल अंतिम स्तर पर अभियुक्त को निरपराध सिद्ध होने पर मुक्त किया जाता था। जबकि वैशाली की न्यायपद्धति में अभियुक्त किसी भी स्तर पर निरपराध सिद्ध हो जाने पर मुक्त कर दिया जाता था, उसे अंतिम स्तर तक सुनवाई के लिए प्रस्तुत नहीं होना पड़ता था।

इस तरह तिब्बतियों तथा लिच्छवियों की न्यायपद्धति तथा मृत-संस्कार में जो थोड़ी बहुत समता देखते हैं उसका कारण यह हो सकता है कि लिच्छवि उन घुमंतू कबीलों में से रहा हो जो हिमालय की तराई में बहुत पहले आकर बस गया हो जिससे अन्य घुमंतू आर्य कबीलों के रीति-रिवाज इन्होंने ग्रहण कर लिए हों। इस क्षेत्र का तिब्बत सीमांत प्रांत होने के कारण तिब्बतियों ने मध्य काल में बौद्ध धर्म ग्रहण करने के साथ लिच्छवियों के रीति-रिवाज भी ग्रहण कर लिए हों। अपितु प्राचीन बौद्ध काल में तिब्बती सभ्यता का ज्ञान हमें कम ही है। अतः इस समता के आधार पर लिच्छवियों को तिब्बतियों से संबंधित नहीं सिद्ध किया जा सकता है।<sup>28</sup>

(घ) पारसी : सतीशचन्द्र विद्याभूषण<sup>29</sup> ने पारसीक साम्राज्य के निसिवि और बंग टीकाकार कुल्लूक भट्ट द्वारा पठित (मनु. 10-12) 'निच्छवि' शब्द में साम्य देखकर यह निष्कर्ष निकाला कि लिच्छवि पारसियों से संबंधित थे। उनके अनुसार संस्कृत का 'निच्छवि' वास्तव में पारसी शब्द 'निसिवि' का भारतीय रूपांतर है जो पालि में 'लिच्छवि' बन गया। यह पारसी समूह पांचवी-छठी शताब्दी ई. पू. कभी भारत आकर बसा होगा।

इस मत के खंडन में हम यह कह सकते हैं कि विद्याभूषण महोदय का यह तर्क मनुस्मृति (10-12) के 'निच्छवि' शब्द पर आधारित है जो विमलचरण ला<sup>30</sup> के अनुसार कुल्लूक भट्ट ने अशुद्ध पढ़ा है। वास्तव में मनुस्मृति में यह शब्द 'लिच्छवि' ही है जिसे

मनुस्मृति के अन्य अधिकारी विद्वान् जैसे जोली<sup>31</sup>, ब्यूलर<sup>32</sup> ने भी स्वीकार किया है। और फिर, हम किसी भी ईरानी साक्ष्य से यह नहीं जानते हैं कि ईसा के पांचवीं या छठी शताब्दी पूर्व कोई पारसी समूह भारत आकर बसा हो।<sup>33</sup> इसके अतिरिक्त लिच्छवियों को, ईरानी देवी-देवताओं की पूजा करने की अपेक्षा यक्ष की पूजा, भगवान महावीर तथा भगवान बुद्ध की शिक्षाओं में रुचि लेते पाते हैं।<sup>34</sup>

इस प्रकार लिच्छवियों को विदेशी कहना उचित नहीं है। इस संबंध में यह ऐतिहासिक तथ्य और भी ध्यान देने योग्य है कि लिच्छवि विदेशी होते तो साम्राज्यवादी अजातशत्रु के विरुद्ध युद्ध में लिच्छवि राजा चेटक के आह्वान पर नौ मल्ल, नौ लिच्छवि तथा काशी-कोसल के अठारह गणराज्य कभी एक पताका के नीचे संगठित<sup>35</sup> न होते। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि लिच्छवि कम से कम विदेशी नहीं थे। किसी भी प्राचीन ग्रंथ में इनके विदेशी होने का संकेत या उल्लेख नहीं है। पहली बार मनुस्मृति (10-12) में उल्लेख होने के कारण यह अनुमान लगाया जा सकता है कि लिच्छवि बौद्ध काल के बहुत पूर्व कभी यहां आकर स्थायी रूप से बसे होंगे।

## अनार्य उत्पत्ति

श्यामाचरण चक्रवर्ती तथा श्रीराम गोयल आदि ने लिच्छवियों को किन्नर, किरात, खशों तथा यक्षों के सदृश्य किसी आर्येतर जाति का माना है।<sup>36</sup> अपने मत के समर्थन में उन्होंने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए हैं :

1. लिच्छवि शब्द शुद्ध संस्कृत शब्द नहीं है। यह शब्द पाणिनि के सूत्रों में नहीं मिलता जबकि पाणिनि ने अन्य बहुत सी क्षत्रिय जातियों का उल्लेख किया है।<sup>37</sup> पुराणों में भी लिच्छवियों के पड़ोसी विदेह को शतपथ ब्राह्मण<sup>38</sup> में आर्य कहा गया है और विदेह राजा को 'अग्निवैश्वानर' कुल को आगे बढ़ाने वाला कहा है। इस तरह लिच्छवि बराबर ब्राह्मण साहित्य में उपेक्षित रहे। सर्वप्रथम इनका उल्लेख मनुस्मृति (10-12) में हुआ है, वह भी अनार्य प्रजातियों के साथ।

2. भगवान बुद्ध के जीवन काल में तथा उनके पूर्व वैशाली के लिच्छवि चैत्य की पूजा करते थे, और यह स्पष्ट है कि चैत्यपूजा यक्ष जाति के लोग करते थे, आर्य लोग नहीं।<sup>39</sup> महावस्तु के<sup>40</sup> अनुसार भगवान बुद्ध ने वज्जिसंघ की राजधानी को हिमालय प्रदेश के यक्षों के दुष्प्रभाव से बचाया था। महाभारत<sup>41</sup> में भीम ने उन यक्षों से युद्ध किया जो कुबेर के परिचारक थे और एक कमल सरोवर की रखवाली कर रहे थे। महापरिनिब्बान सुत्त में भगवान बुद्ध वैशाली में बहुत सारे चैत्य देखते हैं।<sup>42</sup> आचारांगसूत्र (जैकोबी द्वारा संपादित) से पता चलता है कि महावीर के माता-पिता पार्श्व को पूजते थे और श्रमणों के अनुयायी थे। संभव है, महावीर ने अपनी इसी धार्मिक आस्था को आगे बढ़ाया हो।



3. लिच्छवियों में कुछ ऐसी परंपराएं हम देखते हैं जो वैदिक परंपराओं से सर्वथा भिन्न थीं, लेकिन तराई प्रदेश की अन्य जातियों की परंपराओं के सदृश थीं। उदाहरणार्थ, कोलिय जाति के सदृश लिच्छवियों में भी भाई-बहन में विवाह की प्रथा प्रचलित थी। इस संदर्भ में हम 'खुदक पाठ' पर बुद्धघोष की 'परमत्यजोतिका' नामक टीका में वर्णित कथा को देख सकते हैं।<sup>43</sup>

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर श्यामाचरण चक्रवर्ती तथा श्रीराम गोयल ने निष्कर्ष निकाला है कि लिच्छवि हिमालय क्षेत्र में रहने वाली अन्य प्रजातियों यक्ष, किन्नर, गंधर्व, किरात की तरह किसी आर्येतर जाति की शाखा थी जो बहुत पहले कभी यहां आकर स्थायी रूप से बस गई। वस्तुतः वे जन्म से अनार्य ही थे, जिनके पास अपना धर्म और रीति-रिवाज था। बाद में क्षत्रिय कर्म करने के कारण क्षत्रिय कहलाए। इस तरह लिच्छवि वास्तविक रूप में शुद्ध क्षत्रिय नहीं, बल्कि स्व-आरोपित क्षत्रिय थे।<sup>44</sup> मनुस्मृति में संभवतः इसीलिए उन्हें ब्राह्म्य<sup>45</sup> सूची में रखा गया है। वस्तुतः उत्तर मौर्य काल में जब भारतीय समाज का वर्णाश्रम धर्म के आधार पर पुनर्गठन हुआ तो उस समय क्षत्रियोचित कार्यों को करने वाली बहुत-सी प्रजाति को 'क्षत्रिय वर्ण' में स्वीकार कर लिया गया। उदाहरणार्थ शक, कुषाण आदि को भी स्मृतियों में क्षत्रिय नाम दिया गया है।<sup>44</sup> असंभव नहीं कि इसी क्रम में लिच्छवियों को भी क्षत्रिय माना गया हो।

अनार्य सिद्ध करने वाले विद्वानों द्वारा उपर्युक्त तर्क बहुत सबल नहीं है :

1. पाणिनि के अष्टाध्यायी में 'लिच्छवि' शब्द का उल्लेख न होने के कारण यह हो सकता है कि लिच्छवि की अपेक्षा वृजि (वज्जि प्राकृत में) अधिक सम्मानजनक नाम था, और वज्जि के अंतर्गत ही लिच्छवि आते हैं।<sup>47</sup> पुराणों में उल्लेख न होने के कारण संभवतः पुराणों की रचना का परवर्ती होना है।

2. चैत्यों की पूजा यक्ष जाति के लोग ही नहीं करते थे। आदि काल से चैत्यों व वृक्षों की पूजा का उल्लेख वैदिक साहित्य में भी मिलता है।<sup>48</sup>

3. भाई-बहन में विवाह की प्रथा आदि काल में आर्यों में भी प्रचलित थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण (3-10 : 9-4) में कथा है, सीता-सावित्री प्रजापति की पुत्री थी। वह अपने भाई सोम का प्रणय चाहती थी, पर सोम उसको नहीं चाहता था, वह अपनी बहन श्रद्धा से प्रेम करता था, सीता-सावित्री ने अपने पिता से इस विषय में राय ली। उसके पिता ने उसे एक मंत्र दिया जिससे उसने सोम को जीत लिया। इसी तरह महाभारत (आदि पर्व) और हरिवंश पुराण में ब्रह्मा के कुटुम्ब की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, इसमें वर्णित है कि ब्रह्मा के बाएं पांव के अंगूठे से उत्पन्न दक्ष ने उनके दाएं पांव के अंगूठे से उत्पन्न दक्ष के साथ विवाह किया, जिसका अर्थ यह हुआ कि दक्ष ने अपनी बहन के साथ विवाह किया। उस काल में प्रचलित सगोत्र विवाह के कारण ही इस तरह के संबंधों को उचित समझा गया। बाद में ऐसे सगोत्र विवाह पर रोक लगाई गई जिसने

उस सामाजिक संगठन को जन्म दिया जिसमें गण गोत्र में नर-नारियों में परस्पर विवाह अब नहीं हो सकता था, पर जहां पर विवाह एक ही कुल के सदस्यों के बीच हो जाया करता था (महा. आदि पर्व, 128-26) उस पर रोक लगा दी गई, इस प्रकार सगोत्र विवाह का अन्त हो गया। 'परमत्यजोतिका' की कथा एक उत्पत्ति कथा है। इस तरह की उत्पत्ति कथाओं में प्रायः परिकल्पनाएं अधिक होती हैं। अतः इसे गंभीरता से नहीं लिया जाना चाहिए।

4. ब्रात्य क्षत्रिय तथा मनुस्मृति (10-12) में उल्लिखित 'ब्रात्य' का अभिप्राय कुछ विद्वानों<sup>49</sup> ने विदेशी अथवा अनार्य माना है। लेकिन यह उनकी भ्रांतिपूर्ण व्याख्या पर आधारित है। वास्तव में, 'ब्रात्य' आर्य क्षत्रिय के लिए भी प्रयोग होता था।<sup>50</sup> मनुस्मृति<sup>51</sup> में भारत के लोगों को दो प्रमुख गुटों में विभाजित किया है—द्विज और ब्रात्य। जो सावित्री सिद्धांत पर चलते थे, उन्हें 'द्विज' की श्रेणी में रखा गया तथा जो उससे पतित हो जाते थे उन्हें 'ब्रात्य' की श्रेणी में रखा गया। मनु के अनुसार ब्रात्य वे हैं जो समान वर्ण से द्विजाति की संतान हों किंतु जो स्वधर्म विमुख होने के कारण सावित्री पतित हो जाते थे। विदेशी और अनार्य सावित्री सिद्धांत के लिए अनुपयुक्त थे अतः 'वृषल' कहे जाते थे।<sup>52</sup> 'खश' और 'द्रविण' ब्रात्य और वृषल दो वर्गों में गिन लिए जाते थे।<sup>53</sup> लिच्छवियों को मनुस्मृति में वृषल की सूची में न रखने से स्पष्ट है कि वे विदेशी या अनार्य नहीं थे।<sup>54</sup>

लिच्छवि लोग, अब्राह्मण संप्रदाय, जैन और बौद्धों के प्रमुख नेता थे। मनु के बताए मार्ग पर नहीं चलते थे। संभवतः ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने इसी चिढ़ से उत्तर मौर्य काल में जब ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान हुआ और भारतीय समाज का वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार पुनर्गठन किया गया तो मनुस्मृति (10-22) में आर्येतर जातियों खशों और द्रविड़ों के साथ लिच्छवियों की गणना कर 'ब्रात्य' की सूची में रख दिया।<sup>55</sup>

## आर्य उत्पत्ति

विमलचरण ला, काशीप्रसाद जायसवाल, योगेन्द्र मिश्र तथा अन्य भारतीय विद्वानों ने लिच्छवियों को आर्य क्षत्रिय माना है।<sup>56</sup> अपने तर्क को सिद्ध करने के लिए इन विद्वानों ने बहुत से ऐतिहासिक तथ्यों तथा साहित्यिक प्रमाणों को प्रस्तुत किया है :

1. 'महापरिनिब्बान सुत्त' में लिच्छवियों ने भगवान बुद्ध का अस्थि-अवशेष मांगते हुए कहा कि भगवान बुद्ध क्षत्रिय थे और वे भी क्षत्रिय हैं, इसलिए उन्हें भी अस्थि-अवशेष का एक भाग मिलना चाहिए।<sup>57</sup> सिंगल जातक<sup>58</sup> में एक लिच्छवि लड़की को क्षत्रिय-पुत्री कहकर पुकारते हैं। सुमंगलविलासिनी<sup>59</sup> में महाली नामक लिच्छवि कहता है, "मैं खत्रिय हूं जैसे बुद्ध हैं। अगर उनमें ज्ञान-वृद्धि हो सकती है और



लोकप्रिय हो सकते हैं तो मेरे साथ क्यों नहीं होना चाहिए।" जैनकल्प सूत्र में लिच्छवि राजा चेटक की बहन त्रिशला (महावीर स्वामी वर्धमान की माँ) को क्षत्राणी कहा गया है।<sup>60</sup>

2. लिच्छवि बहुत प्रतिष्ठित जीवन व्यतीत करते थे जो विदेशी या अनार्य साधारणतया नहीं कर सकते। भगवान बुद्ध<sup>61</sup> ने इनकी तुलना 'तावतिसः देवता'<sup>62</sup> (तीस देवता) से की है। भगवान बुद्ध ने लिच्छवियों को संबोधित करते हुए इनको कई जगह 'वसिष्ठ कुल के महानुभावो'<sup>63</sup> कहा है, इससे पता लगता है कि लिच्छवि वसिष्ठ गोत्र के क्षत्रिय थे। हम जानते हैं वसिष्ठ सूर्यवंशी राजाओं के पुरोहित थे।<sup>64</sup>

3. 'परमत्यजोतिका'<sup>65</sup> की कथा से ज्ञात होता है कि लिच्छवियों की उत्पत्ति वाराणसी के एक क्षत्रिय राजा की रानी के गर्भ से उत्पन्न जुड़वा पुत्र और पुत्री से हुई थी। इससे यह बात तय हो जाती है कि लिच्छवि क्षत्रिय थे।

4. नेपाली वंशावलियों<sup>66</sup> तथा नेपाल के लिच्छवि राजाओं के अभिलेखों<sup>67</sup> में लिच्छवियों का संबंध इक्ष्वाकु वंश से जोड़ा गया है।

5. ह्वेनत्सांग भी अपनी भारत यात्रा के विवरण में नेपाल के लिच्छवियों को क्षत्रिय कहता है।<sup>68</sup>

6. नेपाल के लिच्छवि राजाओं को हम प्रायः ब्राह्मण देवी-देवताओं जैसे विष्णु, ब्रह्मा, सूर्य, कार्तिकेय, वासुकी, लक्ष्मी और विजयश्री की पूजा करते पाते हैं।<sup>69</sup> ह्वेनत्सांग वैशाली में कई देव मंदिर भी देखता है।<sup>70</sup> नेपाल के लिच्छवि राजाओं को 'भागवत पशुपति भट्टारक पादानुगृहीत'<sup>71</sup> जैसी उपाधि धारण करते हुए गर्व अनुभव करते हम देखते हैं। ये लिच्छवि राजा वैदिक यज्ञों का आयोजन भी करते हैं। अभिलेखों में यज्ञ भवन<sup>72</sup>, याज्ञिनिका<sup>73</sup> और वेद<sup>74</sup> तथा स्मृति<sup>75</sup> पढ़ने का भी उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त साहित्यिक एवं अभिलेखीय प्रमाणों, ह्वेनत्सांग के विवरणों, संस्कृत भाषा के प्रति लगाव, देवी-देवताओं की पूजा में आस्था, लिच्छवियों का क्षत्रिय विशेषकर सूर्यवंशी क्षत्रिय के रूप में उल्लेख होना इस बात का परिचायक है कि लिच्छवि, विदेशी या अनार्य नहीं, बल्कि आर्य क्षत्रिय थे। लिच्छवियों को आर्य क्षत्रिय सिद्ध करने के लिए एक बहुत बड़ा प्रमाण यह भी है कि 'लिच्छवि राजा' बिना अभिषेक किए हुए राजा नहीं थे। 'अ-भिषिक्त' शब्द का प्रयोग हिंदू लेखकों ने उन राजाओं के लिए किया है जो विदेशी जातियों के थे और यहां आकर बस गए थे। अंगुत्तर निकाय में हम लिच्छवि राजाओं को अन्य क्षत्रिय राजाओं की तरह विधिपूर्वक अभिषेक करते हुए देखते हैं।<sup>76</sup> इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि बहुत से क्षत्रिय राजा लिच्छवि कुमारियों से विवाह करने के लिए इच्छुक रहते थे और इनसे संबंध स्थापित हो जाने पर गर्व अनुभव करते थे। जैन ग्रंथ निरायावली सूत्र (जैकेबी, ई. सी. 22, पृ. 13, और टिप्पणी) के अनुसार मगधराज बिम्बिसार का एक विवाह लिच्छवि राजा चेटक की पुत्री चेल्लना से हुआ था :

इसी तरह चीरवस्तु (इ. हि. क्वा. 1947, भाग 23-1, पृ. 58-61) के अनुसार बिम्बिसार की प्रमुख रानी की मृत्यु हो जाने पर बिम्बिसार की इच्छानुसार उसके प्रधानमंत्री गोप ने लिच्छवियों के सेनापति सिंह की छोटी पुत्री से विवाह करने का प्रस्ताव सिंह के पास भेजा। लेकिन सिंह ने यह कहकर प्रस्ताव ठुकरा दिया कि लिच्छवियों के नियमानुसार वैशाली में जन्मी किसी कन्या का विवाह बाहर के व्यक्ति से नहीं हो सकता है। इस प्रकार यह घटना दर्शाती है कि लिच्छवि अपने रक्त की शुद्धता का ध्यान रखते थे। संभवतः इसीलिए उन्होंने यह नियम पारित कर रखा था। लिच्छवि लोग इस नियम का उल्लंघन बहुत कम, कभी-कभी अपनी सुरक्षा हेतु शक्तिशाली राजाओं से मित्रता कायम करने के लिए करते थे। इस तरह के वैवाहिक संबंध का उदाहरण हम वैशाली के लिच्छवि राजा चेटक की एक पुत्री सुगावती (श्रवण भगवान महावीर, भाग 2, पार्ट 2, पृ. 231-246) का विवाह वत्स, (जिसकी राजधानी कोशाम्बी थी), के राजा शतानीक से हुआ था, चन्द्रगुप्त प्रथम से इसी तरह का संबंध लिच्छवि कुमारी कुमारदेवी से हुआ था। जिससे गुप्तों का इतना विशाल साम्राज्य स्थापित हो सका। समुद्रगुप्त प्रयाग प्रशस्ति में अपने नाम के साथ 'लिच्छवि दौहित्र' का उल्लेख कर गर्व का अनुभव करता है।

वास्तव में, उस काल के सामाजिक परिवर्तनों में लिच्छवि अपने रक्त की शुद्धता का ध्यान रखते हुए भी प्रगतिशील विचारधारा के अग्रणी अनुयायी रहे हैं। ब्राह्मण धर्म की रूढ़ियों को उन्होंने अस्वीकार किया और नवोदित बौद्ध धर्म की अच्छाइयों को ग्रहण किया।<sup>77</sup> उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा, आर्थिक सम्पन्नता, गणतांत्रिक व्यवस्था<sup>78</sup> का कुशल संचालन उन तमाम अवरोधों को पार कर जाता था जो रूढ़िवादी ब्राह्मण व्यवस्थाकार समय-समय पर पैदा किया करते थे। जब तक लिच्छवियों की राजनीतिक प्रभुसत्ता दृढ़ रही, वे व्यवस्थाकार कोई आक्षेप नहीं कर सके। लेकिन जैसे ही उत्तर मौर्य काल में बौद्ध-जैन अनुयायी राजाओं का पतन हुआ और ब्राह्मण राजाओं के हाथ में सत्ता आई, उन ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने बौद्ध-जैन धर्म को मानने वाली तमाम देशी-विदेशी जातियों-प्रजातियों को (मनुस्मृति, 10-12) 'व्रात्य' के अंतर्गत रखकर अन्य आर्येतर जातियों के साथ उनकी गणना कर दी। वस्तुतः 'व्रात्य' का अर्थ विदेशी या अनार्य होना नहीं है।

अब हम थोड़ा 'लिच्छवि और 'वज्जि' या वृजियों के साथ अर्थ देने वाले शब्दों या वर्गों पर विचार कर लें जिसका संबंध वैशाली से रहा है। कुछ स्थलों पर हम देखते हैं कि ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। बुद्ध काल में वासभ नामक एक व्यक्ति का पुनर्जन्म वैशाली के लिच्छवि राजा के यहां हुआ।<sup>79</sup> वज्जि-पुत्र 'वज्जि के राज प्रमुख के यहां पैदा हुआ था और उनका नाम वज्जि-पुत्र था।<sup>80</sup> वज्जि-पुत्र ने वैशाली के लिच्छवि राजा के पुत्र के रूप में बुद्ध काल में पुनः जन्म लिया और वह वज्जियों के पुत्र के रूप में जाना गया क्योंकि उसका पिता वज्जियों में से एक था।<sup>81</sup> इस प्रकार



के उदाहरण से विद्वानों ने मत प्रकट किया कि ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं।<sup>82</sup> लेकिन उक्त उद्धरणों से हम यह स्पष्ट कह सकते हैं कि लिच्छवि और वज्जि दो अलग-अलग इकाई हैं जिन्होंने अन्य गणराज्यों को मिलाकर अजातशत्रु के विरुद्ध एक संघ बनाया जिसका नाम 'वज्जि संघ' रखा और लिच्छवि-बहुल 'वैशाली' को राजधानी बनाया। इस तरह वैशाली लिच्छवियों तथा वज्जि संघ दोनों की राजधानी बनी। 'वज्जि' संघ के रूप में भी जाना जाता रहा और साथ ही अलग इकाई के रूप में भी अस्तित्व में बना रहा। संभवतः सभी लिच्छवि अपने को वज्जि नहीं कह सकते थे। वज्जि संभवतः लिच्छवियों से ज्यादा सम्मानजनक माना जाता था,<sup>83</sup> जैसा कि एक स्थल<sup>84</sup> पर हम देखते हैं कि कुछ युवा लिच्छवियों को भगवान बुद्ध के चारों ओर खड़े देखकर लिच्छवि महानाम कहता है, 'भविस्सन्ति वज्जि, भविस्सन्ति वज्जि' अर्थात् ये (लिच्छवि) वज्जि हो गए, ये वज्जि हो गये। हो सकता है कि महानाम यहां यह आशा व्यक्त कर रहा हो कि ये युवा लिच्छवि भगवान बुद्ध से उपदेश ग्रहण तथा अनुसरण करके सच्चे वज्जि बन जाएंगे। इस प्रकार यहां 'वज्जि' शब्द अधिक बड़ा तथा सम्मान बढ़ाने वाला प्रतीत होता है। अर्थात् 'वज्जि' का अभिप्राय 'श्रेष्ठ' से लिया जाता था जैसे आर्य का अर्थ 'श्रेष्ठ जन' से भी लिया जाता है। संभवतः यह शब्द मूलतः उस क्षेत्र के लोगों के लिए प्रयोग होता रहा हो जो इस तराई के क्षेत्र में बसते थे जिसे बौद्ध ग्रंथों में वज्जिरट्ठ (वृजि राष्ट्र या वज्जि देश) कहा गया है। आगे हम देखते हैं कि अजातशत्रु से पराजित होने पर<sup>85</sup> संघ विघटित हो गया और इसीलिए कौटिल्य अर्थशास्त्र<sup>86</sup> में लिच्छवि व वज्जि का उल्लेख अलग-अलग गणराज्य के रूप में हुआ है, जिनके सदस्य राजा की उपाधि से सुशोभित होते हैं। फाह्यान<sup>87</sup> ने केवल 'लिच्छवियों का देश' कहा तो ह्वेनत्सांग<sup>88</sup> ने 'वृजि' और वैशाली को अलग-अलग देश के रूप में उल्लेख किया है।

उपर्युक्त आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'वज्जि' समूचे गणतन्त्र का नाम भी था और संघ में सम्मिलित एक इकाई भी, जो किसी एक क्षेत्र में बसते थे। वैशाली से लिच्छवि व वज्जि दोनों संबंधित थे जैसे ज्ञातुक, उग्र, भोग, अक्षविक, कौरव आदि वैशाली से संबंध रखते थे।<sup>89</sup>

## लिच्छवियों का मूल स्थान

लिच्छवियों की जाति की भांति उनके आदि निवास-स्थान के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। कुछ पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने लिच्छवियों का आदि निवासस्थान भारत से बाहर चीन, तिब्बत व फारस माना है।

(क) खोतान : सैमुअल बील तथा ट्यूनर आदि विद्वानों ने लिच्छवियों का आदि निवास स्थान 'खोतान' माना है।<sup>90</sup> उन्होंने अपने इस तर्क का आधार फाह्यान के यात्रा-विवरण से दिया है। वे लिखते हैं :



जब फाह्यान का दल 'खोतान' पहुंचा तो वहाँ के राजा ने उनका स्वागत किया। इस 'खोतान' की पहचान तिब्बती लेखक तिब्बत के 'लिन्याल' से करते हैं और इसका संबंध वैशाली के लिच्छवि से जोड़ते हैं। चीनी भाषा में 'लि' का अर्थ शेर होता है। कोमा कोरासि कहते हैं कि तिब्बती लेखक अपने प्रथम राजा (लगभग 250 ई. पू. में) लिस्साविसिस या लिचाविस से होना कहते हैं।<sup>91</sup>

लेकिन हम जानते हैं कि भारत में यूची जाति का प्रवेश बहुत बाद में प्रथम ईसा पूर्व<sup>92</sup> में हुआ जबकि छठी शती ई. पू. में लिच्छवियों को एक बहुत प्रसिद्ध राजनीतिक शक्ति के रूप में वैशाली क्षेत्र में स्थापित पाते हैं। जहां तक 'खोतान' का प्रश्न है, संभवतः अजातशत्रु से पराजित होने पर लिच्छवि नेपाल और वहीं से उनकी एक शाखा बाद में खोतान पहुंच गई।<sup>93</sup> और हम जानते हैं कि अशोक ने बहुत सारे भिक्षुओं को नेपाल और उसके आगे धम्म प्रचार के लिए भेजा था।

(ख) ईरान : डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण<sup>94</sup> ने लिच्छवियों का आदि निवास फारस (ईरान) के 'निसिवि' नगर को बताया है और यहीं से छठी शती ई. पू. भारत में आकर लिच्छवियों के बसने का अनुमान लगाया है। उनका मत है कि मनुस्मृति में प्रयुक्त 'निच्छवि' शब्द वास्तव में 'निसिवि' का भारतीय रूप है जो पालि भाषा में जाकर 'लिच्छवि' बन गया।

लेकिन इस तर्क का आधार ही गलत है इसका शुद्ध पाठ विमलचरण ला<sup>95</sup> तथा मनुस्मृति में अन्य अधिकारी विद्वान जैसे जोली,<sup>96</sup> व्यूलर<sup>97</sup> आदि ने किया। दूसरे, ईरानी इतिहास में लिच्छवि जनों का कोई उल्लेख नहीं मिलता और लिच्छवि जाति में ईरानी संस्कृति के विशिष्ट तत्व अज्ञात हैं, उदाहरणार्थ लिच्छवियों की दिलचस्पी ईरानी धर्म में नहीं, भगवान बुद्ध और महावीर के उपदेशों में थी।<sup>98</sup> महापरिनिब्बानसुत्त<sup>99</sup> के अनुसार भी छठी शती ई. पू. लिच्छवि वैशाली क्षेत्र में एक बहुत सभ्य और सुसंगठित जाति के रूप में प्रतिष्ठित थी। विद्याभूषण के अनुसार ये छठी शती ई. पू. अस्तित्व में आते हैं। अतः लिच्छवियों का आदि निवासस्थान चीन, तिब्बत या ईरान में खोजना किसी प्रकार भी समीचीन नहीं लगता है।

## भारतीय उत्पत्ति

कुछ विद्वान लिच्छवियों का मूल निवास स्थान वैशाली से अलग भारत के किसी अन्य भाग को मानते हैं जिन्होंने बहुत पहले वैशाली में आकर अपना निवासस्थान बनाया।

(क) हिमालय क्षेत्र : श्यामाचरण चक्रवर्ती<sup>100</sup> तथा श्रीराम गोयल<sup>101</sup> ने लिच्छवियों का आदि निवास स्थान हिमालय क्षेत्र माना है और इस प्रकार आधार पर आर्येतर जातियों से इनका संबंध जोड़ा है। अपने तर्क में उन्होंने लिच्छवियों के धर्म और रीति-रिवाजों को प्रस्तुत किया है।

लेकिन इस तरह के तर्क अत्यंत ही दुर्बल हैं, जैसा कि पीछे इनकी मीमांसा करके स्पष्ट किया जा चुका है कि लिच्छवियों में प्रचलित सभी रीति-रिवाज वैदिक काल के आयों में भी प्रचलित थे।<sup>102</sup>

(ख) पंजाब : जे. पी. शर्मा<sup>103</sup> का मत है कि लिच्छवि इण्डो-आर्य परिवार की एक ऐसी शाखा के थे जो मूलतः किसी अन्य नाम से जानी जाती थी। उनके अनुसार यह ब्राह्मण काल में 'पंजाब अथवा किसी पश्चिमोत्तर प्रदेश' से हिमालय की तराई वाले मार्ग से आकर कोसल और शाक्य जनपद होते हुए वैशाली में आकर बस गई। और नेपाल की तराई में रहते समय यह लिच्छवि नाम से विख्यात हुई होगी।

लेकिन वह मान्यता कि पंजाब से आकर बिहार में बसने वाली कोई जाति पर्वतीय मार्ग से होकर आई थी, बड़ी विचित्र लगती है। पश्चिमोत्तर प्रदेश से आने वाली आक्रामक जातियों में से किसी ने कभी यह मार्ग शायद नहीं अपनाया। स्वयं शर्मा महोदय भी अपने इस मत में विशेष श्रद्धावान नहीं लगते क्योंकि एक जगह वह लिच्छवियों को 'मध्य देश'<sup>104</sup> के ब्राह्मणों (आर्यों) की एक शाखा बताते हैं।

(ग) वैशाली : अधिकांश विद्वानों<sup>105</sup> ने लिच्छवियों का आदि मूल स्थान वैशाली भूमि ही माना है। अपने तर्क के समर्थन में इस विद्वानों ने बहुत से ऐतिहासिक तथ्यों तथा साहित्यिक प्रमाणों को प्रस्तुत किया है जिनका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं।<sup>106</sup>

'खुदक पाठ' पर बुद्धघोष द्वारा लिखित 'परमत्यजोतिका' नामक टीका से ज्ञात होता है कि लिच्छवि परिवार में बराबर वृद्धि होने के कारण इस क्षेत्र का नाम वैशाली पड़ा।<sup>107</sup>

बाल्मीकि रामायण<sup>108</sup> में इक्ष्वाकु के पुत्र विशाला द्वारा वैशाली के बसाए जाने का उल्लेख है। पुराणों<sup>109</sup> में भी वैशाली की स्थापना की कहानी का उल्लेख है। सतीशचन्द्र सरकार<sup>110</sup> भी लिच्छवियों का संबंध इक्ष्वाकु वंश से जोड़ते हुए वैशाली को ही उनका मूल निवास स्थान मानते हैं।

इस प्रकार उक्त विश्लेषणों में किसी भी साक्ष्य द्वारा लिच्छवियों का बाहर से आना सिद्ध नहीं होता है। इसके विपरीत अन्य बहुत से साक्ष्य अप्रत्यक्ष रूप से लिच्छवियों का मूल निवास स्थान वैशाली की ओर संकेत करते हैं। अतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि लिच्छवियों का मूल स्थान उत्तर बिहार के इसी क्षेत्र में कहीं रहा होगा। वैशाली क्षेत्र में अच्छी तरह स्थापित हो जाने पर लिच्छवियों ने वैशाली को अपने राज्य की राजधानी बनाई।

## वैशाली नगर

ऐतिहासिक नगरी वैशाली का उल्लेख अति प्रसिद्ध प्राचीन महाकाव्य बाल्मीकि रामायण<sup>111</sup> तथा महाभारत<sup>112</sup> में मिलता है। बाल्मीकि रामायण में इसकी स्थापना के



उल्लेख हैं। यहां कहा गया है कि इक्ष्वाकु की रानी अलम्बुषा के पुत्र विशाल ने इसी स्थान पर एक नगरी की स्थापना की जिसका नाम विशाला पुरी रखा।<sup>113</sup> इसके अनंतर विशाल से लेकर रामचन्द्र के समकालीन राजा सुमति तक की वंशावली दी गई है। वाल्मीकि रामायण<sup>114</sup> में ही उल्लेख है कि राम और लक्ष्मण ने विश्वामित्र के साथ मिथिला जाते हुए गंगा पार करने के बाद एक रात यहां विश्राम किया था। राजा सुमति ने उसका विशेष आदर सत्कार किया था। पुराणों<sup>115</sup> में भी इसकी स्थापना की कहानी मिलती है। वैशाली के राजाओं की सूची वायु, विष्णु, गरुड़ तथा भागवत पुराण में दी गई है। सभी साक्ष्यों में सुमति को इक्ष्वाकु वंश का अंतिम राजा बताया गया है। लेकिन इन पुराणों व महाकाव्यों में इतिवृत्त के अतिरिक्त उनके वैभव व विस्तार की चर्चा कहीं नहीं है और न ही कहीं वैशाली का भौगोलिक चित्र ही उपलब्ध है। वाल्मीकि रामायण से केवल इतना ज्ञात होता है कि वैशाली गंगा के उत्तरी किनारे पर स्थित था।<sup>116</sup>

प्रत्यक्ष रूप से महाभारत में गणतंत्र के रूप में वैशाली का कहीं उल्लेख नहीं है। लेकिन महाभारत<sup>117</sup> के दो महत्वपूर्ण अध्यायों में कई प्रजापतियों की शक्ति और उनकी कमजोरियों का उल्लेख मिलता है। संभवतः सुमति के पश्चात् वैशाली क्षेत्र कई प्रजातियों में विभाजित हो गया और इस प्रकार इनके प्रमुखों का कोई विशेष स्थान इतिहास में नहीं रह गया जिसके कारण महाभारत के संकलनकर्त्ताओं ने ग्रंथ में इनके नाम का अलग से उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा। संभव है कि इसके गणतंत्र का रूप काफी प्रारंभिक अवस्था में रहा होगा जिनकी व्यवस्था में बहुत सारी कमियां रही होंगी जिस ओर महाभारत में भीष्म ने इंगित किया है।<sup>118</sup>

वैशाली के अस्तित्व का उल्लेख परोक्ष रूप में महाभारत में हुआ है। महाभारत में एक 'भद्रा वैशाली' राजकुमारी का उल्लेख है<sup>119</sup> जिसका संबंध कारुष, चेदि के शिशुपाल और मथुरा तथा द्वारिका के वसुदेव की पत्नी के रूप में मिलता है। (सतीशचन्द्र सरकार की राय में भद्रा वैशाली संभवतः इनमें से किसी एक की पत्नी थी)। जब वह वैशाली से द्वारका जा रही थी तो शिशुपाल ने उसका अपहरण (शक्ति या प्रभाव द्वारा) कर लिया था<sup>120</sup> लेकिन (कारुष और वसुदेव का यहां कोई उल्लेख नहीं है) जिसका उपभोग उसके मौसा राजा कारुष ने किया था। इस तरह वसुदेव और उसके साले शिशुपाल का भद्रा वैशाली पर बराबर का अधिकार बना रहा था। इस प्रकार वह या तो वसुदेव कारुष और शिशुपाल की संयुक्त पत्नी थी या कारुष और शिशुपाल में किसी एक की विधवा थी जो अंत में वसुदेव के अधिकार में आई। वसुदेव की मृत्यु के पश्चात् वह उनकी अन्य प्रिय पत्नियों (देवकी, रोहिणी, पौरवी और मदिरा) के साथ अग्नि में प्रवेश कर सती हो गई।<sup>121</sup> इस प्रकार यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि भद्रा वैशाली एक लड़की थी या इस नाम की तीन अलग-अलग लड़कियां थीं। महाभारत में ही एक जगह उल्लेख मिलता है कि भारत युद्ध में 'वैशालेयाः भोगिनः' जिसे नाग कबीले का 'नाग' कहा गया है, ने अर्जुन की सहायता की थी।<sup>122</sup> लेकिन



‘भोगिनः’ ‘राजनः’ भी होते थे (संभवतः नाग कुमार इजिप्ट के सम्राट की तरह) नाग चिह्न (सर्प-शीर्ष चिह्न) का मुकुट पहनने के कारण ‘भोगिन’ या भोज कहे जाते थे। यहां वैशाली के ‘भोगिनः’ या ‘राजनः’ बहुवचन में उल्लिखित है।<sup>123</sup>

महाभारत के भौगोलिक वर्णन से ज्ञात होता है कि एक विशाला नदी वैशाली के पास से गुजरती थी जो गण्डकी नदी की एक शाखा थी।<sup>124</sup> यह नदी गया क्षेत्र में दूसरी सरस्वती की तरह ही पवित्र मानी जाती थी।<sup>125</sup>

सुमति के बाद प्राचीन ब्राह्मण ग्रंथों में वैशाली का उल्लेख न मिलने के कारण हम अनुमान लगा सकते हैं कि यह मिथिला का अंग बन गया।<sup>126</sup> और इसकी संभावना अधिक है कि मिथिला में जब राज्यक्रांति हुई और वहां शासनतंत्र बदला<sup>127</sup> तो वैशाली में भी प्रजातांत्रिक व्यवस्था स्थापित हो गई होगी। वैशाली में राजतंत्र से प्रजातंत्र अपनाए जाने के पीछे एक कारण यह भी हो सकता है कि राजघराने के अधिकांश लोग व्यापार में आ गए हों। लेकिन साथ ही उन्होंने शासन करने का अपना जातीय अधिकार न त्यागा हो, और आपस में कलह न पैदा हो इसलिए कुलीनतंत्रीय व्यवस्था कर ली हो। संभवतः इसीलिए उस कुल से संबंधित सभी सदस्य अपने को ‘राजा’ कहते थे। मार्कण्डेय पुराण<sup>128</sup> में एक कथा है कि राजा नाभाग ने वैश्य कन्या से विवाह किया था जिससे उसका वंश वैश्य हो गया, जबकि विदेह के राजा क्षत्रिय ही रहे। इस तरह अर्थसंचय और शासन करने की भावना के कारण व्यवस्था का स्वरूप कालांतर में प्रजातांत्रिक हो गया हो।

बौद्ध ग्रंथ<sup>129</sup> वैशाली की एक अलग ही कहानी प्रस्तुत करते हैं। इनके अनुसार यह लिच्छवियों द्वारा बसाई गई थी। बाद में लिच्छवि परिवार की निरंतर वृद्धि होने के कारण इसे तीन बार विशाल करना पड़ा जिसके कारण यह क्षेत्र वैशाली के नाम से जाना जाने लगा।

इस तरह इस क्षेत्र का नाम और इसकी स्थापना की दो अलग-अलग कहानी ब्राह्मण और बौद्ध ग्रंथ प्रस्तुत करते हैं। प्रथम के अनुसार इसकी स्थापना राजा विशाल ने की थी और इस कारण उसका नाम ‘वैशाली’ पड़ा था, द्वितीय के अनुसार इसकी स्थापना (परमत्थजोतिका की कथानुसार) लिच्छवियों ने की थी और अपने विस्तृत क्षेत्र के कारण इसका नाम वैशाली पड़ा था। इस दोनों व्याख्याओं का आधार ‘विशाल’ शब्द है। इसके अतिरिक्त इसके नामकरण की अन्य संभावनाएं भी हमें मिलती हैं। श्री वी. रंगाचार्य<sup>130</sup> ने सुझाव दिया है कि यह क्षेत्र विश या वैश्य बहुल था इसलिए इसका नाम वैशाली पड़ गया होगा। श्री योगेन्द्र मिश्र महाभारत<sup>131</sup> का संदर्भ देते हुए सुझाव देते हैं कि विशाला नाम की नदी के कारण इस क्षेत्र का नाम वैशाली पड़ा।<sup>132</sup> या यह भी संभव है कि इस क्षेत्र में साल वृक्षों की अधिकता होने के कारण इस क्षेत्र का नाम वैशाली पड़ा।<sup>133</sup> वैशाली क्षेत्र में एक वन ‘गोससिंग साल वन’ नाम से पुकारा जाता था।<sup>134</sup> गण्डक नदी का नाम ‘शाल ग्रामी’ है क्योंकि यह शालग्राम (नेपाल में) से

गुजरती है। यहां ज्यादा संख्या में साल वृक्ष व शालग्राम पत्थर पाए जाते हैं। शाल का का अर्थ प्राकार (दीवार) भी है।<sup>135</sup> हम वैशाली के बारे में जानते हैं कि यह शहर तीन प्राकारों (दीवारों) से घिरा था जिनके बीच की दूरी 'गव्यूत' थी। अतः संभव है इस कारण इसे वैशाली कहा जाने लगा हो।<sup>136</sup> इस प्रकार इसके नामकरण के संबंध में कोई निश्चित मत नहीं व्यक्त किया जा सकता है।

अंतिम तीर्थंकर महावीर<sup>137</sup> वैशाली के कुण्डपुर (आज इसे बासो कुण्ड कहते हैं) में पैदा हुए थे। यहीं पर उनके कुमार काल के तीस वर्ष व्यतीत हुए थे और यहीं पर वैराग्य उत्पन्न होने पर उन्होंने ज्ञातवन खण्ड में प्रव्रज्या धारण की थी।<sup>138</sup> वह भी वैसालिक या वैसालिय कहकर पुकारे जाते थे। महावीर की मां त्रिशला<sup>139</sup> (लिच्छवि राजा चेटक की बहन) को भी 'विदेहदिना' और 'विदेहदत्ता' कहकर पुकारा गया है। महावीर ने अपने प्रव्रज्या काल में द्वादश वर्षावास (12 वर्षाऋतु) वैशाली और वाणिज्यग्राम में बिताए थे।<sup>140</sup>

भगवान बुद्ध इस जगह की बारंबार प्रशंसा किया करते थे और इस जगह जल्दी-जल्दी आने की इच्छा किया करते थे।<sup>141</sup> 'महावस्तु'<sup>142</sup> से ज्ञात होता है कि जब वैशाली में भीषण रूप से महामारी का प्रकोप फैला हुआ था तब उससे मुक्ति पाने के लिए लिच्छवियों ने अपने एक प्रमुख तोमर देव के अधिनायकत्व में एक दल भगवान बुद्ध को सादर वैशाली लाने के लिए राजगृह भेजा था। भगवान बुद्ध ने मगधराज बिम्बिसार से सहमति लेकर लिच्छवियों के राजा के इस साधु प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। मगधराज ने अपने राज्य की सीमा (गंगा किनारे) तक के पथ को साफ कराकर दोनों किनारों को फूलों तथा पताकाओं से सुसज्जित कराया और स्वयं भगवान बुद्ध को सीमा तक विदा करने गए थे। गंगा के दूसरी ओर वैशाली के लिच्छविगण अपनी सीमा को तोरणद्वारों से सजाकर उसके स्वागत के लिए खड़े थे। कहा जाता है कि भगवान बुद्ध ने जैसे ही गंगापार करके उत्तरी तट पर पदार्पण किया संपूर्ण वज्जि प्रदेश से महामारी विलीन हो गई।

एक अन्य स्थल पर उल्लेख मिलता है कि जब भगवान बुद्ध उधर से गुजरे थे तो अपने शिष्यों से उन्होंने कहा, 'तथागत का यह वैशाली दर्शन अंतिम बार है।'<sup>143</sup> एक बार भगवान बुद्ध वैशाली में एक सरोवर के किनारे बैठे थे कि कहीं से एक बंदर उनके समीप आया और उसने शहद से भरा एक कटोरा (भिक्षापात्र) उन्हें भेंट किया। यह सरोवर बाद में बौद्ध संसार में 'बंदर-पोखर' के नाम से विख्यात हो गया।<sup>144</sup> इसी तरह की एक और घटना बौद्ध संसार में अपना स्थान रखती है। भगवान बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द और महाप्रजापति गोतमी के कई बार आग्रह करने पर नारी को भिक्षुनी बनाने की अनुमति दे दी।<sup>145</sup> भगवान बुद्ध ने वैशाली को अंतिम बार छोड़ते समय लिच्छवियों से बहुत अधिक प्रसन्न होकर अपना भिक्षापात्र लिच्छवियों को भेंट स्वरूप दे दिया।<sup>146</sup> इसकी पुष्टि फाह्यान और ह्वेनत्सांग के विवरण से भी होती है।<sup>147</sup> एक अन्य



महत्त्वपूर्ण घटना भी वैशाली से जुड़ी हुई है। ऐसा माना जाता है कि भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के 100 वर्ष बाद वैशाली में द्वितीय बौद्ध संगीति का आयोजन किया गया था जिसके परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म प्रथम बार संघ के रूप में कार्य करने लगा।<sup>148</sup>

वैशाली नगर के क्षेत्रफल के संबंध में जातकों में विवरण दिए गए हैं। इसके अनुसार यह नगर तीन ओर से प्राचीरों से घिरा था, एक प्राचीर से दूसरी प्राचीर 'गव्यूति' की दूरी पर स्थित थी। हर प्राचीर में विशाल प्रवेश-द्वार एवं घंटाघर थे।<sup>149</sup>

हेनत्सांग<sup>150</sup> लिखता है कि संपूर्ण राज्य का क्षेत्रफल 5000 ली है। यहां बौद्ध और बौद्धेतर दोनों वर्ग मिलकर रहते हैं। कई संघाराम हैं परंतु सभी खण्डहरावस्था में हैं। कुछेक मंदिर देवताओं के हैं जिनमें उसके मतानुयायी उपासना करते हैं। जैन धर्मानुयायी काफी संख्या में हैं। पुराने नगर का घेरा साठ-सत्तर ली तथा राजप्रासाद का घेरा चार-पांच ली है। राजधानी से पश्चिमोत्तर दिशा में पांच-छः ली की दूरी पर एक संघाराम है। इसमें कुछ भिक्षु रहते हैं जो समंतीय संस्था अनुसार हीनयान संप्रदाय के अनुयायी हैं।

कर्निधम<sup>151</sup> ने हेनत्सांग के विवरण का हवाला देते हुए राजप्रासाद का क्षेत्रफल एक मील = 5.925 या छः ली अर्थात् 4—5 ली = एक मील से कम या 3500 से 4400 फीट माना है। खुदाई करने पर यहां उत्तर से दक्षिण में 580 फीट लंबा तथा 750 फीट चौड़ा अर्थात् 4660 वर्ग फीट क्षेत्रफल का खण्डहर है। 1913-14 के उत्खनन से यह निश्चित हो गया है कि यही लिच्छवियों की राजधानी थी।<sup>152</sup>

योगेन्द्र मिश्र<sup>153</sup> ने हेनत्सांग के विवरण के अनुसार गणना करके पूरे नगर का क्षेत्रफल नौ वर्ग मील तथा केंद्रीय क्षेत्र का क्षेत्रफल लगभग एक वर्ग मील से कम माना है।

इस प्रकार हम वैशाली नगर का कुल क्षेत्रफल 9—12 वर्ग मील के लगभग होने का अनुमान लगा सकते हैं।

एकपण्ण जातक के अनुसार वैशाली में 7707 राजा, उतने ही उपराजा, सेनापति और भण्डागारिक के रहने के लिए भवन, चैत्य व महल थे।<sup>154</sup> वैशाली में खूबसूरत उद्यान, उपवन तथा कमल के सरोवर थे जहां हमेशा पक्षियों<sup>155</sup> की चहचहाहट हुआ करती थी। नगर हमेशा समृद्धि संपन्न और जनसंकुल रहता था।<sup>156</sup> नगर का वैभव शक्रा लोक के समान थी जहां सुख और शांति व्याप्त रहती थी।<sup>157</sup> हमेशा कोई न कोई त्योहार-उत्सव हुआ करता था।<sup>158</sup> वैशाली में घूमते हुए एक बौद्ध भिक्षु छब्बगिया कहता है, 'ऐसा वैभव उसने कभी नहीं देखा, तब भी जब वह तावतिस (तैंतीस) देवताओं के बीच में था।'<sup>159</sup> वैशाली में सैकड़ों खूबसूरत स्थलों को देखकर महात्मा बुद्ध अनायास ही एक जगह कह उठते हैं, 'कितनी खूबसूरत जगह है आनन्द ! उदयन, चैत्य, गौतम चैत्य, सप्तम्रक चैत्य, बहु पुत्रक चैत्य, सारंदद चैत्य तथा चापाल चैत्य हमें कैसे

आकर्षित कर रहे हैं।<sup>160</sup> इन सभी स्थानों को लिच्छवियों ने बौद्ध संघ को अर्पित कर दिया था।

तिब्बत दुल्ब के अनुसार वैशाली तीन भागों में विभाजित था जिसके प्रथम भाग में 7000 स्वर्णकलश वाले, मध्य में 14000 रजत कलश वाले तथा अंतिम भाग में 21000 ताम्र कलश वाले भवन थे।<sup>161</sup> ये उनके स्तर के अनुसार उच्च मध्य व निम्न वर्ग के रहने के लिए होते थे।<sup>162</sup> इस तरह का विवरण हमें गिलगित मैनस्क्रिप्ट<sup>163</sup> में भी पढ़ने को मिलता है। जैनियों के अनुसार वैशाली में तीन जातियों (क्षत्रियों, ब्राह्मण और वणिक) के अलग-अलग उपनगर थे।<sup>164</sup> नगर के एक ओर हिमालय पर्वत की श्रेणियाँ हैं जहाँ एक प्राकृतिक 'महावन' था।<sup>165</sup> फाह्यान के यात्रा विवरण से भी यह स्पष्ट हो जाता है, 'नगर के उत्तर में एक विशाल वन है जिसमें दो गलियारों वाले विहार हैं जहाँ भगवान बुद्ध निवास किया करते थे।' इसी स्थान पर प्रिय शिष्य आनन्द के आधे शरीर के अस्थि अवशेष पर एक स्तूप बना था।<sup>166</sup> दो गलियारे वाले विहार जिसे 'कूटागार' कहते थे, देव विमान के सदृश्य थे।<sup>167</sup> ह्वेनत्सांग के समय तक यह स्थान खण्डहर में परिवर्तित हो चुका था।<sup>168</sup> जैन परंपरा हमें वैशाली के विषय में एक अन्य सूचना देता है कि वैशाली नगर मुख्यतः तीन मुख्य खण्डों—वैशाली, कुण्डग्राम व वाणिज्य ग्राम तथा कुण्ड ग्राम के उत्तरपूर्व में कोल्लाग उपनगर (सन्निदेश) था।<sup>169</sup> वैशाली में कम से कम 52 सरोवर थे जिनमें से कुछ आज भी विद्यमान हैं, जैसे, वावन पोखर, घोघा पोखर, खरौना पोखर (जनश्रुति के अनुसार यही अभिषेक पुष्करणी), गंगा सागर आदि।—<sup>170</sup>

वैशाली की जनसंख्या के विषय में कोई निश्चित जानकारी हमें उपलब्ध नहीं है। केवल महावस्तु<sup>171</sup> के अनुसार बोधि प्राप्त करने के पश्चात् प्रथम बार जब भगवान बुद्ध वैशाली आए तो 168000 वैशालियों (जिनमें आधे नगर के भीतरी क्षेत्र और आधे बाह्य क्षेत्र से अर्थात् 84000 + 84000 नागरिक) ने उनका स्वागत किया था। लेकिन हम इस संख्या को विश्वसनीय नहीं मान सकते क्योंकि 84 का अंक है जो कई रूपों में कई जगह प्रयुक्त हुआ है।<sup>175</sup> उदाहरण के लिए एकपण्ण जातक में उल्लिखित 7707 राजा, 7707 उपराजा, 7707 सेनापति, 7707 भाण्डागारिक का आपसी जोड़  $(7+7+7=21 \times 4 = 84)$  आता है, इसी तरह तिब्बती दुल्ब के अनुसार भवनों की संख्या 7000 स्वर्ण कलश, 14000 रजत कलश तथा 21000 ताम्र कलश वाले भी दूसरे अंक पर आधारित संख्या  $(7+14+21)=42$  है। इसी तरह का अंक 'महावग्ग' में दिए वर्णन में भी है।<sup>173</sup> इसके अतिरिक्त हमें वैशाली की जनसंख्या की संरचना के विषय में अन्यत्र कहीं वर्णन नहीं मिलता है। विभिन्न ग्रंथों<sup>174</sup> के अनुसार वैशाली हर तरह से खुशहाल, मनोरंजन से परिपूर्ण संपन्न नगर था।

वज्जि संघ की स्थापना, राजधानी वैशाली की पहचान कराना विद्वानों के लिए एक समस्या रही है। कुछ विद्वान पहले इसकी पहचान इलाहाबाद<sup>175</sup> और कुछ छपरा



जिले से सात मील दक्षिण 'चिरांद'<sup>176</sup> (सारन जिला, बिहार के अंतर्गत आता है) से करा रहे थे। लेकिन सर्वप्रथम कनिंघम ने ह्वेनत्सांग के यात्रा विवरण से मेल कराते हुए मुजफ्फरपुर से चालीस कि. मी. दक्षिण तथा हाजीपुर से पैंतीस कि. मी. पूर्व स्थित बसाढ़ (खसरा-खतौनी में दर्ज बसाढ़-बनिया) नामक गांव से कराया।<sup>177</sup> बाद में वि. ए. स्मिथ ने इस पहचान को बहुत वैज्ञानिक ढंग से प्रमाणित भी कर दिया कि यही प्राचीन वैशाली थी।<sup>178</sup> 1945 ई. में इसका नाम पुनः वैशाली रख दिया गया। अब वैशाली जिला है।

कनिंघम ने वैशाली क्षेत्र पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, 'वैशाली गण्डक के पूर्व में स्थित थी। इसकी पहचान अब बसाढ़ से की जा चुकी है। यहां एक पुराना गढ़ है जिसे 'राजा विशाल का गढ़' कहकर पुकारते हैं। ये प्राचीन वैशाली के संस्थापक माने जाते हैं। अबुल फज़ल के 'आइने अकबरी' (ग्लाडविन द्वारा अनुदित, II, 198) में भी यही नाम लिखा है। वैशाली के राजा के रहने का मुख्य स्थान चार या पांच ली (एक मील से कम या 3500 से 4400 फीट) वर्ग क्षेत्र में था। 'गढ़' उत्तर से दक्षिण में 1580 फीट लंबा तथा गढ़ की बीच की चौड़ाई 750 फीट अर्थात् पूरा गढ़ 4660 वर्ग फीट के क्षेत्र में फैला है। 1903-04 में टी. ब्लोच<sup>179</sup> द्वारा इस क्षेत्र का सर्वप्रथम उत्खनन किया गया जिसमें बहुत बड़ी मात्रा में जैन व अन्य हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियां तथा गुप्तकालीन मुहरों जिस पर 'तीर-कुमारामात्यधिकरणस्य' 'वैशाल्यधिष्ठानाधिकरण' आदि शब्द अंकित हैं, के मिलने से यह विश्वास पक्का हो गया कि यही प्राचीन वैशाली रही होगी। गुप्त काल में यह क्षेत्र 'तीरभुक्ति' के अंतर्गत आता था। फूशे<sup>180</sup> महोदय के अनुसार बारहवीं शताब्दी के दो हस्तलिखित ताड़पात्रों पर 'तीरभुक्ति वैशाली तारा' लिखा है जिससे सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि वैशाली बारहवीं शताब्दी तक तिरहुत के अंतर्गत रहा होगा। इसी तरह 1913-14<sup>181</sup> ने उत्खनन में कुछ और गुप्तकालीन मुहरों का मिलना तथा 1958-59<sup>182</sup> में अल्केतर के निरीक्षण में हुए उत्खनन में चीनी यात्री द्वारा वर्णित लिच्छवियों द्वारा निर्मित भगवान बुद्ध के अस्थि-अवशेष पर बना हुआ स्तूप मिल जाने से इसकी प्रामाणिकता सार्वभौम रूप से स्वीकार कर ली गई है। इस स्थान पर किए गए उत्खनन स्पष्ट रूप से प्रमाणित कर देते हैं कि इस क्षेत्र पर मौर्यों, कुषाणों, शुंगों तथा गुप्त शासकों का आधिपत्य रहा होगा। साहित्यिक प्रमाणों के अनुसार वैशाली तीनों ओर से प्राचीरों से घिरी थी। इन तीन में से दो दीवारों का घेरा आज खण्डहर के रूप में दिखाई पड़ता है।<sup>183</sup>

## संदर्भ तथा टिप्पणियां

1. पालि साहित्य तथा कुछ बौद्ध ग्रंथों में, उदाहरणार्थ, दिव्यावदान 5055-56, 136 : पेत्त वत्थु (एहुल, कौसल्यायन एवं कश्यप द्वारा संपा.) (1973) पृ. 40-41, 45-50; द जातक (कावेल द्वारा संपा.) (1957) भाग 1, पृ. 316, भाग 2, पृ. 4; बौल-बुद्धिष्ट रिकार्ड्स (लण्डन 1884) भाग 2, पृ. 67, पृ. 103; विमलचरणा ला—सम जैन क्रानिकल्स (धर्म विहित) सूत्र (बंबई 1949), पृ. 103;

- जैकोबी—जैनसूत्र, पृ. 266, पा. टि. ; डायलाग्स, खंड 2, पृ. 187, 190; रॉकहिल—द लाइफ आफ द बुद्ध (लण्डन 1907), पृ. 97 और आगे; वाटर्स-आन-हेन-त्सांग टैबल, (लण्डन 1907) पृ. 97 भाग 2, पृ. 77; कुछ चंद्रगुप्त प्रथम के सिक्के (दिनेश चंद्र सरकार, सेलेक्टेड इन्सक्रिप्शन्स वीयरिंग आन इंडियन हिस्ट्री एंड सिविलाइजेशन, (कलकत्ता 1942) पृ. 254; स्मिथ ज. रा. ए. सो. (1889) पृ. 63; अनन्त सदाशिव अल्लेकर, कैटलाग आफ द गुप्त गोल्ड क्वाइन्स इन दा बयाना होर्ड (बंबई 1954) पृ. 2-3, 6 और गुप्तकालीन मुद्राएं (पटना 1954) पृ. 24-25; जे. एलन, कैटलाग आफ द क्वान्स आफ द गुप्त डायनस्टीज एंड आफ शशांक, किंग आफ गौड (लण्डन 1914) पृ. 18 (लिच्छवयः सिक्कों पर बहुवचन का प्रयोग किया गया है : कुछ गुप्त अभिलेखों में, उदाहरणार्थ समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति, चंद्रगुप्त द्वितीय का मथुरा शिलालेख, कुमार गुप्त के सं. 96 का विल्साद शिला स्तंभ लेख और स्कंदगुप्त का बिहार शिलालेख (स्तंभ) (फ्लीट, कारपस इन्सक्रिप्शन्स इंडीकरम्, भाग 3; इन्सक्रिप्शन्स आफ द अर्ली गुप्त किंग्स एंड दियर सक्सेसर (कलकत्ता 1888), पृ. 8, 26, 43, 59 क्रमशः; दिनेशचंद्र सरकार, वही, पृ. 259, 278, 318); कुमार गुप्त द्वितीय या तृतीय का भीतरी लेख तथा प्रभावती गुप्त का पूना ताग्रपत्र लेख (दि. च. सरकार, पृ. 263, 321 तथा 412 क्रमशः); नेपाल के लिच्छवि राजाओं का अभिलेख, शिवदेव प्रथम का भदगांव अभिलेख, बुद्ध नीलकंठ लेख, ध्रुवदेव का धानकोट लेख, भीमार्जुनदेव का लगन टोला लेख, नरेन्द्रदेव का लगन टोला, लेख, शिवदेव का चांगुनारायण लेख, भीमार्जुनदेव का वलंबू लेख, वसोनागुठी लेख (नोली, लेख क्रम सं. 24, 27, 51, 58, 77, 55, 61, 62, क्रमशः).
2. महावस्तु भाग 1, पृ. 254 और आगे, 261 और आगे 270, 271, 288, 290, 295, 297, 299, 300; वाटर्स, आन हेन-त्सांग, भाग 2, पृ. 77
  3. सूत्रकृतांग, से. बु. ई, भाग 45 पृ. 321 टिप्पणी, ला. वही, पृ. 3, जैकोबी, वही, पृ. 266, टि.
  4. जैन भाष्यकार द्वारा, ईस्ट सी., 22, पृ. 266 टि.
  5. कौटिल्य अर्थशास्त्र (Xi 1. 5. 6.) कुछ गुप्त अभिलेखों में, जैसे एक स्कंदगुप्त का भीतरी शिला स्तंभ अभिलेख व समुद्रगुप्त का गया ताग्रपत्र अभिलेख (फ्लीट पृ. 53 व 256 क्रमशः); सरकार दि. चंद्र, वही, पृ. 313 व 256 क्रमशः) मेधातिथि तथा गोविन्दराज ने मनुस्मृति (X.22) में 'लिच्छवि' पढ़ा जिसके लिए देखिए, ब्यूलर'द ला आफ मनु' से. बु. ई, 25 (आक्सफोर्ड 1886) पृ. 406, टिप्पणी.
  6. कुल्लूक भट्ट तथा राघवानंद ने मनुस्मृति (X.22) में पढ़ा.
  7. नंदनाचार्य ने मनुस्मृति (X.22) में पढ़ा (ब्यूलर, वही पृ. 406 टिप्पणी).
  8. मनुस्मृति (X. 22) के कश्मीरी टीकाकार (ब्यूलर, वही पृ. 406 टिप्पणी).
  9. रामनाथ शास्त्री, कौमुदी महोत्सव, पृ. 3 : मगध कुल वैरिभि म्लेछैलिच्छवि.
  10. हिन्दू पाल्टी (1924) भाग 1, पृ. 184.
  11. वे अभि. ग्रंथ, पृ. 66, टिप्पणी; त्रिवेद, वही पृ. 32.
  12. ला, वही, पृ. 17-21; पा. सो. (स्मिथ द्वारा सम्पा) पृ. 158-160.
  13. झा, वही, पृ. 9.
  14. विद्याभूषण, जे. एस. बी. 8 भाग 1, नोली 2; इ. ए. (1908) पृ. 78-80 : स्पूनर का सुझाव भी इसी मत की ओर था; अ. स. इ. आ. रि. (1913-14), पृ. 118-20 ज. द. सो. बं. भाग 71, (1902) पृ. 142-30.
  15. ला, वही, पृ. 29 तथा आगे; जोली-मनुस्मृति (X-22), पृ. 230; ब्यूलर'द ला आफ मनु, X-22, पृ. 406, टिप्पणी; योगेन्द्र मिश्र, वही, पृ. 107 : बंगाली भाषा में सामान्यतः ल का न उच्चारण हो जाता है। यह गलत पाठ इसी कारण बंगाली टीकाकार से हो गया था। (आर. डी. बनर्जी, द ओरिजन आफ द बंगाली स्क्रिप्ट कलकत्ता विश्वविद्यालय, पृ. 82, 108-109).



16. बील, वही, 2 (1884), पृ. 66 और आगे; द लाइफ आफ हेन-त्सांग, (लण्डन, 1911) पृ. 22-24, होमन ने भी लिच्छवियों को सीथियन से संबंधित कहा है (क्लेक्टेड एसेज, टूबनर संस्क. पृ. 17); लाइफ आफ हेन-त्सांग पृ. (XXiii) पर उद्धृत
17. मिथिला, पृ. 114; त्रिवेद, प्राड् मौर्य विहार, पृ. 43.
18. मिथिला, वही; त्रिवेद, प्राड् मौर्य विहार, वही.
19. जे. एफ. हेविट, 'नोट्स आन द अली हिस्ट्री आफ नार्दन इंडिया, ज. रा. ए. ओ., (1888) पृ. 356-259 (तर्क के लिए); हेविट, ज. रा. ए. सो. 1889 पृ. 262.
20. योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 108.
21. द अली हिस्ट्री आफ इंडिया, चतुर्थ संस्करण, पृ. 172-173; तिब्बतन एफिनिटिज आफ द लिच्छविज, इ. ए. भाग 32 (1903), पृ. 233-235.
22. बाशम—द वण्डर दैट वाज इंडिया (लन्डन, 1954) पृ. 40; दिनेशचंद्र सरकार, वै. अधि. ग्रं., पृ. 173.
23. क्षत्रिय क्लान्स पृ. 29-32.
24. हिन्दू पालिटी, पृ. 174-177.
25. पो. हिस्ट्री, पृ. 122, टिप्पणी 2.
26. अथर्ववेद संहिता (ह्याटिने द्वारा अनुदित और—लैमन द्वारा हार्वर्ड ओरिएंटल सोरिज आद, (1905) पृ. 840-41 में; संपादित; अथर्ववेद संहिता, रोथ एंड ह्याटिने, पृ. 239; मिथिला, पृ. 112; लिच्छवि, पृ. 5.
27. आपस्तम्ब (1-87); त्रिवेद, प्राड् मौर्य विहार, पृ. 43.
28. उपेन्द्र ठाकुर, मिथिला, पृ. 112.
29. विद्याभूषण, ई. ए. भाग 37, (1908); पृ. 78-80, विद्याभूषण, ज. ए. सो. बं. भाग 71 (1902) पृ. 142-143.
30. ला—क्षत्रिय क्लान्स, पृ. 32
31. जोली, मनुस्मृति (X-22), पृ. 230.
32. व्यूलर—द ला आफ मनु, X-22; (आक्सफोर्ड, 1887), से, बु. ई. पृ. 406.
33. योगेन्द्र मिश्र—वैशाली, पृ. 109.
34. पो. हिस्ट्री, पृ. 132, टिप्पणी 3.
35. पो. हिस्ट्री, वही,
36. श्यामाचरण चक्रवर्ती, सम प्वाइन्टस् रिगार्डिंग द ओरिजिन आफ द लिच्छवि आफ वैशाली, इ. क्वा, 1933, भाग ix-2, पृ. 439-47; श्रीराम गोयल, पृ. 29-30.
37. उपेन्द्र ठाकुर : मिथिला, पृ. 20; 440 : इ. हि. क्वा, ix-2, 1933 पृ.
38. उपेन्द्र ठाकुर वही पृ. 20; इ. हि. क्वा, वही, पृ. 441-42
39. इ. हि. क्वा, ix-2 (1933) पृ. 444.
40. वही, पृ. 444.
41. महाभारत, वनपर्व, 161,, 4-5; इ. हि. क्वा वही, पृ. 444
42. इ. हि. क्वा वही, पृ. 444
43. ला, वही, पृ. 17-21;
44. इ. हि. क्वा वही, पृ. 447.
45. मनुस्मृति, x-22.
46. चन्द्रभान पाण्डेय, आंध्र-सातवाहन साम्राज्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1963, पृ. 119

47. अष्टाध्यायी (iv. 12. 131) : (वैशाली, पृ. 111. टिप्पणी 6 पर उद्धित)
48. अथर्ववेद, 18-2-34; आपस्तब, 1-87; त्रिदेव, प्राङ् मोर्य बिहार, पृ. 42-43
49. नगेन्द्रनाथ घोष ने 'इण्डो आर्य लिटरेचर एण्ड कल्चर' में कहा है कि जिन अनार्यों की 'वात्यप्लोम' द्वारा शुद्धि करके आर्य बनाया गया उन्हें 'वात्य' कहते हैं, (सम्पूर्णनन्द आर्यों का आदि देश, परिशिष्ट, पृ. 219 पर उद्धित; श्री राम गोयल, पृ. 29-30; विद्याभूषण, इ. ए. भाग 37, पृ. 78-80.
50. त्रिवेद, देवसहाय, प्राङ् मोर्य बिहार, पृ. 13.
51. जोली, मनुस्मृति, x-4, 20-23 : सम्पूर्णनन्द आर्यों का आदि देश, पृ. 218.
52. मनु, x-41-46 : प्राङ् मोर्य बिहार, पृ. 43.
53. मनु, x-22, : झा, लिच्छवि, पृ. 7 टिप्पणी.
54. मनु-x, 43-44 : झा, लिच्छवि, पृ. 7 टिप्पणी.
55. मनु, 11-38-39.  
अत अर्ध्व त्रयोदश्यते यथा कालमसंस्कृताः ।  
सावित्री पतिता वात्या भवन्त्यार्थ विगर्हिताः ॥ (मनु, 11-39)
56. ला, वि. च., सम क्षत्रिय ट्राइन्स आफ एशियेण्ट इंडिया, पृ. 16; जायसवाल, हिन्दू पालिटी, पृ. 174-77. योगेन्द्र मिश्र अर्ली हिस्ट्री आफ वैशाली, पृ. 111; रायचौधुरी, पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एशियेण्ट इंडिया, पृ. 122-24; हित नारायण झा, लिच्छवि, पृ. 7; त्रिवेद देव सहाय, प्राङ् मोर्य बिहार, पृ. 43.
57. डायलाग्स आफ द बुद्ध, 2, पृ. 187.
58. कावेल, जातक, भाग 2, पृ. 4, जातक संख्या 152.
59. सुमंगलविलासिनी, पा. टे. सो, भाग 1, पृ. 312.
60. सै. बु. ई. 22, पृ. 226-230, 238-240, 246-247, 550 (क्षत्रियाणी उनके नाम का भाग नहीं था। वही पृ. 193)
61. डायलाग्स, 2, पृ. 103, महावस्तु, 1, पृ. 262.
62. हिन्दू धर्म के विश्वासों के अनुसार देवताओं की संख्या 33 मानी गई है.
63. ला, वही, पृ. 130.
64. मिश्र, वही, पृ. 111.
65. ला, वही, पृ. 17-21, पा. टे. सो. (स्मिथ द्वारा संपा.) पृ. 158-60.
66. रेग्मी; एन अर्ली हिस्ट्री आफ नेपाल, पृ. 65.
67. नोली नेपाल इन्सक्रिप्शन इन गुप्त कैरेक्टर पार्ट । (मूल), अभि. सं. 81 (पशुपतिनाथ प्रशस्ति; : इन्द्र एण्ड ब्यूलर, ट्वेन्टी थ्री इन्सक्रिप्शन्स, 15, पृ. 16-19, अभिलेख सं. 15, इसमें लिच्छवियों के आदि पुरुष (श्रीमान भुलिच्छवि) को इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न लिखा गया है ।
68. वाटर्स, ट्रेवल्स, 2, पृ. 84; बील, वही पृ. 318.
69. नोली, अभि. 3, 20, 59, 61, 81 : ट्वेन्टी थ्री इन्सक्रिप्शन्स, अभि. 1; ला क्षत्रिय क्लान्स पृ. 77-78; दत्त; अर्ली हिस्ट्री आफ द स्पेड बुद्धि, पृ. 155-56.
70. ट्रेवल्स आफ ह्वेनत्सांग, भाग 3, कलकत्ता, 1958, पृ. 155-56.
71. नोली, अभि. 37, 41, 50, 55, 58, 61, 66, 68.
72. अभिलेख, भाग 1. पृ. 38 झा, लिच्छवि, पृ. 12.
73. वही, पृ. 25; नोली, अभि. 12; झा, वही, पृ. 12.
74. नोली, अभि. 11; झा, वही पृ. 12.
75. नोली. अभि. 1; झा, वही पृ. 12.



76. जायसवाल, वही पृ. 184 : ज्ञा, वही, पृ. 11.
77. बोल, वही, पृ. 308, 314, 315; डाय, भाग 2; पृ. 80; दत्त अली हि. आफ द स्प्रेड आफ बुद्धज्म, पृ. 157-62; ला, क्षत्रिय क्लान्स, पृ. 77-78; उपेन्द्र ठाकुर मिथिला, पृ. 149-50.
78. अल्तेकर, द कास्टीच्यूशनल हिस्ट्री आफ वैशाली, वै. अभि. ग्रं. पृ. 67-71; रा. कु. मुकजी, हिन्दू सिविलाइजेशन, भाग 2, पृ. 240 और आगे; योगेन्द्र मिश्र, अली हिस्ट्री आफ वैशाली. पृ. 143 और आगे.
79. श्रीमती रिस डेविड्स साम आफ ब्रेट्रेन, (लंदन, 1951) पृ. 118; परमत्यजोतिका की कथा में भी ऐसा है (स्मिथ द्वारा सम्पा. पा. टे. सो. पृ. 158-60).
80. वही, पृ. 63.
81. वही, पृ. 106.
82. उपाध्याय, वही पृ. 383; दिवाकर, वही, पृ. 110.
83. ज्ञा लिच्छवि, पृ. 9 : थारु भाषा का 'बाजे' जिसका अर्थ बाबा (पितामह) से आज भी लिया जाता है, संभवतः 'वज्जि' से संबंधित रहा होगा। पाणिनी इसे वृजि लिखते हैं (पाणिनी-iv. 2131); हेनत्सांग (बुद्धिष्ट रिकार्ड, पृ. 66-67) भी इसे वृजि (फो, शि, लि) तथा कौटिल्य (ix-1) 'वृजिक' लिखते हैं.
84. अंगुत्तर निकाय, 3, पृ. 76
85. वासग, वही, पृ. 47 : सिन्हा व वनर्जी, वही पृ. 47; जैन क्रानिकल्स सूत्र (बम्बई, 1949), पृ. 87-88.
86. अर्थ, पृ. 407.
87. हार्डी, वही, पृ. 243.
88. बोल, बुद्धिष्ट रिकार्ड, पृ. 66-67 : 77-78.
89. श्रीमती रिस डेविड्स, साम आफ ब्रेट्रेन (लंदन, 1951) पृ. 112; पा. टे. सो. (स्मिथ द्वारा सम्पा.), पृ. 158-60.
90. इ. ए. (1903), पृ. 233 : बोल, सै. पृ. ई. 2 (1884), पृ. 66 अ; बोल, लाइफ आफ हेनत्सांग (लंदन, 1911), पृ. 22-24; दयूर, इन ओरियन्टल सीरिज, इन्ट्रोडक्शन, पृ. xiii. (श्यामानारायण सिंह, हिस्ट्री आफ तिरहुत (1922), पृ. 37 पर उद्धृत)
91. इ. ए. (1903), पृ. 233.
92. मिथिला, पृ. 114.
93. श्यामानारायण सिंह, वही, पृ. 37 पा. टिप्पणी.
94. विद्याभूषण, ज. ए. सो. वं. भाग 71 (1902), पृ. 142-43; विद्याभूषण : इ. ए. भाग 37 (1908) पृ. 78-80; स्पूर का भी झुकाव इसी मत की ओर था. अ. स. इ. अ. रि. (1913-14), पृ. 118-20.
95. वि. चरण ला. क्षत्रिय क्लान्स, कलकत्ता एण्ड शिमला, पृ. 32.
96. जौली, मनुस्मृति (x-22), पृ. 23.
97. ब्यूलर, द ला आफ मनु : x-22 (आक्सफोर्ड, 1887), ईस्ट. सी. पृ. 406.
98. श्रीराम गोयल, वही पृ. 29-30.
99. पो. हिस्ट्री पृ. 122, टिप्पणी.
100. इ. हि. क्वा 1933, भाग ix-2, पृ. 439-47.
101. श्रीराम गोयल, वही, पृ. 29.
102. पीछे देखिए,
103. जे. पी. शर्मा, रिपब्लिक्स इन एंशिपन्ट इंडिया, पृ. 89-92. (श्रीराम गोयल, वही, पृ. 28. टिप्पणी 2 पर उद्धृत)
104. जे. पी. शर्मा, वही, पृ. 92 (श्रीराम गोयल, वही, पृ. 28, टिप्पणी 2 पर उद्धृत)

105. विमलचरण ला. सम क्षत्रिय ट्राइन्स आफ एंशिएन्ट इंडिया, पृ. 16 : जायसवाल, हिन्दू पालिटी पृ. 174-77; योगेन्द्र मिश्र, अलौ हिस्ट्री आफ वैशाली, पृ. 111; रायचौधुरी, पो. हि. पृ. 122-24; हितनारायण झा, लिच्छवि पृ. 7; त्रिवेद देवसहाय, प्राङ्ग मौर्य बिहार, पृ. 30.
106. पीछे देखिए
107. वि. च. ला. वही, पृ. 17-21; : पा. टे. सो. (सम्पा. स्मिथ), पृ. 158-60.
108. रामा i. 45.9.
109. वायु. 86. 3-12; विष्णु iv-i 15-19; गरुण. 1.1385-13; भाग-ix-2. 23-36; मार्क. 109-36 मिथिला पृ. 115-116
110. वै. अभि. ग्रंथ पृ. 66; वही, पृ. 32.
111. रामा 1. 45. 9-11 : 1. 47 11-17.
112. मं.भा. vii55 : xii-20 : xix.4.65-86.
113. उत्तर तीरमासाय सम्पूज्यर्षि गर्ण ततः ।  
गंगकूले निविष्टास्ते विशालां सदृशः पुरीम् (रामा 1.45.9)
114. तस्य पुत्रो महातेजाः सम्प्रत्येष पुरी मिमाम्  
आवसत्य मर प्रख्यः सुमतिनमि दूर्जयः (16)  
सुमतिस्तु महातेजा विश्वामित्रभुपागतम्  
श्रुत्वा नखर श्रेष्ठः प्रत्यगच्छन्महायशः (19) बाल काण्ड, सर्ग 47.
115. वायु. 86.3-12 ; विष्णु iv i-15-19; गरुण; 1 138.5-13; भाग ix 2. 23-36; मार्क. 109-36; मिथिला, पृ. 115-116 : हिस्ट्री आफ तिरहुत, पृ. 34.
116. हाजीपुर जिले के पश्चिम में राम मंदिर आज भी मौजूद है जहां आजकल तीन तीर्थस्थल हैं : गजेन्द्र मोक्ष तीर्थ, विशाल क्षेत्र और तीसरा जहां आज सोन मंदिर है (वै अभि. ग्रं. पृ. 62 : स्थानीय जनश्रुति के अनुसार हाजीपुर में राम-लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ गंगा के दक्षिण तट से उत्तरी तट पर उतरे थे (श्यामनारायण सिंह, हिस्ट्री आफ तिरहुत, पृ. 33) आज भी यहां एक घाट है जिसे रामचौरा घाट कहते हैं, श्री रामचन्द्रजी ने इस घाट पर स्नान किया था, यह एक होली लोकगीत में भी गाया जाता है, यह लोकगीत मुजफ्फरपुर के कुछ हिस्सों में खूब गाया जाता है (योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 73 पर उद्धृत).
117. म. भा. xii. 81. 107.
118. वही
119. योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 89 : भद्रा, वैशाली संभवतः विशाला के राजा की पुत्री थी और यह विशाला वैशाली हो सकती है, यद्यपि महाभारत के व्याख्याकार नीलकंठ इस वैशाली को बदरी या बदरी के पास कहीं ठहराते हैं (मभा. ii. 139. 11 : xii. 344.20 111-90. 25-26), लेकिन महाभारत में वैशाली (एक राजकुमारी के रूप में) है, वैशालेयाः भोगिनः (वैशाली नाग का सरदार) और विशाला (एक नदी) का उल्लेख है. नीलकंठ की पहचान को बहुत बाद का होने के कारण अस्वीकार कर दिया जाए तो भी विशाला का संदर्भ बदरी या उसके पास के बजाए वैशाली से हो सकती है. वैशाली में लोगों का संबंध अति प्राचीन काल से होना प्राचीन ग्रंथों से भी सिद्ध होता है, अथर्ववेद (vii. 10-29) में एक तक्षक वैशालीये का उल्लेख मिलता है तथा इसी तरह वाल्मीकि रामायण (आदि काण्ड, 45वें सर्ग के) अनुसार इसी स्थान (वैशाली) पर देवों और दानवों में समुद्र-मंथन की मंत्रणा की थी और हम जानते हैं कि समुद्रमंथन में 'नागों' की भी प्रमुख भूमिका रही है. इस प्राचीन ग्रंथों में नागों के उल्लेख के अतिरिक्त बुद्ध काल के ग्रंथ दीर्घ निकाय में भी (डायलाग ii. पृ. 288) वैशाली के नागों का उल्लेख है.
120. मभा. ii.45.11.



121. वही, xvi, 7.18.
122. वही, viii.87.44.
123. योगेन्द्र मिश्र, वैशाली पृ. 90 : स. चन्द्र. सरकार, वै. अभि. ग्रं. पृ. 63.
124. मभा. ix.38. 4.21 : xiii.25-44.
125. मभा. i.35.12 : v.103.14 : iii. 25.44.
126. हित. ना. झा, लिच्छवि, पृ. 14; वैशाली के मिथिला का अंग होने का अनुमान इससे भी लगाया जा सकता है.
127. हेमचन्द्र रायचौधुरी, पो. हिस्ट्री, पृ. 81: मिथिला में राजतंत्र से प्रजातंत्र अपनाए जाने का कारण लिखा है, पर वैशाली के बारे में संकेत नहीं करते हैं, विदेह का राजा कराल जनक बड़ा कामी था और एक कन्या से बलात्कार करने के कारण प्रजा ने उसे मार डाला जिससे राजतंत्र का अंत हो गया.
128. सूर्यदेव, वै. अभि. ग्रं. पृ. 100 पर उद्धृत.
129. स्मिथ (सम्पा.) परमत्थजोतिका आन द खुदक पाठ, पा. टे. सो. पृ. 158-60, वि. च. ला. क्षत्रिय क्लान्स पृ. 17-21 हाडी; मैनुअल आफ बुद्धिज्म, पृ. 242-43.
130. वैदिक इंडिया, पार्ट 1, पृ. 126.
131. मभा. ix.38.4, 21 : xiii. 25.44.
132. योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 128.
133. वही पृ. 128 : यद्यपि वर्तमान काल में वैशाली क्षेत्र में शाल वृक्ष गिनती के हैं जबकि बौद्ध ग्रंथों में वर्णित तालाबों की संख्या में से अधिकांश मौजूद हैं.
134. योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 128.
135. वाचस्पति, पृ. 6000; शब्द कल्प द्रुम; भाग v, पृ. 60. के. बी. पाठक, आन मेघदूत 1.30 : (विशाला का अर्थ = विशिष्टः शालाः प्रकारा यस्यां सा); दसवीं शताब्दी के बल्लभदेव कहते हैं, 'विविधाश्च शाला यास्यास्ताम' : (श्री रंजन सूरिदेव, मेघदूत : एक अनुचितन, पटना, 1960, पृ. 202)
136. जातक नं. 149 (एक पण्ण जातक).
137. श्रीमती रिसडेविड्स, साम आफ द ब्रेट्रेन पृ. 63; ला, सम जैन क्रानोनिकल्स सूत्र (कल्पसूत्र), पृ. 101; बनर्जी, पो. हिस्टोरिक एंशिएन्ट एण्ड हिन्दू इंडिया, पृ. 54; हजरा, स्टडीज इन द पुराणिक रिकाइर्स पृ. 194; एडवांस हिस्ट्री, पृ. 84.
138. बारो कुण्ड में महावीर के जन्मस्थली पर स्थापित शिला स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख.
139. ला, सम जैन क्रानोनिकल्स सूत्र ए 101; जैकोबी, वही, पृ. भूमिका, xiii : प्रो. हिस्ट्री (चतुर्थ संस्करण) पृ. 106; बनर्जी, वही, पृ. 54.
140. ला, वही, पृ. 102; मलालेस्केरा, पृ. 942 : मिथिला, पृ. 149.
141. रिस डेविड्स—महापरिनिब्बान सूत इन द डायलाग आफ द बुद्ध, पृ. 110 : ओल्डन वर्ग बुद्ध पृ. 148 : भगवान बुद्ध कुछ युवा लिच्छवियों को अपने समीप आते देखकर अपने शिष्यों से बोले, 'तुममें से जिस किसी ने 33 देवताओं का समूह न देखा हो, उसे लिच्छवियों के इस समूह को टकटकी लगाकर देखना चाहिए और विचार करना चाहिए'.
142. जोन्स (अनु.) महावस्तु, खण्ड 1, पृ. 224-242; ग्रेजर (अनु.) पुल्ल वंश, पार्ट 1, पृ. 6, पाद टिप्पणी; बायट (सम्पा.) 2500 ईयर्स आफ बुद्धिज्म (1959), पृ. 147; ला, ए हिस्ट्री आफ पालि लिटरेचर, भाग 1, पृ. 100.
143. रिस डेविड्स, महापरिनिब्बान सूत इन डायलाग्स आफ बुद्ध, पृ. 131.
144. ला, ए हिस्ट्री आफ द पालि लिटरेचर, भाग 1, पृ. 100. (वर्तमान में यह बंदर पोखर त्राणिज्य ग्राम के

- निकट आधुनिक उफरील गांव में स्थित है, इस पोखर के किनारे ही सिंह शीर्ष का अशोक लाट है जिस पर लेख अंकित है। यह लाट अब तक प्राप्त लाटों में प्राचीनतम है, लाट के साथ ही भगवान बुद्ध के प्रिय शिष्य आनन्द के अस्थि-अवशेष पर स्थापित स्तूप है, स्तूप के उत्तर की ओर बुद्ध की एक मूर्ति (शीर्ष रहित) भूमि स्पर्श मुद्रा में प्राप्त हुई है जो वैशाली संग्रहालय में सुरक्षित है।
145. दत्त अली हिस्ट्री आफ द स्प्रैड आफ बुद्धिज्म, पृ. 160.
  146. अ. स. इ. रि. भाग 16, 1880-81, पृ. 8.
  147. वही.
  143. रिस डेविड्स, महापरिनिव्वान सूत्र इन डायलाग्स आफ बुद्ध, पृ. 131.
  148. उपेन्द्र महारथी, वैशाली के लिच्छवि, पृ. 12; द्वितीय महासंगीति वैशाली के बालुका राम बिहार में हुई थी जिसमें 700 श्रेष्ठ बौद्ध भिक्षु सम्मिलित हुए थे, सभा की संपूर्ण व्यवस्था वैशाली निवासी 'अजित' नामक युवक भिक्षु ने की थी. संगीत की अध्यक्षता करने का गौरव भी वैशाली निवासी 'सर्वकामी' नामक भिक्षु को प्राप्त हुआ था.
  149. जातक नं. 94 (लोमहंस जातक) व 149 (एकपण्ण जातक).
  150. तीर्थकर महावीर, पृ. 77; बील, बुद्धिस्ट रिकार्ड आफ वेस्टर्न वर्ल्ड, द्वितीय खण्ड, पृ. 66-67
  151. अ. स. इ. अ. रि. भाग 16, (1880-81). पृ. 6; अ. आ. रा. ओ. सो. (1902). पृ. 275; शास्त्री (सम्पा.) कनिंघम की एंशियेन्ट ज्योग्राफी आफ इंडिया (कलकत्ता, 1924). पृ. 507-8; भण्डारकर द क्रानिकल लेटर्स (1918). पृ. 51; त्रिपाठी, हिस्ट्री आफ एंशियेन्ट इंडिया, पृ. 86; पो हिस्ट्री. चतुर्थ संस्करण. पृ. 93-100.
  152. अ. स. ई. अ. रि. 1913-14. इक्वेशन एट बसाद, पृ. 98-185; मिथिला, पृ. 119.
  153. अली हिस्ट्री आफ वैशाली, पृ. 131 : 'गव्युति' का आधुनिक माप 3 मील मिश्र जी मानते हैं। इस तीन प्रकारों का कुल क्षेत्रफल  $3 \times 3 = 9$  मील बताया है.
  154. जातक (कावेल संपा.) भाग 1, पृ. 316; इ. हि. क्वा. भाग 27. (1951), पृ. 331; महावग्ग के अनुसार (सै. बु. ई. 17, पृ. 171) वैशाली में 7707 मज्जिनों वाले भवन, 7707 गुम्बद वाले भवन तथा 7707 आराम (उद्यान) तथा 7707 कमल के पोखर थे.
  155. ज. ए. सो. बं. भाग 16(1921), पृ. 267; मलालेसकेरा, पृ. 143; पृ. 143; रॉकहिल, लाइफ आफ बुद्ध, पृ. 63.
  156. लुफोन, ललित विस्तर अध्याय iii, पृ. 21; हार्डी मैनुअल आफ बुद्धिज्म, पृ. 242-42; मलालेसकेरा, पृ. 943.
  157. हार्डी, वही, पृ. 242-43.
  158. रॉकहिल, वही, पृ. 63; ज. ए. सो. बं. भाग 17 (1921), पृ. 266-67; केन और 'सम्बर त्रिवारो' लिच्छवियों के बहुत महत्वपूर्ण त्योहार थे जिसमें 'लिच्छवि' लोग सारी रात उत्सव मनाते थे.
  159. रॉकहिल, वही, पृ. 63.
  160. डायलाग्स, भाग 11, पृ. 110
  161. रॉकहिल, वही, पृ. 62; इ. हिस्ट. क्वा. भाग 23, 58; वैशाली इक्वेशन, (1950), पृ. 1.
  162. रॉकहिल, वही, पृ. 62
  163. गिलगित मैनुस्क्रिप्ट, भाग 3, पार्ट ii, (नलिनाक्षदत्त द्वारा सम्पा.) श्रीनगर, कश्मीर (1942) पृ. 6.
  164. वैशाली इक्वे. 1950, पृ. 1.
  165. सुमंगल विलासिनी, भाग 1, पा. टे. सो. पृ. 309; ला, क्षत्रिय क्लान्स, 52-53.
  166. फाह्यान, पृ. 72, 75-77 पर फाह्यान लिखता है, 'जब आनन्द मगध से वैशाली परिनिर्वाण के लिए जा रहे थे तो देवों ने राजा अजातशत्रु को भविष्यवाणी करके आनन्द की इच्छा की सूचना दे दी;



भविष्यवाणी सुनकर राजा अपने कुछ सैनिकों के साथ तुरन्त विशाल यान द्वारा नदी पर पहुँचा दूसरी ओर वैशाली के लिच्छवियों ने जब यह सुना कि आनन्द उनके नगर आ रहे हैं तो वे सब उनका स्वागत करने नदी तट पर पहुँच गए, इस तरह नदी के दोनों तटों पर लोग एकत्र हो गए, यह देखकर आनन्द ने विचार किया, अगर वह आगे बढ़ते हैं तो अज्ञातशत्रु रुष्ट हो जाएंगे और यदि वह वापस मुड़ते हैं तो लिच्छवि बुरा मान जाएंगे, अतः उन्होंने नदी के मध्य ही समाधि ले ली। अपने अस्थि-अवशेष को दो भाग करके दोनों किनारों तक पहुँचा दिया, इस प्रकार आधे-आधे अस्थि-अवशेष को लेकर लिच्छवि व अज्ञातशत्रु अपनी-अपनी राजधानी में लौट आए और उन्होंने उस अस्थि-अवशेष पर एक-एक स्तूप बनवाया।

167. सुमंगल विलासिनी, भाग 1, पा. टे. सो., पृ. 309; ला, वही, पृ. 52-53.
168. वाटर्स, आन ह्वेन्त्सांग ट्रेवल, भाग 2, (लण्डन, 1905) पृ. 71; ला, वही, पृ. 54.
169. ज. अ. ओ. सो. (1902), पृ. 282; तिब्बती दुल्च (रॉकहिल, लाइफ आफ द बुद्ध, पृ. 62) भी इसी तरह वैशाली को 3 प्रमुख पुरों—वैशाली खास, कुण्डपुर व बनिया ग्राम में विभाजित करता है जो क्रमशः दक्षिणपूर्व, उत्तर पूर्व और पश्चिम में स्थित थे, कुण्डपुर के आगे उत्तरपूर्व दिशा में कोल्लाग उपनगर (सन्निवेश) था, नाथ (या क्षात्रि) शाखा के क्षत्रियों द्वारा आबाद था जिससे महावीर स्वामी संबंधित थे। (हाव्ले, उवासगदसाव भाग 2, अनूदित टिप्पणी 8. पृ. 4).
170. हितनारायण झा, लिच्छवि, पृ. 19.
171. श्री बिजयेन्द्र सूरी, वैशाली, दिल्ली, वि. सं. 2003, पृ. 19.
172. महावस्तु, 1, पृ. 256, 271.
173. योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 132.
174. जातक (कावेल सम्पा.), भाग 1, पृ. 316; दुल्च (रॉकहिल वही, पृ. 62); महावग्ग (सै. बु. ई. 17, पृ. 171).
175. महावग्ग' viii. 1.1.1 भाग 2. पृ. 122, एन. के. भागवत, संस्करण, बम्बई 1952); दुल्च (रॉक हिल, वही, पृ. 62); गिलगित मैनुस्क्रिप्ट, भाग 3. पार्ट 2, पृ. 6; ललित विस्तर (अंग्रेजी अनुवाद पृ. 38-39).
176. ज. ए. सो. व. भाग 84, दिसं. 1838. पृ. 992 पाद टिप्पणी.
177. वही, भाग Lxix 1900, पार्ट 1, पृ. 78-83.
178. कर्निषम, अ. स. इ. अ. रि. भाग 1, पृ. 55-56 एवं भाग 16, पृ. 6; एशियेटि ज्योग्राफी आफ इंडिया पृ. 507-508; वैशाली इक्वे, 1950, पृ. 2.
179. वै. अभि. ग्र. पृ. 149-158.
180. अ. स. इ. अ. रि, 1903-4, पृ. 81-122.
181. अ. स. इ. अ. रि, 1903-4, पृ. 82 बनर्जी, द एज आफ इंपीरियल गुप्ता, पृ. 4.
182. अ. स. इ. अ. रि पृ. 98-185.
183. अ. स. इ. अ. रि, 1958-9, पृ. 12-16; वैशाली इक्वे, 1950, पृ. 2.

## प्रारंभिक राजनीतिक इतिहास

वाल्मीकि रामायण<sup>1</sup> से ज्ञात होता है कि कोसल के राजा दशरथ तथा विदेह के राजा सीरध्वज जनक के समय वैशाली में सुमति का शासन था। राजा सुमति ने राम तथा लक्ष्मण के वैशाली आगमन<sup>2</sup> पर उनका सत्कार किया था। सुमति के पश्चात् वैशाली में कौन राजा हुआ। इसका कहीं उल्लेख नहीं है। सभी पुराणों<sup>3</sup> में सुमति को वैशाली के अंतिम इक्ष्वाकु वंशीय राजा के रूप में दर्शाया गया है। इससे विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि संभवतः सुमति के पश्चात् वैशाली में इक्ष्वाकु वंशीय राजाओं का शासन समाप्त हो गया, और वैशाली क्षेत्र विदेह राजा के अंतर्गत आ गया।<sup>4</sup> योगेन्द्र मिश्र<sup>5</sup> के अनुसार वैशाली क्षेत्र संभवतः कई छोटे-छोटे गणराज्यों में विभाजित हो गया था। देवसहाय त्रिवेद<sup>6</sup> का मत है कि वैशाली क्षेत्र का एक बड़ा भू-भाग संभवतः विदेह में मिला लिया गया। सतीशचन्द्र सरकार<sup>7</sup> का अनुमान है कि सुमति के पश्चात् वैशाली संभवतः कुछ समय के लिए कोशल का भाग रहा हो, लेकिन बाद में राम के पश्चात् जब अयोध्या का अपकर्ष हो रहा था उस समय वैशाली मिथिला के अधिकार में आ गया। वी. रंगाचार्य<sup>8</sup> के अनुसार सुमति के पश्चात् वैशाली विदेह के अधीन आ गया था और राज्यक्रांति के समय तक यह विदेह के अधीन ही रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि वैशाली विदेह में आत्मसात हो गया था, क्योंकि वैशाली विदेह से लगा था।

महाभारत युद्ध के समय वैशाली तथा वैशाली के लोगों का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, जबकि मल्लों का उल्लेख है।<sup>9</sup> संभवतः इस क्षेत्र में ही शक्तिशाली गणराज्य था।<sup>10</sup> महाभारत में वैशाली का अलग से उल्लेख न होने का कारण संभवतः उसका विदेह राज्य का अंग होना रहा हो। राधाकृष्ण चौधुरी का मत है कि भारत युद्ध के समय मिथिला का राजा क्षेमधूर्ति<sup>11</sup> था जो दुर्योधन के पक्ष में महाभारत युद्ध में सम्मिलित हुआ था।<sup>12</sup> संभवतः उस समय विदेह राज्य के अंतर्गत वैशाली क्षेत्र में वृजि (वज्जि) के अतिरिक्त उग्र, ज्ञातिक, भोग, कौरव, लिच्छवि, अक्षविक आदि क्षत्रिय कुल भी निवास करती थी।<sup>13</sup> और इनका प्रशासनिक स्वरूप गणतांत्रिक रहा हो। महाभारत<sup>14</sup> में भीष्म कहते हैं कि आर्य भूमि में कुछ ऐसे भी गणराज्य हैं जहां हर कोई अपने को राजा

कहता है। उसका संकेत संभवतः वज्जि भूमि में फैले गणों की ओर था।<sup>15</sup> देवसहाय त्रिवेद<sup>16</sup> का मत है कि उस समय तक ये छोटे-छोटे गणराज्य ठीक से विकसित नहीं हो पाए थे, इसलिए उनका स्पष्ट उल्लेख महाभारत में नहीं हो पाया। योगेन्द्र मिश्र ने महाभारत में उल्लिखित कुछ गणों की पहचान वैशाली क्षेत्र के गणों से करने का प्रयास किया है। उसके अनुसार महाभारत<sup>17</sup> में उल्लिखित 'वैशाली: भोगिनः' जो नाग कुल के प्रमुख थे तथा भारत युद्ध में अर्जुन की सहायता की थी, संभवतः वैशाली 'भोग' कुल के प्रमुख थे।<sup>18</sup> इसी प्रकार उसके मत में महाभारत<sup>19</sup> में उल्लिखित 'भद्रा वैशाली' नामक कुमारी संभवतः 'विशाला के राजा' की पुत्री थी। उसके अनुसार यह विशाला उत्तर बिहार की वैशाली हो सकती है।<sup>20</sup> इसी तरह उन्होंने कुछ अन्य गणों<sup>21</sup> का संबंध भी वैशाली से जोड़ने का प्रयास किया है। महाभारत में विशाला<sup>22</sup> नदी का उल्लेख है, जो गण्डकी की एक शाखा या सहायक नदी थी तथा इस क्षेत्र से होकर बहती थी। इस क्षेत्र में यह पवित्र नदी मानी जाती थी जिसके किनारे करवीर पुरा<sup>23</sup> में 'करवीर'<sup>24</sup> नामक पवित्र स्थल था। सतीशचन्द्र सरकार<sup>25</sup> इस तीर्थस्थल की पहचान वैशाली क्षेत्र के कोल्हुआ नामक गांव से करते हैं, जो वाया नदी (न कि गया) के किनारे वर्तमान सरैया से सटा हुआ है।

महाभारत युद्ध के पश्चात् तथा भगवान बुद्ध के पूर्व वैशाली के विषय में कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। लेकिन विदेह के विषय में उल्लेख मिलता है। भारत युद्ध के पश्चात् जनक परंपरा<sup>26</sup> में कृति जनक नामक बहुत बड़े दार्शनिक राजा हुए थे, जो हस्तिनापुर के जनमेजय के समकालीन थे। इसकी पुष्टि इस साक्ष्य से होती है कि कृति जनक की सभा में ही याज्ञवल्क्य थे जिनके पास जनमेजय के पुत्र व उत्तराधिकारी शतानिक वेदों का अध्ययन करने के लिए गए थे।<sup>27</sup> रिस डेविड्स<sup>28</sup> कृति जनक की पहचान महाजनक (जातक, 539) से करते हैं जो महान् दार्शनिक राजा थे। पुराण कृति जनक के पश्चात् विदेह वंश की सूची समाप्त कर देते हैं।<sup>29</sup> इससे विदित होता है कि कृति जनक के पश्चात् विदेह में राजा दुर्बल होने लगे थे। कृति जनक के उत्तराधिकारी अपने वंश की प्रतिष्ठा व शक्ति को अक्षुण्ण बनाए रखने में असमर्थ रहे।<sup>30</sup> इसके पश्चात् के कई विदेह राजाओं के नाम पुराणों में मिलते हैं, लेकिन उनको क्रमबद्ध करना तथा उनका कालनिर्धारण करना किसी प्रकार संभव नहीं है।<sup>31</sup> जातकों में कई विदेह राजाओं का उल्लेख मिलता है। सुरचि जातक<sup>32</sup> में सुरचि नाम के किसी राजा का उल्लेख है जिसका पुत्र सुरचिकुमार तथा पौत्र महापनाद था। गंधार जातक<sup>33</sup> में एक विदेह राजा 'विदेह' का उल्लेख है जो गंधार के राजा बोधिसत्व से वार्तालाप करता है। महाजनक<sup>34</sup> में महाजनक नामक राजा को मिथिला में राज्य करते दर्शाया है जिसके दो पुत्र अरिडुजनक और पोलजनक हुए। लेकिन कुछ समय पश्चात् पोलजनक की अचानक मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् उसका पुत्र महाजनक द्वितीय का पुत्र व उत्तराधिकारी दीघावु (दिर्घायु ?) कुमार था। निमिजातक<sup>35</sup> भी हमें कुछ विदेह राजाओं की सूचना देता



है। कथनानुसार मिथिला में एक राजा महादेव हुआ था जिसने जीवन के अंतिम समय में संन्यास ग्रहण कर लिया। उसके पश्चात् निमि राजा हुआ, उसने भी पूर्वजों का अनुसरण किया। निमि का पुत्र कराल (कराल) जनक था। इसी तरह महानारद कस्सप जातक<sup>36</sup> से ज्ञात होता है कि एक अंगति नामक धार्मिक राजा ने मिथिला पर राज्य किया था। महाउम्मगं जातक<sup>37</sup> में भी एक विदेह राजा को मिथिला में राज्य करता दर्शाया गया है जिसने उत्तर पांचाल के हठीचूलनि ब्रह्मदत्त के विरुद्ध युद्ध किया था। साधुन जातक<sup>38</sup> में एक और राजा साधुन का वर्णन मिलता है जो अपने सदाचार और सज्जनता के लिए काफी प्रसिद्ध था। इसी प्रकार सांख्यान श्रोतसूत्र<sup>39</sup> में अह्वार नामक एक और विदेह राजा का उल्लेख मिलता है।

जातकों में उल्लिखित इन राजाओं का काल तथा क्रम निर्धारण करना कठिन है, क्योंकि इन राजाओं की क्रमसूची न पुराणों में और न बौद्ध जैन ग्रंथों में ही मिलती है। इसके अतिरिक्त जातकों के विवरण और भी समस्या पैदा करते हैं। जब वे कराल जनक को निमि का पुत्र कहते हैं। उपेन्द्र ठाकुर<sup>40</sup> पुराणों के कृतिजनक की पहचान निमि या महाजनक से करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि कराल जनक का समय महाभारत युद्ध के समीप होना चाहिए, जबकि हम कराल जनक जिसके राज्य काल में राज्यक्रांति हुई और राजतंत्र का अंत हुआ, को भगवान बुद्ध के बहुत अधिक पूर्व नहीं रख सकते हैं। कराल जनक राज्य काल में राज्यक्रांति की पुष्टि अश्वघोष<sup>41</sup> करते हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र<sup>42</sup> में भी प्रसंगवश कहा गया है कि कराल जनक कामवश एक ब्राह्मण कन्या का स्त्रीत्व नष्ट करने के कारण अपने बंधु-बांधव सहित विनष्ट हो गए।

विदेह में राज्यक्रांति के पश्चात् संभवतः हिमालय की तराई से लेकर गंगा की उपत्यका के मध्य के क्षेत्र में कई गणराज्यों का उदय हुआ जिनका उल्लेख अंगुत्तर निकाय<sup>43</sup> में मिलता है। इनमें से कुछ राज्याधीन तथा कुछ संघाधीन थे।<sup>44</sup> लिच्छवि संघाधीन गणराज्य था।

### लिच्छवि या वज्जि गणराज्य

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि कराल जनक की हत्या के उपरांत विदेह में राजतंत्र का अंत हो गया और तत्पश्चात् इस संपूर्ण क्षेत्र का पुनः राजनीतिक गठन हुआ जिसके फलस्वरूप इस क्षेत्र में एक संगठित गणराज्य (वज्जि गणराज्य) का उदय हुआ है। अब हम कुछ महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर वज्जि गणराज्य की स्थापना-तिथि निर्धारित करने का प्रयास करेंगे।

1. बौद्ध साहित्य से ज्ञात है कि भगवान बुद्ध के समय (563-483 ई. पू.) वज्जि गणराज्य एक पूर्ण विकसित एवं सुसंगठित गणराज्य था।<sup>45</sup> वज्जि गणराज्य को इस उच्च स्तर तक पहुंचने के लिए कुछ समय अवश्य लगा होगा।

2. भगवान बुद्ध ने समय के सोलह महाजनपदों<sup>46</sup> में वज्जि गणराज्य के अतिरिक्त काशी व अंग भी महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। उत्तर बिहार के आगे के इतिहास से ज्ञात होता है कि बाद में काशी पर कोसल तथा अंग पर मगध का अधिकार हो गया था। इस प्रकार काशी और अंग पर क्रमशः कोसल तथा मगध द्वारा अधिकार किए जाने के पूर्व वज्जि या लिच्छवि अपने गणतंत्र को स्थापित करते हैं। कोसल द्वारा कोसल पर अधिकार करने की निश्चित तिथि ज्ञात नहीं है। जातकों<sup>47</sup> में काशी तथा कोसल राज्यों के बीच दीर्घकाल से चलती आ रही वैमनस्य का विवरण मिलता है जिसमें कभी इस पक्ष की कभी उस पक्ष की जीत होती थी। लेकिन अंतिम रूप से काशी पर कोसल का अधिकार कब हुआ, यह किसी भी जातक से स्पष्ट नहीं होता है। रायचौधुरी<sup>48</sup> का मत है कि कोसल द्वारा काशी पर अंतिम रूप से विजय हासिल करना कंस का कार्य था, जिसके नाम के साथ 'बाराअसगिहो' (अर्थात् बनारस का विजेता) जुड़ा है।<sup>49</sup> इस कंस का शासन संभवतः भगवान बुद्ध से बहुत पूर्व नहीं था। क्योंकि न केवल भगवान बुद्ध के समय में, बल्कि उनके समय के पश्चात् भी जब अंगुत्तर निकाय का पुस्तकीकरण हुआ, लोगों के मस्तिष्क में काशी की स्वतंत्रता की याद ताज़ी बनी रही थी।<sup>50</sup> काशी कोसल का अंग संभवतः छठी शताब्दी ई. पू. के मध्य में प्रसेनजित के पिता महाकोसल के समय में बना था।<sup>51</sup> हरितमात<sup>52</sup> तथा वड्ढकी सूकर<sup>53</sup> जातक में उल्लेख मिलता है कि महाकोसल ने बिम्बिसार के साथ अपनी पुत्री के विवाहोपलक्ष्य में काशी गांव दहेज में दिया। इस प्रकार काशी के कोसल द्वारा अधिकृत किए जाने की घटना प्रसेनजित के पिता महाकोसल के समय में हुई होगी जिसे छठी शताब्दी ई. पू. के मध्य के पूर्व रखा जा सकता है, क्योंकि प्रसेनजित, भगवान बुद्ध तथा मगधराज बिम्बिसार का समकालीन<sup>54</sup> था।

इसी प्रकार मगध द्वारा अंग पर अधिकार करने की घटना बिम्बिसार के शासनकाल (543-491 ई. पू.) में स्थान लेती है।<sup>55</sup> अतः स्पष्ट है कि वज्जि गणराज्य की स्थापना भगवान बुद्ध (563-483 ई. पू.), काशी और अंग क्रमशः कोसल तथा मगध द्वारा आत्मसात किए जाने के पूर्व तथा कराल जनक की मृत्यु के पश्चात् हुई होगी। विदेह के राजाओं में कृति जनक के बारे में आगे पुराण कोई सूचना नहीं देते।<sup>56</sup> इसलिए स्पष्ट नहीं कहा जा सकता है कि भारत युद्ध के पश्चात् कराल जनक तक कितने मैथिल राजाओं ने राज्य किया। लेकिन मगध के विषय में पुराण तथा बौद्ध ग्रंथ थोड़ा बहुत प्रकाश अवश्य डालते हैं। अतः हम मगध राजा बिम्बिसार के माध्यम से वज्जि गणराज्य की तिथि निर्धारित करने का प्रयास करेंगे।

पुराणों<sup>55</sup> में हमें भारत युद्ध के पश्चात् तीन राजवंशों—पौरव (हस्तिनापुर-कोशाम्बी), इक्ष्वाकु (कोसल) तथा बार्हद्रथ (मगध) की सूची मिलती है जो भारत युद्ध से महापद्मनन्द से शासन काल तक शासन करते हैं। पुराणों<sup>58</sup> के अनुसार महापद्मनन्द ने 24 वर्ष तथा उसके 8 पुत्रों ने 12 वर्ष राज्य किया था। इस प्रकार महापद्मनन्द, चन्द्रगुप्त



मौर्य के (323 ई. पू.) शासन में आने के 40 वर्ष पूर्व  $323 + 40 = 363$  ई. पू. सिंहासन पर बैठा होगा।

इसी प्रकार महावंश<sup>59</sup> मगध के राजाओं और उनके शासनावधि की सूचना देता है कि बिम्बिसार (52 वर्ष), अजातशत्रु (32 वर्ष), उदायी (16 वर्ष), अनुरुद्ध तथा मुण्ड (8 वर्ष), नागदासक (24 वर्ष), शिशुनाग (18 वर्ष), कालाशोक (28 वर्ष) तथा कालाशोक के 10 पुत्रों ने (22 वर्ष) तक शासन किया। जैन ग्रंथ परिशिष्ट पर्व के अनुसार महापद्मनन्द कालाशोक (काकवर्ण) की हत्या करके सिंहासन पर बैठा था।<sup>60</sup> अतः कालाशोक के पुत्रों की 22 वर्ष की शासनावधि (संभवतः महापद्मनन्द ने 22 वर्ष इन राजपुत्रों के संरक्षक के रूप में तथा 6 वर्ष स्वतंत्र शासक के रूप में राज्य किया था) उक्त मगध राजाओं के कुल शासन काल से निकाल देने पर बिम्बिसार से कालाशोक तक का योग 178 या 180 वर्ष (सुविधा के लिए मान लें, क्योंकि प्रत्येक राजाओं के शासनावधि में महीनों की गणना छोड़ दी गई होगी) आता है। इस गणना के अनुसार बिम्बिसार  $363 + 180 = 543$  ई. पू. के लगभग सिंहासन पर बैठा होगा। महावंश के अनुसार उसने 52 वर्ष राज्य किया अर्थात् उसने 543-491 ई. पू. तक शासन किया। जनश्रुति<sup>61</sup> के अनुसार बिम्बिसार की मृत्यु भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण (483 ई. पू.) के 8 वर्ष पूर्व, अर्थात्  $483 + 8 = 491$  ई. पू. में हुई थी। इस तरह अजातशत्रु लगभग 491 ई. पू. में सिंहासन पर बैठा होगा। अजातशत्रु के ही शासन काल में महावीर स्वामी का महापरिनिर्वाण<sup>62</sup> (485 ई. पू.) तथा भगवान बुद्ध का महानिर्वाण (483 ई. पू.) हुआ था। अतः बिम्बिसार का शासनकाल 543-491 ई. पू. मानना होगा क्योंकि यह तिथि उस समय की किसी भी घटना की तिथि निर्धारण में बाधा उपस्थित नहीं करती है।

अब हमारे पास दो तिथियां बिम्बिसार (543-491 ई. पू.) तथा भगवान बुद्ध (563-483 ई. पू.) की हैं। इसी तरह कोसल का प्रसेनजित भगवान बुद्ध का हमउम्र तथा बिम्बिसार का समकालीन था।<sup>63</sup> इन तीनों व्यक्तियों के पूर्व कराल जनक का समय निश्चित करने के लिए कोई ठोस साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। योगेन्द्र मिश्र<sup>64</sup> पार्जितर द्वारा प्रतिपादित विधि से गणना करते हुए कराल जनक की मृत्यु तथा वज्जि गणराज्य की तिथि 725 ई. पू. के लगभग निश्चित किया है। उपेन्द्र ठाकुर<sup>65</sup> ने भी इसी विधि का अनुसरण करते हुए कराल जनक की मृत्यु तथा वज्जि गणराज्य की स्थापना की तिथि 750 ई. पू. के लगभग निश्चित किया है। राय चौधरी<sup>66</sup> विदेह में राजतंत्र की समाप्ति तथा कराल जनक की मृत्यु की तिथि 600 ई. पू. के लगभग निश्चित करते हैं। लेकिन 600 ई. पू. में वज्जि-गणराज्य की स्थापना तिथि इसलिए उचित नहीं प्रतीत होती है क्योंकि भगवान बुद्ध के समय में वज्जि गणराज्य एक पूर्ण विकसित तथा सुसंगठित गणराज्य था। इस उच्च स्तर की स्थिति प्राप्त करने में कुछ समय अवश्य लगा होगा। अतः हम यहां केवल यह कह सकते हैं कि कराल जनक की मृत्यु 650 ई. पू. में हुई



होगा, तथा वज्जि गणराज्य की स्थापना 600 ई. पू. के कुछ वर्ष पूर्व लगभग 650 ई. पू. में हुई होगी। संभवतः पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी लिखे जाने का समय भी यही था।<sup>67</sup> पाणिनि ने पालि के वज्जि को वृजि<sup>68</sup> (संस्कृत) का उल्लेख एक गणराज्य के रूप में किया है।

**विदेह वज्जि संघ में सम्मिलित था या नहीं**

योगेन्द्र मिश्र<sup>69</sup> ने इस प्रश्न को उठाते हुए निष्कर्ष निकाला कि 'विदेह वज्जि संघ में सम्मिलित नहीं था, बल्कि यह कराल जनक की मृत्यु के पश्चात् भी एक राजतंत्र के रूप में अस्तित्व में रहा, जिसे बाद में महापद्मनन्द ने 363 ई. पू. में ध्वस्त किया था। इसीलिए पतंजलि के समय के पूर्व विदेह का कहीं भी गणराज्य के रूप में उल्लेख नहीं हुआ है।' हम यहां इस मत की समीक्षा करेंगे।

1. योगेन्द्र मिश्र ने जातकों में उल्लिखित विदेह राजाओं (जिनकी कुल संख्या जातकों में 15 है) का शासन कराल जनक की मृत्यु के पश्चात् माना है।<sup>70</sup> लेकिन बहुत से विद्वानों<sup>71</sup> ने जातकों में उल्लिखित कुछ विदेह राजाओं की पहचान कराल जनक के पूर्व जनक राजाओं से की है। उपेन्द्र ठाकुर ने जातकों के विदेह राजाओं को ऐतिहासिक तथ्य के रूप में लेने से पैदा होने वाली समस्याओं<sup>72</sup> की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए इन राजाओं को विदेह गण के नेता<sup>73</sup> के रूप में मानने की राय दी है।

2. इसी तरह योगेन्द्र मिश्र का यह तर्क है कि सूत्रकृतांग<sup>74</sup> में उल्लिखित 6 क्षत्रिय कुल (उग्र, भोग, अक्षविक ज्ञातृक, कौरव तथा लिच्छवि) में विदेह का उल्लेख नहीं होने से स्पष्ट है कि विदेह वज्जि संघ में सम्मिलित नहीं था। लेकिन उक्त ग्रंथ में वज्जि (अट्टकथा के परमत्यजोतिका<sup>75</sup> के अनुसार जिन्हें गोपालक कहा गया है) का भी उल्लेख नहीं है। क्या उसे भी वज्जि संघ से अलग माना जाए? अतः योगेन्द्र मिश्र का यह तर्क समीचीन नहीं प्रतीत होता है।

3. भारत युद्ध के पश्चात् तथा महापद्मनन्द के समय तक विदेह में अगर राजतंत्र व्यवस्था जारी रही होती तो पुराण कृति जनक (जनमेजय कालीन) के आगे भी संभवतः उस राजाओं का क्रम जारी रखते। इसके अभाव में कहा जा सकता है कि विदेह में राजनीतिक उथल-पुथल हुई होगी। संभव है, कराल जनक तक जनक वंश के राजा किसी-न-किसी रूप में अपने को स्थापित किए रहे होंगे। इन राजाओं को जातकों में खोजा जा सकता है। लेकिन कराल जनक की मृत्यु के पश्चात् यह स्थिति भी संभवतः नहीं रह गई, और विदेह में गणराज्य स्थापित हो गया। उपेन्द्र ठाकुर का मत है कि पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी लिखे जाने के पूर्व तक विदेह और वैशाली अलग-अलग गणराज्य के रूप में अस्तित्व में रहे होंगे।<sup>76</sup> और बाद में अन्य 6 कुलों को मिलाकर वज्जि संघ की स्थापना कर ली हो।<sup>77</sup> इस प्रकार अजातशत्रु द्वारा वज्जि संघ तोड़े जाने

तक यह वज्जि संघ का एक अंग रहा होगा।<sup>78</sup>

4. योगेन्द्र मिश्र ने<sup>79</sup> बौद्ध साहित्य में उल्लिखित कुछ राजाओं को भगवान बुद्ध का समकालीन विदेह राजा सिद्ध करने का प्रयास किया है जो समीचीन नहीं प्रतीत होता है। उन्होंने ललित विस्तर<sup>80</sup> में उल्लिखित सुमित को विदेह का राजा माना है। लेकिन पुराणों<sup>81</sup> में इस सुमित को स्पष्ट रूप से बृहद्वल (इक्ष्वाकु वंशीय राजा जो भारत युद्ध में कौरवों के पक्ष में लड़ा तथा अभिमन्यु द्वारा मारा गया था) के वंश का राजा बताया गया है। इसी प्रकार योगेन्द्र मिश्र ने तिब्बती दुल्व<sup>82</sup> में उल्लिखित विरुद्धक को विदेह का राजा कहा है जो उचित नहीं है क्योंकि विरुद्धक (विडुभ) प्रसेनजित का पुत्र व उत्तराधिकारी था। इसने ही भगवान बुद्ध की मृत्यु के कुछ माह पूर्व शाक्यों पर आक्रमण कर उन्हें जड़ मूल नष्ट कर दिया था।<sup>83</sup>

5. विदेह में राजतंत्र के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए उन्होंने अपने अंतिम साक्ष्य में गिलगित मैनुस्क्रिप्ट<sup>84</sup> की कथा का उल्लेख करते हुए कहा है कि विदेह बिम्बिसार तथा भगवान बुद्ध के समय एकाधीन राज्य था। इसमें उल्लिखित कथा के अनुसार 'मगध या विदेह राज' (स्पष्ट नहीं है) में 500 अमात्यों का प्रधान अमात्य खण्ड था जो अन्य अमात्यों की ईर्ष्या के कारण राज्य छोड़कर वैशाली चला गया, जो गणाधीन था। लेकिन गिलगित मैनुस्क्रिप्ट का यह विवरण बहुत विवादास्पद है। अन्य विद्वान जहां 'विदेहराज' पढ़ते हैं वहां वी. के. भट्टाचार्य<sup>85</sup> 'मगधराज' पढ़ते हैं। अतः इस विवादास्पद विवरण को आधार मानकर कोई निष्कर्ष निकालना उचित प्रतीत नहीं होता।

6. पुराणों<sup>86</sup> का कथन है कि भारत युद्ध के पश्चात् महापद्मनन्द के समय तक मिथिला में 28 राजाओं ने राज्य किया। किंतु पुराणों में मात्र 28 राजाओं की संख्या का उल्लेख होने से यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता है कि विदेह में भारत युद्ध के पश्चात् 28 राजाओं ने राजतंत्रीय व्यवस्था के अंतर्गत क्रमबद्ध रूप में शासन किया। अतः केवल यही अनुमान लगाया जा सकता है कि कराल जनक की मृत्यु के पश्चात् विदेह वज्जि संघ का अंग होकर अस्तित्व में रहा होगा तथा वज्जि संघ के पतन के पश्चात् कभी अलग हो गया होगा। इसीलिए पतंजलि ने महाभाष्य<sup>87</sup> में विदेह तथा लिच्छवि का अलग-अलग गणराज्य के रूप में उल्लेख किया। रिस डेविड्स<sup>88</sup> भी विदेह में हुए शासन व्यवस्था के परिवर्तन की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि वैदिक साहित्य तथा जातक के अनुसार यहां पहले राजतंत्र था तथा बाद में गणतंत्र के अंतर्गत आ गया। मेगस्थनीज अपने यात्रा विवरण में लिखता है कि यहां तीन बार प्रजातंत्र शासन प्रणालियां स्थापित की गई थीं, और तीन बार पुनः एकराज शासन प्रणाली के रूप में परिवर्तित हुई।<sup>89</sup>

उपरोक्त तथ्यों के अवलोकन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विदेह वज्जि संघ का अंग रहा था, जैसा कि अन्य बहुत से विद्वानों ने भी स्वीकार किया

है।<sup>90</sup> इसीलिए अंगुत्तर निकाय में विदेह का अलग से उल्लेख नहीं हुआ।<sup>91</sup> कौटिल्य ग्रंथों से भी हमें यह ज्ञात होता है कि वैशाली में रहने वाले प्रत्येक कुल अलग-अलग प्रतीकात्मक रंग का अपना पताका तथा वस्त्र धारण करता था।<sup>92</sup> इसका उल्लेख विजेन्द्र सूरि सूचना देता है कि निर्यायलियों में लिखा है कि विदेह की राजधानी वैशाली भी रही थी।<sup>93</sup> इसी तरह वारद्वीय ग्रन्थों में राजवंश विदेह-राजवंश पुरुष चरितम्<sup>94</sup> में भी विदेह की राजधानी वैशाली होने की पुष्टि की गई है। इन विवरणों से पता चलता है कि विदेह की राजधानी में परिवर्तन होता रहा है। उसके काल में मिथिला तथा भगवान बुद्ध के समय में वैशाली इस संपूर्ण क्षेत्र की राजधानी रही होगी।<sup>95</sup> इसीलिए महावीर स्वामी की जैन ग्रंथों में विदेह पुरु, वैदेहवत्स विदेहजात्य तथा विदेहकुमार के साथ ही वैशालिये (वैशालिक) के नाम से भी पुकारा गया है।<sup>96</sup>

## संदर्भ तथा टिप्पणियाँ

1. उपेन्द्र ठाकुर, मिथिला, पृ. 63; बाल्मीकि रामायण, i, 47-48
2. बाल्मीकि रामा (सम्पा. जी. एच. भट्ट, ओरियंटल इन्स्टीट्यूट, बरोदा, 1960), i, 46.17-20.  
तस्य पुत्रो महातेजाः सम्प्रत्येष पुरीमिमाम्  
आवसत्यमरप्रख्यः सुमतिर्नाम दुर्जयः ॥17॥  
सुमतिस्तु महातेजा विश्वामित्रमुपागतम्  
क्षुत्वा नखरश्रेष्ठः प्रत्युद्रच्छन्महायशः ॥20॥
3. वायु, 85.22; विष्णु, iv.1.59, 61; गरुड, 1.38, 14. भाग ix, 2.36; सु. 4.1.17. मिथिला सु. 115-16; पार्ष्वि, एशियेन्ट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशनस (लण्डन) 1922, सु. 1.47. वैशाली सु. 115.
4. उपेन्द्र ठाकुर, मिथिला, पृ. 63; सुमति के विभिन्न नाम पुराणों में मिलते हैं जैसे विष्णु सु. (115.22) में सुमति, भाग पु. (ix, 2.36) में सुमात तथा रामा (1.47.17) में क्षमति लेकिन सभी में इस अज्ञेय राजा के रूप में दर्शाया है.
5. योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 88.
6. डी. एस. त्रिवेद, ज. बि. रि. सो. (1951) भाग, 1-2, पृ. 140.
7. डी. एस. सरकार, वै. अभि. ग्र. पृ. 62.
8. बी. रंगाचार्य, वेदिक इंडिया पार्ट 1, पृ. 434.
9. महा, ii, 30.3, 12.
10. योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 87.
11. रा. कृ. चौधुरी, वही, पृ. 4; महा, कर्णपर्ण, अध्याय 3, सत्यवतस्य सिक, विष्णो अथ विष्णु सु. 16-17 : क्षेमभृति की पहचान मिथिला के राजा क्षेमार् (तबलु सु) से की जा सकती है.
12. वही, पृ. 4; महा आदि पर्ण, 113.
13. अति प्राचीन ग्रंथ 'मृग कुलाग' में वैशाली क्षेत्र के छः परिवर्तन से 10, भोज, अश्विनिक, उदिक, कोस्य तथा लिच्छवि का उल्लेख है जिनके पहले सत्यवत अपने को राजा कहते थे (सी. सु. पृ. 45, पृ. 339).



14. महा. xiii. 81. 107 : भीष्म कहते हैं, आर्य भूमि में कुछ ऐसे राज्य हैं जहां हर कोई अपने को राजा कहता है।
15. वै. अभि. ग्रं., पृ. 100; मिथिला, पृ. 117.
16. देवसहाय त्रिवेद, ज. रि. सो. 1951, भाग 1-2, पृ. 140.
17. महा. viii. 80,44.
18. योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 90; अथर्ववेद (vii. 10.29) में एक तक्षक वैलासियः का उल्लेख मिलता है तथा वैशाली के नागाओं का उल्लेख दीघ निकाय (झाय. ii, पृ. 288) में भी है, इसी तरह शिशु नाग का संबंध वैशाली से है (द्रष्टव्य, जार्ज टर्नर, महावंश, सीलोन, 1837, भूमिका, पृ. 37-38). संभवतः 'भोग' कुल के लोग मुकुट में सर्पफण को अलग से पहचान के रूप में लगाते थे. सर्पफण से चित्रित शुंग काल की मूर्तियां इस क्षेत्र के उत्खनन में मिली हैं जो वैशाली संग्रहालय में सुरक्षित रखी हैं।
19. महाभारत के भाष्यकार नीलकण्ठ के अनुसार (महा. iii. 139; xii. 344.20) विशाला नदी बंदी के पास (महा. iii. 90.25-26) में बहती थी।
20. वैशाली, पृ. 89
21. महा. vi.9.56-57 : कच्छों, गोपालकक्षों, जांगलों, कुरु बाणकों, किरातों, बर्वरों, सिद्धों, वैदेही तथा ताम्रलिप्टकों आदि का उल्लेख गणों की सूची में है, इनमें से 'गोपाल कक्ष' का संबंध गोपालक वज्रियों से जोड़ा गया है इसी तरह महाभारत (महा. ii.29.4) में उल्लिखित पूर्वी कबीले जिन्हें भीम ने दिग्विजय के समय परास्त किया था, का संबंध मूल वैशाली क्षेत्र से जोड़ा गया है. (वैशाली, पृ. 91-94 पर उद्धृत)
22. महा. ix.38.4, 21; xiii, 25.44.
23. महा. xiii.25.44.
24. महा. i.35.12; x 3.14; वै. अभि. ग्रं., पृ. 63.
25. वै. अभि. ग्रं., पृ. 63.
26. मिथिला, पृ. 30 : विद्वानों ने 'जनक' नाम को पारिवारिक वंश पद माना है (राय चौधुरी, पो. हिस्ट्री, पृ. 54); वायु पुराण (89.23) कहता है :  
धृतेषु बहुला श्वोऽभद बहुला श्वसुतः कृतिः  
तस्मिन् सतिष्ठतैवंशो जनकानां महात्म नाम् ॥  
जनक पद के लिए देखिए, महा. iii. 133.17; रामा. i.67.8; i 5.3; भाग, ix,13; पार्जितर के अनुसार मिथि से जनक वंश नाम का आरंभ हुआ (मिथिला, पृ. 31 पर उद्धृत); जातकों में कई सारे जनकों के उल्लेख मिलते हैं, परंतु यहां जनक को जन कबीले के नेता के रूप में लिया गया है (मिथिला, पृ. 32), अतः जातकों में आए जनक राजाओं को राजतंत्रीय परंपरा में नहीं लिया जा सकता है।
27. मिथिला, पृ. 4 : जनक और याज्ञवल्क्य दोनों हिरण्य नामक व्यक्ति के शिष्य थे। याज्ञवल्क्य और कृतिजनक के समकालीन होने के प्रमाण का इससे भी पता लगता है कि जनमेजय के पुत्र व उत्तराधिकारी शतानिक याज्ञवल्क्य के पास वेदों का अध्ययन करने के लिए गए थे।
28. रिस डेविड्स (बुद्धिष्ट इंडिया, पृ. 26).
29. मिथिला, पृ. पुराणों में भारत युद्ध के पश्चात् केवल तीन राजवंशों की वंश तालिका मिलती है जो भगवान बुद्ध के समय तक क्रमबद्ध रूप से चलते हैं. वे हैं, पौरव (हस्तिनापुर, कोशाम्बी), इक्ष्वाकु (कोशल) तथा बार्हद्रथ (मगध)। एन. एन. प्रसाद, क्रानोलाजी आफ एशियेन्ट इंडिया, पृ. 249-259).
30. वही, पृ. 53.
31. वही, पृ. 54-58.

32. सुरुचि जातक, संख्या, 489.
33. गंधार जातक, 406.
34. जातक, 539.
35. जातक, 541.
36. जातक, 544.
37. जातक, 546.
38. जातक, 494.
39. सांख्यायन श्रौतसूत्र, xvi.9.11.
40. मिथिला, पृ. 51.
41. जातक, 541; अश्व घोष, बुद्ध चरित्र, iv, 80; ईस्ट, सी, xi-ix, 45; पो. हिस्ट्री, छठा संस्करण, 81 : रायचौधुरी कराल जनक की पहचान पुराण के कृति जनक से करते हैं, द वैदिक एंज, पृ. 236; मिथिला, पृ. 59.
42. अर्थ. 1.7 दाण्डक्यो नाम भोज : कमाद् ब्राह्मण कायामभिमन्यमानः सवन्धु राष्ट्रो विनाश करालरच वैदेहः'
43. पो. हिस्ट्री, पृ. 95-96; रायचौधुरी स्वीकार करते हैं कि जनक कुल के पतन के पश्चात् भारत की राजनीतिक स्थिति का बहुत सही चित्र बौद्ध सूची प्रस्तुत करते हैं.
44. पाणिनि (अष्ट. iv. 1.71) ने दो तरह के गणराज्यों का उल्लेख किया है. एक जो राजा के अंतर्गत था दूसरा संघों या गणों के अंतर्गत था. पाणिनि ने 'संघोद्धीगणप्रशंसयोः' में संघ व गण को एक ही अर्थ में लिया है (वही. iii. 3.47).
45. महापरिनिम्बान सुत्त (डायलाग्स, ii, पृ. 78-81)
46. पो. हिस्ट्री, पृ. 95
47. फाउसबोल जातक, खण्ड 1, पृ. 263 और आगे, खण्ड 3, पृ. 168; जा. 351, खण्ड 3, पृ. 13-14.
48. रायचौधुरी, पो. हिस्ट्री (पंचम सं.), पृ. 154; वि. पाठक. हिस्ट्री आफ कोराल, पृ. 210.
49. फाउस बाल जातक खण्ड 2. (सेय्य जातक), पृ. 403; खण्ड 5, (तेसकण जा.), पृ. 112,
50. रायचौधुरी, पो. हिस्ट्री (पंचम सं.) पृ. 154; रतिलाल मेहता, ग्री-बुद्धिष्ट इण्डिया, पृ. 67; रैप्सन, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, भाग 1. पृ. 180. वि. पाठक, हिस्ट्री आफ कोराल, पृ. 210.
51. रायचौधुरी, पृ. 154; वि. पाठक वही. पृ. 210.
52. जातक, 239.
53. जातक, 283 : संभवतः काशी से प्राप्त होने वाला वार्षिक लगान हों दहेज के रूप में दिया गया, न कि काशी का अधिकार विम्बिसार के पास गया था (वि. पाठक, हिस्ट्री आफ कोराल, पृ. 210).
54. वि. पाठक. हिस्ट्री आफ कोशल, पृ. 107 व 21 : प्रसेनजित भगवान बुद्ध का हमउम्र होने का दावा करता था. प्रसेनजित कहता है, 'भगवाडपि कोसलको अहमिपि कोसलको। भगवाऽपि असौतिको अहमिपि असौतिको 11' (मज्झिम निकाय, ii.4.9. धम्मचेतिय सुत्तान्त) इसी प्रकार दुत्त्व (रॉक हिल, लाइफ आफ बुद्ध, पृ. 16) कहता है कि वह उसी दिन पैदा हुआ था जिस दिन भगवान बुद्ध पैदा हुए थे. प्रसेनजित जब अंतिम बार भगवान बुद्ध से मिलता है (मेटलुम्प में) तो इसी प्रकार का दावा करता है (अट्ट कथा, राहुल सांकृत्यायन द्वारा 'बुद्धचर्या' हिन्दी, पृ. 473 और आगे उद्धृत) यह सामान्य रूप से स्वीकार किया जाता है कि भगवान बुद्ध का जन्म 563 ई. पू. में हुआ था, अतः प्रसेनजित के जन्म का वर्ष भी इसे ही स्वीकार किया जा सकता है. भगवान बुद्ध की मृत्यु 483 ई. पू. में हुई थी, संभवतः मेटलुम्प में प्रसेनजित से अंतिम बार मिलने के कुछ माह उपरान्त; लेकिन प्रसेनजित के पुत्र व उत्तराधिकारी विडुभ द्वारा शाक्यो पर आक्रमण के पूर्व नहीं, क्योंकि भगवान बुद्ध ने स्वयं विडुभ

- द्वारा शाक्यों का नष्ट किया जाना देखा था इस तरह प्रसेनजित का अंतिम शासन काल 483 ई. पू. माना जा सकता है (वही, पृ. 107). इसी प्रकार प्रसेनजित की बहन का विवाह बिम्बिसार से हुआ था (वही पृ. 210). अतः प्रसेनजित को भगवान बुद्ध तथा बिम्बिसार का समकालीन स्वीकार किया जा सकता है. बद्धकी सूकर जातक (जा. 283) के अनुसार प्रसेनजित ने अपनी पुत्री वाजिरा का विवाह अजातशत्रु के साथ किया था (वही, पृ. 214).
55. योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 98.
  56. मिथिला, पृ. 39; एनल्स, भाग 13, पृ. 323 और आगे
  57. योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 99 योगेन्द्र मिश्र ने इन तीन वंशों का तुलनात्मक विश्लेषण करके निष्कर्ष निकाला है कि भारत बुद्ध (पार्जितर के गणनानुसार भारत बुद्ध की तिथि 950 ई. पू. तथा प्रत्येक राजाओं की शासनावधि 19 वर्ष मानते हुए) से बौद्ध धर्म के उत्थान काल तक 22 पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं.
  58. पार्जितर, वही, पृ. 125.
  59. वैशाली, पृ. 101, टिप्पणी.
  60. कृष्णदत्त वाजपेयी तथा वि. चन्द पांडे, प्राचीन भारत का इतिहास (आदर्श प्रकाशन, 1963) पृ. 79; मज्जुदार, रायचौधुरी (प्राचीन भारत, 1970, पृ. 49) तथा वि. पाठक (हिस्ट्री आफ कोशल, पृ. 107) आदि भगवान बुद्ध का निर्वाण तिथि 483 ई. पू. माना है.
  61. महावंश के अनुसार बुद्ध निर्माण के 60 वर्ष पूर्व बिम्बिसार सिंहासन पर बैठा था.
  62. रहल सांस्कृत्यन, बुद्ध चर्या (हिन्दी), पृ. 426.
  63. पीछे, टिप्पणी 52 देखिए.
  64. वैशाली, पृ. 101-102 : योगेन्द्र मिश्र ने भारत बुद्ध के पश्चात् से महापद्मनन्द तक राज्य कर चुके 28 मैथिली राजाओं में से जातकों में आए 15 विदेह राजाओं को घटाकर 13 राजाओं की 12 पीढ़ियाँ (दो राजा भाई-भाई थे) भारत बुद्ध (950 ई. पू.) से कराल जनक तक राज्य किया माना है और इसके अनुसार उन्होंने 950-225 वर्ष  $(12 \times 19) = 725$  ई. पू. के लगभग कराल जनक की मृत्यु तथा वज्जि गणराज्य की स्थापना तिथि निकाला है.
  65. उपेन्द्र ठाकुर, मिथिला, पृ. 53.
  66. रायचौधुरी, पो. हिस्ट्री, पृ. 83.
  67. अष्टाध्यायी की रचना तिथि के विषय में वासुदेव शरण अग्रवाल, पाणिनि कालीन भारत (हिन्दी, पृ. 477 और आगे) में विभिन्न विद्वानों ने अपना मत इस प्रकार दिया है. श्री गोल्डस्तुकेर और आर. जी. भण्डारकर (पाणिनि कालीन भारत पृ. 267 पर उद्धृत) के मतानुसार इसकी रचना सातवीं शताब्दी ई. पू. में हुई थी. के. बी. पाठक (ज. वि. उ. रि. सी. पृ. 83) ने इसका समय सातवीं शताब्दी पूर्व के उत्तरार्द्ध रखा है. डी. आर. भण्डारकर (पाणिनि कालीन भारत, पृ. 467 पर उद्धृत) ने इसकी रचना तिथि 600 ई. पू. माना है. राजचौधुरी (हिस्ट्री आफ वैष्णव सेक्ट, 1936, पृ. 30) ने इसका रचना काल 500 ई. पू. माना है.
  68. अष्टाध्यायी, iv.2. 131 : 'मद्रवृज्यौः कर्न्'.
  69. योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 117.
  70. वही, पृ. 101, पाद टिप्पणी 3.
  71. रिस डेविडस (बुद्धिष्ट इंडिया, पृ. 26) महाजनक (जा. 539) की पहचान कृति जनक से करता है; निमि जातक के निमि कि पहचान मिथिला के आदि संस्थापक मिथि के पिता के रूप में भविष्य पुराण करता है (मिथिला, पृ. 30 पर उपेन्द्र ठाकुर द्वारा उद्धृत).
  72. उपेन्द्र ठाकुर मिथिला, पृ. 59.



73. उपेन्द्र ठाकुर, मिथिला, पृ. 3.
74. सी. बु. ई. 45. पृ. 339.
75. पा. टे. सो. पृ. 158-160.
76. उपेन्द्र ठाकुर, मिथिला, पृ. 63, 64, 65, 66.
77. वही, पृ. 66, हिन्दू पा. द्वितीय सं., पृ. 54, 184.
78. वही, पृ. 55, 65, कनिष्क, एशियेटिक् ज्योग्राफी आफ इंडिया (सं. मजुमदार), पृ. 445-46.
79. योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 121.
80. ललित, विस्तर (अंग्रेजी अनुवाद), पृ. 40.
81. शिव. ii.5. 1941. भाग ix, 12-15; विष्णु. iv. 22.10; मत्स्य 270.14-15; इसकी मृत्यु से सूर्य वंश का अंत कोशल में हो जाता है ('इक्ष्वाकुण्मयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति' भाग, मत्स्य, शिव आदि) हिस्ट्री आफ कोशल, पृ. 107 पर उद्धृत.
82. रॉकहिल, पृ. 63; योगेन्द्र मिश्र, वही पृ. 121.
83. विशुद्धानन्द पाठक, हिस्ट्री आफ कोशल, पृ. 107.
84. गिलगित मैनुस्क्रिप्ट, भाग 3, खण्ड 2, पृ. 3-5 रमेशचन्द्र मजुमदार ने भी इस 'हिस्टोरिकल मैटेरियल इन द गिलगित मैनुस्क्रिप्ट' में विदेह राज पढ़ा है. (विमलचरण ला वाल्ट्चम, i, पृ. 134).
85. ई. हि. क्वा, 1947, भाग 23-1, पृ. 58-61.
86. मत्स्य 272.16; वायु 98.318; बृह. iii. 74.137; डायेनिस्ट्रीज आफ कलि ऐज, पृ. 24, 69.
87. महाभाष्य, 4.168 (हिन्दू पा. पृ. 50, टिप्पणी)
88. बु. ई. पृ. 26 (जायसवाल, हिन्दू राज्यतंत्र, हिन्दी अनुवाद, काशी. संवत् 2008 विक्रमी), पृ. 180 पर उद्धृत.
89. मैकक्रिडल कृत, मेगस्थनीज, पृ. 203 (जायसवाल, वही पृ. 180 पर उद्धृत).
90. रिस डेविड्स, बुद्धिष्टइंडिया, पृ. 22, 25, 26. सत्यनारायण सिंह, हिस्ट्री आफ तिरहुत (कलकत्ता, 1922), पृ. 34, वि. च. ला. क्षत्रिय क्लॉन्स (कलकत्ता, 1922), पृ. 160-161, राय चौधुरी, पो. हि. (प्रथम संस्करण, 1923 व छठा सं.), पृ. 83, 95, 118, काशीप्रसाद जायसवाल, हिन्दू पालिटी, पृ. 41, 42, 47, 50; मलालसेकर, डिक्शनरी आफ पाली प्रापर नेम (लण्डन, 1938) भाग 2, पृ. 813, 818, 879.
91. अंगुत्तर निकाय, भाग 1, पृ. 213; भाग 4, पृ. 252, 256, 260.
92. वि. चि. ला. क्षत्रिय क्लॉन्स, पृ. 6.
93. निरयावल्ल (गोपानी व चोक्षी द्वारा सम्पा.) पृ. 16 (वै. अभि. ग्रं. पृ. 92 पर उद्धृत).
94. वै. अभि. ग्रं. पृ. 92; त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरितम्, पत्र 77, पर्व 10, सर्ग 6.
95. वै. अभि. ग्रं., 92.
96. आचारंगसूत्र, पत्र 389; वै. अभि. ग्रं., पृ. 92; बिजेन्द्र सूरी, तीर्थकर महावीर, भाग 1, पृ. 83; विशाल देश में जन्म लेने के कारण महावीर स्वामी को 'वैशालिक' कहा गया है. वैशाली न सिर्फ नगरी का नाम है. बल्कि पूरे क्षेत्र को वैशाली क्षेत्र कहते थे. द्वेनत्सांग (बील, बुद्धिष्ट रिकार्ड, भाग 2, पृ. 66) ने इसे वैशाली देश कहा है.

## बौद्धकालीन राजनीतिक इतिहास

### मगध साम्राज्य तथा लिच्छवि

बौद्ध साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि छठी शताब्दी ई. पू. में वर्तमान गोरखपुर तथा उत्तरी विहार के प्रदेशों में अनेक गणतंत्र विद्यमान थे।<sup>1</sup> कुछ गणराज्य जैसे भगंग, बुली, कोलिय बहुत छोटे गणराज्य थे जिनकी सीमा आधुनिक तहसीलों से अधिक नहीं थी। शाक्य, मल्ल, लिच्छवि और विदेह राज्य कुछ बड़े थे, परंतु सब मिलाकर भी इनका विस्तार लंबाई में 200 तथा चौड़ाई 100 मील से अधिक नहीं था।<sup>2</sup> पश्चिम में वर्तमान गोरखपुर से पूर्व में दरभंगा तक, उत्तर में हिमालय से दक्षिण में गंगा तक इन गणराज्यों का विस्तार था।<sup>4</sup> केवल यही गणराज्य इतना शक्तिशाली था जो अपने पड़ोसी मगध के राजतंत्र से प्रतिस्पर्धा कर सकता था।

छठी शताब्दी ई. पू. के मध्य तक वज्जि गणराज्य तथा मगध राज्य बिना किसी प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ चल रहे थे। लेकिन राजगृह में बिम्बिसार के सिंहासनारूढ़ (543 ई. पू.) होने के पश्चात् दोनों राज्यों की महत्वाकांक्षाएं आपस में टकराने लगी थीं। डी. आर. भण्डारकर का मत है कि मगधराज बिम्बिसार ने वज्जियों का मागध से निष्कासन किया था।<sup>5</sup> उन्होंने तर्क दिया कि वैशाली को पहले (बौद्ध ग्रंथ, सुत्त निपात)<sup>6</sup> मागंधपुरम् कहा जाता था। लेकिन उनका यह तर्क स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि किसी भी साक्ष्य से यह ज्ञात नहीं होता है कि बिम्बिसार ने कभी वज्जियों को गंगा पार निष्कासित करके मगध पर अधिकार किया था। वास्तव में भण्डारकर का यह तर्क सुत्त निकाय के श्लोक (38) का अशुद्ध अर्थ लेने पर आधारित है। व्याख्याकार ने मागंधपुरम वैशाली के लिए नहीं, बल्कि राजगृह के लिए प्रयुक्त किया है।<sup>7</sup> उसी श्लोक में 'पासाणचैतिय' (पाषाण चैत्य) का उल्लेख यह दर्शाता है कि मागंधपुरम वैशाली नहीं था। वैशाली के चारों ओर कई चैत्यों का उल्लेख मिलता है लेकिन पासाण चैतिय (पाषाण चैत्य) का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। सुत्त निकाय के श्लोक (1014) में इस बात का उल्लेख है कि यह चैत्य एक पर्वत शिखर पर स्थित था। इससे संभावना बनती है कि यह राजगृह के आसपास के चैत्यों में से एक रहा होगा, जैसा कि स्पष्ट है कि वैशाली में या आसपास कोई पर्वत

श्रेणी नहीं है।<sup>8</sup>

लिच्छवियों और मगध नरेश बिम्बिसार के मध्य युद्ध और मैत्री स्थापित होने का वर्णन बौद्ध ग्रंथ में मिलता है। लेकिन युद्ध का कारण और उसकी तिथि का उल्लेख नहीं मिलता है। योगेन्द्र मिश्र<sup>10</sup> का विचार है कि यह युद्ध प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में मगधराज के द्वारा अंग आक्रमण से जुड़ा था। संभवतः लिच्छवियों ने बिम्बिसार के द्वारा अंग पर आक्रमण करने का विरोध किया हो, या अंग विजय के पश्चात् बिम्बिसार ने गंगा की उपत्यका (बौद्ध साहित्य में जिसे अंग उत्तराप कहा गया है) पर अपने अधिकार का दावा किया हो जो संभवतः पहले अंग का भाग रहा हो और इस बीच लिच्छवियों ने अनुकूल अवसर देखकर गंगा की उपत्यका पर अधिकार कर लिया हो। स्थिति जो भी रही हो, इतना सत्य है कि इसी क्षेत्र पर अधिकार को लेकर लिच्छवियों तथा मगधराज बिम्बिसार के मध्य युद्ध हुआ था। इस युद्ध का विस्तृत विवरण नहीं मिलता है। केवल इतना ज्ञात होता है कि युद्ध के दौरान बिम्बिसार वैशाली की प्रसिद्ध राज गणिका अम्बपाली से मिलने गया था। वहां वह सात दिन तक ठहरा था, बाद में जिससे अम्बपाली को अभय<sup>11</sup> नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। पाली ग्रंथों में बिम्बिसार से उत्पन्न अम्बपाली के पुत्र का नाम 'विमलकोडण्क' लिखा है जो बाद में भिक्षु बन गया था।<sup>12</sup>

जैन स्रोतों ने ज्ञात होता है कि बिम्बिसार का विवाह लिच्छवि राजा चेटक की पुत्री चेल्लणा से हुआ था। डी. आर. भण्डारकर इसे मगध तथा वैशाली के मध्य वैवाहिक संधि के रूप में लेते हैं।<sup>13</sup>

राहुल सांकृत्यायन<sup>14</sup> धम्मपद अट्ठकथा (4-2) के आधार पर बिम्बिसार और भगवान बुद्ध के मध्य एक वार्ता का उल्लेख करते हैं जिसमें बिम्बिसार का 300 योजन क्षेत्र (अर्थात् अंग मगध) पर आधिपत्य कहा गया है। इस वार्ता की तिथि राहुल सांकृत्यायन के अनुसार भगवान बुद्ध के 6 वर्षा ऋतु के फाल्गुन पूर्णमासी (अर्थात् मार्च 522 ई. पू.) है। इस प्रकार वैवाहिक संधि के पश्चात् शांति स्थापना की तिथि मार्च, 522 ई. पू. की हो सकती है।

इतिहासकारों का मत है कि अजातशत्रु अपने पिता बिम्बिसार को बंदीगृह में डालकर 491 ई. पू. के लगभग (भगवान बुद्ध के निर्वाण की तिथि 483 ई. पू. से 8 वर्ष पूर्व) सिंहासन पर बैठा था। अगर अजातशत्रु इस समय 34 वर्ष<sup>15</sup> का था तो उसका जन्म 525 ई. पू. के लगभग हुआ होगा। इस प्रकार अजातशत्रु की मां चेल्लणा का बिम्बिसार के साथ विवाह 526 ई. पू. से पूर्व नहीं हो सकता है। यही तिथि (526 ई. पू.) मगध वज्जि युद्ध की तिथि के रूप में स्वीकार की जा सकती है।

अजातशत्रु की मां लिच्छवि कुमारी चेल्लणा ही थी या अन्य कोई, यह विचारणीय प्रश्न है। अति प्राचीन जैन ग्रंथ निरयावली-सुत्त के अनुसार वैशाली के



लिच्छवि राजा चेटक की पुत्री चेल्लणा थी।<sup>16</sup> चेटक की बहन स्वामी महावीर (विदेह दत्ता) की मां त्रिशला थी। महावीर चरित्र के अनुसार श्रेणिक (बिम्बिसार) ने चेल्लणा का अपहरण करके विवाह किया था और इसी से हल्ल और वेहल्ल नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए।<sup>17</sup> दिव्यावदान<sup>18</sup> के अनुसार राजगृह का राजा बिम्बिसार की वैदेही उसकी महादेवी (प्रमुख रानी) थी जिसका पुत्र व कुमार अजातशत्रु था। यह वैदेही, विदेह की अर्थात् वैशाली की राजकुमारी हो सकती है। ऐसा लगता है कि इसी कारण अजातशत्रु को वेदेहि पुत्र या वैदेही पुत्र<sup>19</sup> कहा गया है। निरयावली सूत्र की यह कहानी आगे भी जैन ग्रंथों में दोहराई गई है। अतः यह तो निश्चित है कि बिम्बिसार की एक पत्नी विदेह अर्थात् वैशाली (क्योंकि वैशाली विदेह भूमि में स्थित था) की थी।<sup>20</sup> तिब्बती दुल्व अजातशत्रु की मां का नाम वासवी बताता है, और एक आख्यान<sup>21</sup> की चर्चा करता है जिसे बौद्ध ग्रंथों में नहीं खोजा जा सकता है। इस आख्यान के अनुसार वासवी लिच्छवियों के सेनापति सिंह की ज्येष्ठ पुत्री थी जिसका विवाह बिम्बिसार से हुआ था। एक अन्य तिब्बती कथा में अजातशत्रु की मां का उल्लेख श्री भद्रा के रूप में हुआ है जो हमें चेटक की पत्नी सुभद्रा<sup>22</sup> की याद दिलाता है। इसी तरह मद्रा (मद्रा) का उल्लेख भी अजातशत्रु की मां के रूप में हुआ है।<sup>23</sup> इस प्रकार हम अजातशत्रु की मां के पांचों नामों—चेल्लणा, वैदेही, वासवी, श्री भद्रा और मद्रा (मद्रा) का उल्लेख मिलता है। इनमें से दो नाम वैदेही और मद्रा क्रमशः विदेह तथा मद्रा की कुमारी के रूप में हो सकता है, जैसे कोशल्य व कैकेयी नाम क्रमशः कोशल व कैकेय देश से बने हैं। बिम्बिसार की सभी रानियां मातृत्व भावना से अजातशत्रु को पुत्र कहती थीं, जो विदेह, कोशल और मद्र (क्रमशः चेल्लणा, कोशलदेवी और खेमा) से संबंध रखती थीं।

जैन परंपरा में जहां अजातशत्रु की मां को चेल्लणा कहा गया है, वहां बौद्ध परंपरा में ऐसा नहीं है। दिव्यावदान<sup>24</sup> के अनुसार वैदेही बिम्बिसार की महादेवी है और अजातशत्रु उसका पुत्र व कुमार है। इस तरह जैन व बौद्ध दोनों साक्ष्य यह दर्शाते हैं कि अजातशत्रु की मां एक विदेह कुमारी थी। बौद्ध निकायों में अजातशत्रु को उसी तरह विदेही पुत्र (वैदेही पुत्र) कहा गया है जिस तरह महावीर स्वामी को जैन ग्रंथों में वेदेहिपुत्र, वैदेह दत्ता, विदेहजात्य तथा विदेह कुमार कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि अजातशत्रु तथा महावीर स्वामी की मां विदेह भूमि से संबंध रखती थीं। बुद्धघोष संयुक्त निकाय<sup>25</sup> के भाष्य में यद्यपि वेदेहि पुत्र का एक दूसरा अर्थ वेद—इन=वेदिनि दूहति अर्थात् 'गुणसम्पन्न राजकुमारी का पुत्र' लिया है। लेकिन यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है। यहां अजातशत्रु को विदेह भूमि से संबंध रखने के कारण ही वेदेहि पुत्र कहा गया है। स्वयं बुद्धघोष ने एक अन्य स्थान पर इस शब्द का सीधा अभिप्राय विदेह भूमि से संबद्ध होने के कारण वेदेहि पुत्र लिया है।<sup>26</sup> संयुक्त निकाय में प्रसेनजित अजातशत्रु को भगिनी पुत्र कहकर पुकारता है<sup>27</sup> परंतु वह यहां भगिनीपुत्र

शिष्टाचार में कहा है। अजातशत्रु प्रसेनजित का सगा भगिनीपुत्र नहीं था। वरना अपने सगे भगिनीपुत्र से काशी गांव का अधिकार वापस नहीं लेता और युद्ध के पश्चात् पुनः अपनी पुत्री का विवाह अजातशत्रु से नहीं करता। तच्छ सूकर जातक<sup>28</sup> में अजातशत्रु और प्रसेनजित के मध्य एक युद्ध का संदर्भ मिलता है। लेकिन इसमें स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है कि महाकोसल की पुत्री (प्रसेनजित की बहन) जिसका विवाह बिम्बिसार से हुआ था, अजातशत्रु की वास्तविक मां थी। इसी तरह घुस जातक<sup>29</sup> और मुषिक जातक<sup>30</sup> में कोसलकुमारी को अजातशत्रु की मां कहा गया है, लेकिन इसमें दिया विवरण भ्रम पैदा करता है। अतः कहा जा सकता है कि कोसलदेवी अजातशत्रु की वास्तविक मां नहीं, बल्कि सौतेली मां थी।

बिम्बिसार वैशाली से वैभव एवं ऐश्वर्य में प्रतिस्पर्धा करता था। उसने एक प्रमुख श्रेष्ठि के मुख से जब यह सुना कि वैशाली में अम्बपाली नाम की एक राजगणिका है जो परम सुंदरी, रमणीय, नयनाभिराम, परम सुंदर वर्णा, गायन-वादन-नृत्य-विशारद तथा अभिलाषी जन बहु दर्शनीय है<sup>31</sup> तो उसने भी उसका अनुसरण कर राजगृह नगरी की सालवती<sup>32</sup> नामक एक परम सुंदरी नवयुवती को राजगणिका का पद देकर सम्मान किया। संभवतः यह घटना बिम्बिसार-अम्बपाली के गुप्त मिलन से पूर्व की है।

बिम्बिसार के समय में मगध<sup>33</sup> के कुछ ब्राह्मण दूत व्यापार आदि के संबंध में वैशाली में रहते थे। इससे वैशाली और मगध के मध्य मैत्री होने का आभास मिलता है।

मगध की भांति अन्य पड़ोसी राज्यों से भी लिच्छवियों का संबंध मैत्रीपूर्ण था। लिच्छवियों के पड़ोसी मल्ल भी वसिष्ठ गोत्र<sup>34</sup> के थे। दोनों गणतंत्र व्यवस्था के थे।<sup>35</sup> दोनों अपने सदस्यों को राजा<sup>36</sup> उपाधि से विभूषित करते थे। ये सदस्य राजा अपने-अपने राज्य के संथागार में एकत्र होकर आंतरिक तथा बाह्य समस्याओं पर विचार करते थे।<sup>37</sup> दोनों उस समय नए उभर रहे प्रगतिशील धर्म, बौद्ध व जैन धर्म में रुचि लेते थे। उपरोक्त तथा अन्य कई कारणों से दोनों का मनुस्मृति में ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने 'व्रात्य' के अंतर्गत उल्लेख किया है।<sup>38</sup> निर्यावलि सूत्र के अनुसार नौ लिच्छवि, नौ मल्ल तथा काशी कोशल के अठारह गणराजाओं ने अजातशत्रु के आक्रमण का विरोध करने के लिए एक संयुक्त मोर्चा बनाया था।<sup>39</sup> अपनी मैत्री सुदृढ़ करने के लिए इन सभी राजाओं ने महावीर स्वामी के निर्वाण पर शोक प्रकट करते हुए प्रस्ताव पास किया, 'ज्ञान का प्रकाश हमारे बीच नहीं रहा। अब हमें उनके आदर्शों और जीवन मूल्यों को स्थायी बनाने के लिए दीपसज्जा करनी चाहिए'।<sup>40</sup> काशी कोशल के इन अठारह गणराजाओं की पहचान करना कठिन है। हेमचन्द्र रायचौधुरी सुझाव देते हैं कि काशी कोशल के ये गणराजा संभवतः कोसल राज्य के अंतर्गत स्वशासित कोलिय, शाक्य तथा अन्य गणराज्य के थे।<sup>41</sup>



कोसल के साथ भी लिच्छवियों का संबंध मैत्रीपूर्ण था। महालि<sup>42</sup> (वैशाली का एक लिच्छवि कुमार) तथा प्रसेनजित (जब कोशल के कुमार थे) तक्षशिला में सहपाठी और घनिष्ठ मित्र थे।<sup>42</sup> एक बार प्रसेनजित एक हत्यारे अंगुलिमाल को पकड़ने के लिए जा रहे थे तो मार्ग में भगवान बुद्ध मिले। भगवान बुद्ध के यह पूछने पर कि 'तुम मगध राज बिम्बिसार से लड़ने जा रहे हो या लिच्छवियों से?' प्रसेनजित ने उत्तर दिया, 'मगधराज बिम्बिसार और वैशाली के लिच्छवि दोनों मेरे मित्र हैं।'<sup>44</sup> दीघ निकाय के अनुसार भगवान बुद्ध जब महावन की कूटागारशाला में ठहरे हुए थे तो कोसल और मगध के ब्राह्मण दूत भी वैशाली में एक साथ रह रहे थे।<sup>45</sup>

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य राज्यों के साथ भी मैत्री संबंध का उल्लेख हमें जैन साहित्य में मिलता है। वत्स तथा वैशाली के मध्य वैवाहिक संबंध थे। मृगावती<sup>46</sup> (चेटक की सात पुत्रियों में से एक) का विवाह शतानीक (वत्स का राजा जिसकी राजधानी कौशाम्बी थी) से हुआ था। इस विवाह की पुष्टि भास रचित 'स्वप्न वासवदत्तम्'<sup>47</sup> में भी मिलता है। इसमें उदयन (शतानीक का पुत्र) को वैदेही कहकर पुकारा गया है। मृगावती विदेह (वैशाली) की थी। संभवतः इसीलिए उसे वैदेही और उसके पुत्र उदयन को वैदेही पुत्र कहा गया है।<sup>48</sup>

मगध के सिंहासन पर जबतक बिम्बिसार रहा, लिच्छवियों के संबंध मैत्रीपूर्ण रहे। बिम्बिसार के काल में केवल एक घटना, अंग पर आक्रमण की मिलती है, जिसका संभवतः लिच्छवियों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप ने विरोध किया था। लेकिन दोनों राज्यों में वैवाहिक संधि (जिसकी तिथि हम ऊपर 522 ई. पू. के लगभग निर्धारित कर चुके हैं) के पश्चात् संबंध पुनः मधुर हो गए। लेकिन अजातशत्रु के विचार संभवतः अपने पिता बिम्बिसार के विपरीत थे। बिम्बिसार के समय में जब वह अंग की राजधानी चम्पा में राज प्रतिनिधि के रूप में शासन कर रहा था, तभी से लिच्छवियों को पूरी तरह से नष्ट करने का संकल्प दोहराया करता था।<sup>49</sup> जब वह 491 ई. पू. के लगभग मगध के सिंहासन पर बैठा तो सर्वप्रथम उसने अपना ध्यान लिच्छवियों की ओर केन्द्रित किया। फलस्वरूप मगध तथा लिच्छवि राज्य के मध्य एक निर्णायक युद्ध हुआ जिसमें लिच्छवियों की हार हुई और वज्जि संघ का पतन हो गया।

## लिच्छवि और मगध के मध्य युद्ध के कारण

1. लिच्छवि और मगध के मध्य संघर्ष के कारण मूलतः बाह्य नहीं बल्कि आंतरिक थे। वैशाली में गणतंत्र तथा मगध में राजतंत्र होने के कारण उनमें सैद्धांतिक मतभेद होना स्वाभाविक था। आदिकाल से इन दो विचारधाराओं में संघर्ष चलता आया है। गणतांत्रिक व्यवस्था में प्रत्येक सदस्य महत्वपूर्ण होता है जबकि राजतांत्रिक व्यवस्था में कुछ प्रमुख व्यक्ति ही महत्वपूर्ण होते हैं। लिच्छवि लोग अपने प्रत्येक सदस्य को



‘राजा’ कहकर सम्मान देते थे। अतः उसके प्रत्येक सदस्य में अपने देश एवं स्वतंत्रता के प्रति आत्मोत्सर्ग की भावना रहती थी, अजातशत्रु अक्सर कहा करता था, ‘मैं इन वज्जियों पर प्रहार करूंगा। यद्यपि वे पराक्रमी और शक्तिशाली हैं, फिर भी मैं उन्हें उजाड़ दूंगा। मैं उन्हें समूल नष्ट कर दूंगा।’<sup>50</sup> अजातशत्रु की इसी नीति के परिणामस्वरूप अंततः दोनों राज्यों के मध्य भयंकर युद्ध हुआ।

2. बिम्बिसार के समय में अंग विजय से मगध को एक विस्तृत भूभाग और जलमार्ग प्राप्त हुआ। इससे मगध की आय में पर्याप्त वृद्धि हुई। इसी जलमार्ग का उपयोग वैशाली के लिच्छवि भी करते थे।<sup>51</sup> अजातशत्रु इसी जलमार्ग पर एकाधिकार चाहता था। अतः सिंहासन पर बैठते ही उसने सर्वप्रथम इसी जलमार्ग पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने पर अपना ध्यान केंद्रित किया जिससे राज्य की आय में वृद्धि हो सके।<sup>52</sup> लिच्छवि मगधराज अजातशत्रु के इस विचार से भलीभांति परिचित थे। वे अपने पड़ोसी शत्रु राज्य को किसी भी स्थिति में शक्तिशाली बनता नहीं देख सकते थे। वे जब भी अनुकूल अवसर पाते, नदी पार कर सीमा पर स्थित पाटलि ग्राम पर आक्रमण कर देते थे, और गांव वालों को घर से बेदखल कर आधे-आधे माह तक गांव पर अधिकार जमाए रहते थे।<sup>53</sup> इस तरह लिच्छवि अजातशत्रु को तंग किया करते थे जिससे अजातशत्रु क्रोधित होकर वज्जियों (लिच्छवियों) को समूल नष्ट करने की धमकी दिया करता था।<sup>54</sup> उसने इस ग्राम की सुरक्षा के लिए अपने दो मंत्री सुनीध व वस्सकार को पाटलिग्राम में दुर्ग निर्माण कराने का आदेश दिया।<sup>55</sup> वह जानता था कि लिच्छवियों को अशक्त करके ही मगध का प्रसार किया जा सकता था, जब तक लिच्छवि स्वतंत्र हैं, मगध के प्रसार में अवरोध उत्पन्न करते रहेंगे।

सुमंगल विलासिनी<sup>56</sup> में दी गई कहानी से भी अनुमान लगाया जा सकता है कि अजातशत्रु और लिच्छवियों के मध्य युद्ध होने का प्रमुख कारण दोनों राज्यों की सीमा निर्धारण करती गंगा नदी के तट को अपने अधिकार में रखने के कारण हुआ था। कथा के अनुसार इस तट की लंबाई एक योजन से अधिक थी। आधे भाग पर अजातशत्रु तथा आधे भाग पर वज्जियों (लिच्छवियों) का अधिकार था। इस तट के कुछ दूर हिमालय की तराई में एक बहुमूल्य पदार्थ (गंधभण्ड ?) की खान थी। अजातशत्रु जब तक इस बहुमूल्य पदार्थ को लाने के लिए पहुंचता उसके पूर्व ही लिच्छवि उसे खान से निकालकर भाग जाते थे। अजातशत्रु लिच्छवियों की इस कार्यवाही से बहुत क्रोधित होता था। लिच्छवि बार-बार ऐसा करने में सफल हो जाते थे। जिससे मगध के कोष को भारी क्षति पहुंचती थी। अंततः अजातशत्रु ने इस खानयुक्त तट को पूर्णरूप से अपने अधिकार में करने के लिए युद्ध किया।<sup>57</sup>

3. अजातशत्रु अपने पिता बिम्बिसार को बंदीगृह में डालकर सिंहासन पर बैठा था। अजातशत्रु ने बंदीगृह में अन्न-जल की पूर्ति पर भी रोक लगा दी जिससे कुछ ही समय पश्चात् बिम्बिसार की मृत्यु हो गई।<sup>58</sup> उसके इस घृणित कर्म से उसके संबंधी भी

शत्रु बन गए होंगे।<sup>59</sup> अजातशत्रु को अपने एक सौतेले भाई अभय से भी खतरा था<sup>60</sup> जिसके रगों में लिच्छवि खून दौड़ रहा था। लिच्छवि अभय को बहुत चाहते थे।<sup>61</sup> अजातशत्रु ने सोचा कि लिच्छवियों की सहायता से अभय मगध के सिंहासन पर बैठने की सोच सकता है। इस कारण भी संभव है कि अजातशत्रु के मस्तिष्क में लिच्छवियों को नष्ट करने का विचार आया।<sup>62</sup>

4. चौरवस्तु से हमें एक और कहानी मिलती है। इसके अनुसार मगधराज (?) के यहां खण्ड नामक व्यक्ति 500 आमात्यों का प्रधान अमात्य था।<sup>63</sup> अन्य अमात्यों के ईर्ष्या के कारण खिन्न होकर एक दिन वह राज्य छोड़कर वैशाली चला आया। कुछ दिनों पश्चात् वह लिच्छवियों का सेनापति नियुक्त हो गया। खण्ड की मृत्यु के पश्चात् वैशाली में सेनापति पद के लिए खण्ड के दोनों पुत्र गोप व सिंह प्रत्याशी हुए। बहुमत द्वारा सिंह सेनापति पद के लिए चुना गया। इस निर्णय से खण्ड का ज्येष्ठ पुत्र गोप दुःखी होकर पुनः राजगृह लौट आया, और बिम्बिसार की अनुमति पाकर उसने 'प्रधान मंत्री' का पद संभाला। कुछ समय पश्चात् बिम्बिसार की प्रमुख रानी अकस्मात् स्वर्गवासी हो गई जिससे बिम्बिसार बहुत दुःखी रहने लगा। मगधराज की यह स्थिति देखकर अपने कनिष्ठ भाई सिंह की दो पुत्रियों में से कनिष्ठ पुत्री का विवाह बिम्बिसार से करने के लिए गोप ने सिंह को पत्र लिखा। सिंह ने उत्तर में लिखा कि वैशाली के नियमानुसार वैशाली में उत्पन्न किसी कन्या का विवाह बाहर के व्यक्ति से नहीं हो सकता। अतः कनिष्ठ पुत्री का विवाह बिम्बिसार से नहीं कर सकता। सौभाग्य से ज्येष्ठ पुत्री का जन्म वैशाली में नहीं हुआ था। अतः सिंह ने ज्येष्ठ पुत्री का विवाह बिम्बिसार से कर दिया। गोप ने यह बात गुप्त रखी थी, लेकिन कुछ समय पश्चात् बिम्बिसार को इस बात की जानकारी होने पर दोनों राज्यों के मध्य अत्यंत कष्टदाई युद्ध हुआ। युद्ध में पराजित होने पर लिच्छवियों ने मगधराज से बदला लेने (वैर निर्यातन) का प्रस्ताव पास किया जिसे एक बक्से में बंद करके सुरक्षित रखा गया।<sup>64</sup>

5. इसके अतिरिक्त जैन ग्रंथ निरयावलियों और त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में लिच्छवि और कुणिक (अजातशत्रु) के मध्य युद्ध के एक अन्य कारण का उल्लेख है।<sup>65</sup> इसके अनुसार बिम्बिसार की एक लिच्छवि पत्नी चेल्लणा (राजा चेटक की पुत्री) से उत्पन्न दो पुत्र हल्ल और बेहल्ल थे। श्रेणिक (बिम्बिसार) अपने जीवनकाल में बेहल्ल को सेयणग हाथी तथा अट्टार सेवक हार उपहार में दिया था। बाद में इस उपहार को कुणिक (अजातशत्रु) की पत्नी ने प्राप्त करना चाहा। लेकिन अजातशत्रु द्वारा इन दोनों उपहारों की मांग पर बेहल्ल डरकर अपने नाना चेटक के पास भाग आया। अजातशत्रु ने राजा चेटक से पुनः उन उपहारों को वापस करने को कहा। उत्तर में चेटक ने कहा कि तुम (अजातशत्रु) और बेहल्ल दोनों मेरे दौहित्र और श्रेणिक (बिम्बिसार) के पुत्र हो। अतः तुम (अजातशत्रु) अपने भाई बेहल्ल की बात मान लो, मैं



तुम्हें वह उपहार लौटा दूंगा। इस पर कुणिक ने क्रोधित होकर युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध में चेटक की हार हुई जिससे दुःखी होकर एक कुएं (या गहरे जल) में कूदकर उसने आत्महत्या कर ली।<sup>66</sup>

### लिच्छवि और अजातशत्रु के मध्य युद्ध

अजातशत्रु लिच्छवियों से युद्ध करने के लिए प्रारंभ से ही अपनी शक्ति में वृद्धि तथा सुरक्षात्मक कार्यवाही में लगा रहता था। मगधराज के प्रतिनिधि के रूप में चंपा में रहते हुए उसने गंगा और शोण के संगम के समीप पाटलिग्राम<sup>67</sup> को दुर्ग में परिवर्तित कराया था। दूसरी ओर लिच्छवियों ने भी वैशाली की सुरक्षा हेतु उसे प्राकार में घेर लिया जिसमें तीन ही प्रवेश द्वार थे तथा वहां सुरक्षा के सभी आवश्यक साधन जुटाए गए थे।<sup>69</sup> लिच्छवियों की इस सुदृढ़ स्थिति को देखते हुए अजातशत्रु उन पर आक्रमण करने की भूल नहीं कर सकता था। अतः उसने पहले लिच्छवियों की सैनिक शक्ति की तुलना में अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने की ओर विशेष ध्यान दिया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने दो आधुनिक ढंग के भयंकर हथियारों का निर्माण कराया।<sup>69</sup> वह अच्छी तरह जानता था कि लिच्छवियों की अतुलनीय एकता और अदम्य देश भक्ति के रहते उसकी इच्छा कभी नहीं पूर्ण हो सकेगी।<sup>70</sup> अतः लिच्छवियों में फूट डालने की इच्छा से उसने अपने कुशल राजनीतिज्ञ मंत्री वस्सकार को भगवान बुद्ध के पास परामर्श के लिए भेजा।<sup>71</sup> भगवान बुद्ध लिच्छवियों तथा अजातशत्रु दोनों को बहुत स्नेह करते थे।<sup>72</sup> अतः वस्सकार के आग्रह पर भगवान बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द को संबोधित करते हुए लिच्छवियों की उन सात विशेषताओं का विवरण वस्सकार को दिया जो लिच्छवियों की शक्ति के मूल कारण थे।<sup>73</sup> उन सात विशेषताओं, जिसका लिच्छवि पालन करते थे, का विवरण सुनकर बुद्धिमान मंत्री वस्सकार भगवान बुद्ध से बोला, इसका अर्थ यह हुआ कि बिना लिच्छवियों में फूट पैदा किए उनकी एकता व शक्ति को तोड़ना मगधराज के लिए कठिन है।<sup>74</sup> वस्सकार के माध्यम से लिच्छवियों की शक्ति का मूल आधार जानकर अजातशत्रु ने लिच्छवियों में फूट डालने के लिए एक पड़यंत्र रचा। उसने वस्सकार के परामर्श से राजगृह में ऐसी स्थिति पैदा कर दी जिससे पड़ोसी लिच्छवि यह समझ बैठे कि वस्सकार और अजातशत्रु में अनबन हो गई है। इस तरह वस्सकार कौटिल्य नीति द्वारा राजगृह को छोड़कर लिच्छवियों की राजधानी वैशाली आ गया। लिच्छवि अपनी अदूरदर्शी दृष्टि के कारण वस्सकार को समझने में भूल कर बैठे, और वस्सकार को अपना हितैषी समझकर उसे एक सम्मानित पद (धर्माधिकारी) पर आसीन कर दिया। इस महत्वपूर्ण पद का उपयोग करते हुए वस्सकार ने पहले लिच्छवियों में उनका हितैषी होने का विश्वास पैदा किया। इसके पश्चात् कौटिल्य नीति से उनमें फूट पैदा करना उसने प्रारंभ किया जिसका तनिक भी आभास लिच्छवियों को नहीं



हुआ। इस तरह वस्सकार लिच्छवियों की सभी महत्वपूर्ण बातों की गुप्त सूचना अजातशत्रु को देता रहा। इस सूचना के माध्यम से लिच्छवियों को पराजित करना अजातशत्रु के लिए सुगम हो गया।<sup>75</sup>

लिच्छवि अजातशत्रु की साम्राज्यवादी नीति से भलीभांति परिचित थे। उन्होंने भी अपनी शक्ति में वृद्धि के लिए आवश्यक कदम उठाए। लिच्छवि राजा चेटक ने राजतंत्रीय राजा अजातशत्रु के विरुद्ध गणतंत्र की रक्षा के लिए, जिसके लिए लिच्छवि सदैव बलिदान के लिए तैयार रहते थे, लोगों को उठ खड़े होने का आह्वान किया।<sup>76</sup> चेटक ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पड़ोसी गणराजाओं को भी संगठित होने का आह्वान किया जिससे गणतांत्रिक व्यवस्था की सुरक्षा की जा सके। फलस्वरूप अजातशत्रु के विरुद्ध नौ लिच्छवि, नौ मल्ल तथा काशी कोसल के अठारह गण राजा चेटक के नेतृत्व में संगठित हो गए।<sup>77</sup> इस प्रकार लिच्छवियों की स्थिति काफी सुदृढ़ हो गई।

लिच्छवि और अजातशत्रु के मध्य युद्ध संभवतः भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण (483 ई. पू.) के पश्चात् प्रारंभ हुआ था। अजातशत्रु अपने दस सौतेले भाइयों के साथ मैदान में आ डटा जिनमें प्रत्येक के पास तीन हजार हाथी, तीन हजार रथ, तीन हजार घोड़े तथा बड़ी संख्या में पैदल सैनिक थे।<sup>78</sup> युद्ध के प्रथम दस दिनों में हर दिन मगध-सेना का एक सेनापति चेटक के हाथों मारा गया।<sup>79</sup> इससे अजातशत्रु बहुत अधिक हतोत्साहित हुआ। ग्यारहवें दिन अजातशत्रु ने लिच्छवियों के विरुद्ध दो नए ढंग के विनाशकारी यंत्र—महाशिला कण्टक (जो बड़े-बड़े पत्थरों को शत्रु-सेना पर फेंकता था) तथा रथमूसल (जो शत्रु-सेना को रोंदते हुए दौड़ता था) का प्रयोग किया जिससे अजातशत्रु की पराजय विजय में परिवर्तित होने लगी।<sup>80</sup> अंत में चेटक के नेतृत्व में बना संयुक्त मोर्चा बिखर गया।

संयुक्त मोर्चे में सम्मिलित सभी गणराज्य चेटक का साथ छोड़कर अपने-अपने घर (राज्य) लौट आए। चेटक अकेला मगध-सेना से लड़ता रहा। अंततः वह भी पराजित हुआ जिससे दुःखी होकर उसने आत्महत्या कर ली। चेटक के नेतृत्व में लड़ रही लिच्छवि सेना नेपाल की ओर जंगलों में भाग गई।<sup>81</sup> योगेन्द्र मिश्र (वैशाली, पृ. 262) का मत है कि अजातशत्रु से पराजित होने पर चेटक ने आत्महत्या कर ली। अवशिष्ट लिच्छवि नेपाल भाग गए; लेकिन हितनारायण (लिच्छवि, पृ. 98, टिप्पणी 3) योगेन्द्र मिश्र के निष्कर्ष को कि अवशिष्ट लिच्छवि नेपाल भाग गए, नहीं स्वीकार करते हैं। उसकी राय में अभिधान राजेन्द्र (भाग 3, पृ. 639) में 'नेपाल गोत चूर्णि' को लिच्छवियों के नेपाल चले जाने से नहीं जोड़ा जा सकता है। इस प्रकार आवश्यक सूत्र में नेपाल देश का उल्लेख नहीं मिलता। अंतिम स्रोत श्रमण भगवान महावीर (भाग 2, पार्ट 2, पृ. 463-473) में केवल इतना लिखा है कि पराजित होने पर चेटक ने कुएं या गहरे जल में कूदकर आत्महत्या कर ली और उसके संबंधी

विभिन्न दिशा में भाग गए। अतः इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अजातशत्रु से पराजित होने पर लिच्छवियों ने नेपाल में आकर शरण ली। लेकिन हितनारायण झा महोदय का मत किसी खास निष्कर्ष तक नहीं पहुँचता। आवश्यक सूत्र में जो कहानी दी गई है उसी से विदित होता है कि अजातशत्रु के विरुद्ध नौ लिच्छवि, नौ मल्ल तथा अठारह कोसल के गणराजाओं का जो संयुक्त मोर्चा चेटक के नेतृत्व में लड़ रहा था, मगध सेना की भयंकर मार के कारण बिखर गया, और चेटक को छोड़कर अन्य सभी गणराजा अपने घर (राज्य) लौट आए। चेटक अंत तक अजातशत्रु का सामना करता रहा, लेकिन अंततः उसे भी युद्ध के मैदान से भागना पड़ा, वह एक स्वाभिमानी सेनानी था। अतः वैशाली वापस जाने की अपेक्षा उसने आत्महत्या कर लेना उचित समझा। चेटक द्वारा आत्महत्या कर लेने पर उसके अनुयायी नेपाल की ओर या विभिन्न दिशाओं में (श्रमण भगवान महावीर, पृ. 469-71) भाग गए। संभवतः जंगल-जंगल भागते हुए अंत में काठमाण्डौ को उन लोगों ने अपना शरण स्थल बनाया जहाँ वे लंबे समय तक अपने को छुपाए रख सकते थे। आगे चलकर यही लिच्छवि परिवार नेपाल की राजनीति में अपना स्थान बनाने में सफल हुआ।

आवश्यक सूत्र या श्रमण भगवान महावीर में दी गई कहानी से कहीं भी आभास नहीं मिलता है कि युद्ध क्षेत्र में पराजित होने पर अन्य लिच्छवि राजा के साथ चेटक भी वापस वैशाली आ गया था। अतः यही समीचीन लगता है कि चेटक के अनुयायियों ने नेपाल में जाकर शरण ले ली तथा अवशिष्ट लिच्छवि राजा लोग अभेद्य वैशाली की सुरक्षा में लगे रहे और काफी समय तक अजातशत्रु सेना को वैशाली में घुसने नहीं दिया। उपेन्द्र ठाकुर<sup>82</sup> का मत है कि दोनों के मध्य यह युद्ध लगातार सोलह वर्ष तक चला। लेकिन भगवती सूत्र<sup>83</sup> में इस युद्ध की केवल एक वर्ष की अवधि का उल्लेख है जो अधिक विश्वसनीय लगती है। इसका समर्थन बुद्ध घोष<sup>84</sup> ने भी किया है। श्रमण-भगवान-महावीर<sup>85</sup> के विवरण के अनुसार वैशाली को जीतने के लिए अजातशत्रु ने कई आक्रमण किए लेकिन जब उसे सफलता नहीं मिली तो इसका भेद जानने के लिए चंपा नगरी की एक अति सुन्दरी गणिका मागधिका को कुलवालुक तपस्वी के पास लिच्छवियों को पराजित करने की युक्ति जानने के लिए भेजा। गणिका ने अपने आकर्षण एवं सेवा द्वारा तपस्वी को राजी कर लिया कि वह लिच्छवियों को पराजित करने की कोई युक्ति बताए। तपस्वी वैशाली गया। वहाँ एक दिन वह एक संगमरमर के स्तूप के समीप से गुजर रहा था कि उसे एक अभिलेख मिला जिससे वह नगर की अजेयता का रहस्य जान गया। उसने अनुभव किया कि इस स्तूप का अस्तित्व ही वैशाली की अजेयता का कारण है। उसने लिच्छवियों को गुमराह करने के लिए उन्हें बताया कि इस स्तूप के कारण ही यहाँ के लोग कठिनाई में फँसे हैं। अगर वे इससे मुक्ति पाना चाहते हैं तो इस स्तूप को तोड़



दें। लिच्छवियों ने उसकी बात में विश्वास कर उस स्तूप को दुर्भाग्य सूचक मानते हुए तोड़ दिया। इसके तुरंत बाद उसने अजातशत्रु के पास संदेश भिजवा दिया कि वह शीघ्रता से वैशाली पर आक्रमण कर दे। इस प्रकार वैशाली की सुरक्षा पंक्ति तपस्वी की विश्वासघाती धूर्तता के कारण टूट गई। लिच्छवि अजातशत्रु की आक्रमणकारी सेना को नहीं रोक सके और वैशाली अजातशत्रु के अधिकार में आ गया। इस युद्ध में 96,00,000 सैनिक मारे गए थे। तथ्य जो भी हो, यह निश्चित है कि लिच्छवियों की पराजय तथा वैशाली पर अजातशत्रु का अधिकार भेद नीति के कारण हुआ था। वैशाली के पराजित शेष लिच्छवियों ने अजातशत्रु की प्रभुता स्वीकार कर ली।<sup>86</sup>

बौद्ध तथा जैन ग्रंथों के वर्णन कई जगह पर मेल नहीं खाते हैं। बौद्ध विवरण के अनुसार लिच्छवियों की पराजय वस्सकार की कूटनीति के कारण हुई। जैन विवरण के अनुसार लिच्छवियों की पराजय का प्रमुख कारण युद्ध का लंबा और कठिन होना था। लेकिन दोनों विवरण यह विश्वास करने को बाध्य करते हैं कि लिच्छवियों की पराजय सरलता से नहीं हुई होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अजातशत्रु की निपुणता, कूटनीति तथा सुदृढ़ सैनिक संगठन के कारण लिच्छवियों को अंततः पराजित होना पड़ा था। अजातशत्रु इसलिए भी प्रशंसा के योग्य है कि युद्ध जीतने के लिए उसने दो आधुनिक अस्त्र महाशिला कण्टक तथा रथमूसल को प्रस्तुत करने में विशेष रुचि दिखाई।<sup>87</sup> वाशम महोदय इन दोनों हथियारों की ऐतिहासिकता को स्वीकार करने में असहमति प्रकट करते हैं। उनके विचार में सिकंदर के आक्रमण के समय में भी एशिया में ऐसे युद्धास्त्रों के प्रयोग का प्रमाण नहीं मिलता।<sup>88</sup> फिर भी वाशम महोदय यह अनुभव करते हैं कि जैन कथा यह दर्शाती है कि नागरिक तथा सैनिक दोनों क्षेत्र में मगधराज अपने समय से आगे बढ़ गया था।

## वज्जि संघ का पतन

वज्जि संघ यद्यपि एक बहुत ही शक्तिशाली राजनीतिक संगठन था लेकिन अजातशत्रु उससे भी अधिक कुशल राजनीतिज्ञ तथा संगठनकर्ता था। उसने एक ओर अपनी सुरक्षा पंक्ति दृढ़ करने के लिए पांटलिपुत्र ग्राम के निर्माण में रुचि ली, दूसरी ओर उसने लिच्छवियों की एकता भंग करने के लिए कुशल राजनीतिज्ञ वस्सकार को कूटनीति द्वारा वैशाली भेजा जिसने बड़ी बुद्धिमता<sup>89</sup> से लिच्छवियों में फूट डाल दी। लिच्छवियों की पराजय का एक कारण धीरे-धीरे उनका विलासी होते जाना भी था। बौद्ध ग्रंथों<sup>90</sup> से लिच्छवियों के संबंध में पता लगता है कि युवा लिच्छवि नर्म तकिए पर लंबी नींद सोना पसंद करने लगे थे। स्त्रियों को लेकर आपस में झगड़ते थे। इनमें विलासिता बढ़ती जा रही थी। वैशाली में प्लेग तथा अनावृष्टि के कारण भी



लिच्छवियों की शक्ति और समृद्धि को गहरा धक्का लगा होगा। लेकिन उनके पतन का प्रमुख कारण उसकी एकता में कमी थी, जो प्राचीन भारत के गणराज्यों के सदस्यों में सामान्य तौर से पाई जाती थी जिसका संकेत महाभारत<sup>91</sup> में भीष्म के मुख से कराया गया है।

इस प्रकार लिच्छवियों की पराजय का मुख्य कारण युवा-लिच्छवियों में एकता की कमी, उसका निरंतर विलासी होते जाना तथा दूसरी ओर मगध के राजनीतिक मंच पर अजातशत्रु जैसे कुशल, दूरदर्शी एवं महत्वाकांक्षी राजा का आना था।

लिच्छवियों की पराजय से मगध राज्य बढ़ता हुआ एक विशाल साम्राज्य में परिवर्तित हो गया। अब अन्य कोई पड़ोसी राज्य लिच्छवि राज्य की भांति शक्तिशाली नहीं रहा था जो अजातशत्रु की महत्वाकांक्षा पर अंकुश लगाने का प्रयत्न करता। अजातशत्रु दूरदर्शी था। लिच्छवियों को पूर्ण रूप से नष्ट नहीं करना चाहता था। उसका उद्देश्य केवल वज्जि संघ को तोड़कर लिच्छवियों को निर्बल बनाना था। संभवतः इसीलिए उसने लिच्छवियों से अपनी प्रभुसत्ता स्वीकार कराने के पश्चात् वैशाली में गणतांत्रिक व्यवस्था पूर्ववत् रहने दी। आगे हम संभवतः इसीलिए कौटिल्य अर्थशास्त्र में लिच्छवियों का गणराज्य के रूप में उल्लेख देखते हैं।<sup>92</sup>

वज्जि संघ का पतन बुद्ध घोष<sup>93</sup> के अनुसार भगवान बुद्ध के निर्वाण के तीन वर्ष पश्चात् हुआ था। अर्थात् लगभग 480 ई. पू. में वैशाली का पतन हुआ था।

## संदर्भ तथा टिप्पणियां

1. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, (प्रथम संस्करण), पृ. 77.
2. अल्तेकर, वही, पृ. 77.
3. वही,
4. परमत्थजोतिका (पा. टे. सो.), पृ. 158-160 के आधार पर वज्जि 300 योजन क्षेत्र में फैले हुए थे (वि. च. ला., क्षत्रिय क्लान्स 25 पर उद्धृत).
5. कारप्पाइकेल लेक्सर्स, 1918, पृ. 72.
6. सुत्तनिपात, पृ. 185, श्लोक 38.
7. योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 136
3. वही, पृ. 136; विमल चरण ला ने ट्राइम्स इन एंशियेन्ट इंडिया, पृ. 328), इस पर्वत की पहचान राजगृह में गृध्रकूट पर्वत से की है, यहां भगवान बुद्ध अक्सर उहण करते थे.
9. द बुक आफ द डिस्पिलिन (विनयपिटक), भाग 1, पृ. 189; गिल्लित मैनुस्क्रिप्ट, भाग 3, खण्ड 2, पृ. 20; रॉकहिल, पृ. 64; द्वेन्त्सांग विवरण (बुद्धष्ट रिकार्ड आफ दे वेस्टर्न वर्ल्ड, सैम्युल बील द्वारा अनु. भाग 2, पृ. 166) प्रस्तुत करता है कि वैशाली का राजा अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाते हुए बिम्बिसार के आक्रमण के विरुद्ध लगा रहा था.
10. वैशाली, पृ. 136.
11. रॉकहिल, पृ. 64; गिल्लित मैनुस्क्रिप्ट, भाग 3, खण्ड 2, पृष्ठ 15-22.

12. वैशाली, पृ. 137; साम आफ द सिंस्टर्स, पृ. 120-121; साम आफ द ब्रेदन, पृ. 65.
13. कारमाइकेल लेक्चर्स (1918), पृ. 74.
14. बुद्धचर्या (हिन्दी), पृ. 78.
15. योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 137.
16. जैकोबी, स. बु. ई. 22, पृ. 13, टिप्पणी 3; आवश्यक चूर्णि (उत्तर भाग) पत्र 164; श्री हेमचन्द्राचार्य विरचित त्रिषष्ट शलाकापुरुषचरित्रम् पर्व 10, सर्ग 6, श्लोक 184-93.
17. वै. अभि. ग्रं., पृ. 92; त्रि. श. पर्व 10, सर्ग 6, श्लोक 184.
18. कावेल व बेल (अनु. व संपा.), भाग 1, पृ. 545.
19. दिव्यावादन, पृ. 55; कमेंट्री आन मज्झिम निकाय, भाग 2, पृ. 125; कमेंट्री आन संयुक्त निकाय, भाग 2, पृ. 215; संयुक्त निकाय, भाग 2, पृ. 268.
20. योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 138; पो. हिस्ट्री पृ. 207, टिप्पणी.
21. रॉकहिल, पृ. 63-64.
22. ईस्ट. सी. 22. पृ. 13, टिप्पणी 3.
23. द बुक आफ द क्रिड्डेड सेडिंग भाग 1, पृ. 38, टिप्पणी.
24. दिव्यावादन, पृ. 55.
25. संयुक्त निकाय, iii, 2, सेक्शन 4-5; बुद्धचर्या, पृ. 409, टिप्पणी : एक बार काशी गांव को लेकर प्रसेनजिन और मगध के अजातशत्रु में विवाद उत्पन्न हो जाता है. अजातशत्रु इस भूमि पर अपना अधिकार सिद्ध करते हुए तर्क करते हैं 'यह भूमि उसकी मां कोसला देवी (बिम्बिसार की कोशल देश से ब्याही पत्नी) से संबंधित है.'
26. कमेंट्री आन दीघ निकाय, भाग 1, पृ. 47; कमे. आफ मज्झिम निकाय भाग 1, पृ. 155; कमे. आन सं. निकाय भाग 2, पृ. 215; श्रीमती रिस डेविड्स, द बुक आफ द क्रिड्डेड सेडिंग, भाग 1, पृ. 109.
27. रिस डेविड्स, बुक आफ द क्रिड्डेड सेडिंग, भाग 1, पृ. 110.
28. जातक, 492.
29. जातक, 338.
30. जातक, 373.
31. महावग्ग, 8/1/2.
32. महावग्ग, 8/1/3; रघुनाथ सिंह, बुद्ध कथा, पृ. 407.
33. दीघ निकाय, भाग 1, (महालि सुत्त) डायलाग्स, iii पृ. 197.
34. लिच्छवि के लिए देखिए महावस्तु, भाग 1, पृ. 283; रॉकहिल, पृ. 97 और आगे; सै. बु. ई. भाग 22, पृ. 191, 193, 226.
35. मज्झिम निकाय, भाग 1. पृ. 231.
36. लिच्छवियों के लिए देखिए अर्थशास्त्र, xi. i; ललित विस्तर (अं. अनुवाद) पृ. 39, मल्लों के लिए देखे डायलाग्स, iii, पृ. 201, टिप्पणी.
37. सै. बु. ई. 17, पृ. 108 और आगे (लिच्छवि मोट हल्ल के लिए); डाय. ii, पृ. 187 (मल्ल मोट हल्ल के लिए).
38. मनु. x. 22.
39. पो. हि. पृ. 212 : 'निरयावली सूत्र' नामक जैन ग्रंथ का कथन है कि चेटक के नेतृत्व में नौ लिच्छवि, नौ मल्ल तथा काशी कोशल के अठारह गणराजा अजातशत्रु के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित हुए.
40. सै. बु. ई. भाग 22, पृ. 266.
41. इंडिया कल्चर, भाग 2, पृ. 808; पो. हि. पृ. 99, 155, 192, 193.

42. धम्मपद (पृ. 219) में इसे महालिच्छवि कहा गया है।
43. बुद्धचर्या, पृ. 440, टिप्पणी (धम्मपद-अट्ठकथा. iv. 3).
44. मज्झिम निकाय, ii, पृ. 101.
45. वै. अभि ग्रं., पृ. 93; श्रमण भगवान महावीर, भाग 2, खण्ड 2, पृ. 231-246.
47. (गणपति शास्त्री द्वारा संपा.) अंक 4, पृ. 68.
48. वैशाली, पृ. 142.
49. सै. बु. ई., भाग 2, पृ. 1-2.
50. डायलाग्स, ii, पृ. 78; सै. बु. ई., भाग 2, पृ. 1-2.
51. योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 256-57 : प्राचीन भारत में जब यातायात के अन्य साधन सड़क आदि सुरक्षित नहीं होते थे. व्यापारियों के आवागमन का जलयातायात ही प्रमुख साधन हुआ करता था. बिम्बिसार ने इसलिए पहले ही अंग विजय के साथ चंपा के नदी-बंदरगाह (तट) को अपने अधिकार में ले लिया था. अगर हम पालि विवरणों पर विश्वास करें तो देखते हैं कि व्यापारी दक्षिण से सोना, मणि तथा मसाले लाकर व्यापार करते थे. विनय मूल, ii, पृ. 299, 301; महावंश, 23-28.
52. वही, पृ. 257; हितनारायण झा, लिच्छवि, पृ. 92.
53. बुद्धचर्या, पृ. 491, टिप्पणी. (उदान-अट्ठ कथा, viii.6).
54. डायलाग्स, ii, पृ. 78; योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 256.
55. उवासगदसाव, ii, परिशिष्ट, पृ. 7; कथाकोश (टाव्नी), पृ. 176 और आगे; दिवाकर बिहार धू ऐज, पृ. 102.
56. सुमंगल विलासिनी, पा. टे. सो., भाग 2, पृ. 516; त्रिवेद, पृ. 38; वैशाली, पृ. 257.
57. वही; बुद्धिष्ट स्टडीज़ (वि. च. ला. द्वारा संपा. कलकत्ता, 1931), पृ. 199; झा, लिच्छवि, पृ. 94, पो. हि., पृ. 38; वैशाली, पृ. 257.
58. श्रमण भगवान महावीर (कलकत्ता), पृ. 130.
59. वही, 'जैसे ही कोशला देवी को पता चला कि अजातशत्रु ने अपने पिता (राजा श्रेणिक) को हत्या कर दिया है, वह गहरे विषाद में डूब गई. यह सुनने पर पमेदि (कोसल राज व कोसल देवी का भाई) ने तुरंत काशी गांव को आत्मसात कर लिया जिसे कोशलराज ने कोशल देवी के विवाहोत्सव में मगधराज को दहेज में दिया था. परिणामस्वरूप दोनों में युद्ध हुआ' (वही)
60. ला (संपा.)—बुद्धिष्ट स्टडीज़ (कलकत्ता, 1931), पृ. 199; झा, लिच्छवि, पृ. 94 : पर जैन ग्रंथ में जो कथा है उसके अनुसार अम्बपाली को बिम्बिसार से जो पुत्र उत्पन्न हुआ था, उसका नाम विमल कोडण्क था जो बाद में भिक्षु हो गया था.
61. ला, वही, पृ. 199; झा, लिच्छवि, पृ. 94.
62. हितनारायण झा, लिच्छवि, पृ. 94; ला (संपा.), बुद्धिष्ट स्टडीज़ (कलकत्ता, 1931), पृ. 199.
63. इ. हि. क्वा., 1947, भाग 23-1, पृ. 58-61.
64. वही,
65. ला, सम जैन क्रानिकल्स सूत्र (निरयावली सूत्र), पृ. 86-87; श्रमण महावीर भगवान, पृ. 463-64; त्रिपिटिशलाका पुरुष चरित्रम् (हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित), पर्व 10, सर्ग 6, श्लोक 184; वै. अभि ग्रं., पृ. 92-93; उवासगदसाव, भाग 2, परिशिष्ट, पृ. 7; मुंशी (संपा.), द ऐज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ. 23.
66. ला, वही; श्रमण भगवान महावीर, वही; वै. अभि ग्रं., वही; उवासगदसाव, वही.
67. रिस एण्ड ओल्डनवर्ग (संपा.), विनय मूल (1982), भाग 2, पृ. 101; 'पणिकर', ए सर्वे आफ इंडियन हि, पृ. 30; वै. अभि ग्रं., पृ. 36; सै. बु. ई., भाग ii, पृ. 18.



68. परमत्यजोतिका आन द खुद्क पाठ (स्मिथ द्वारा संपा), पा. टे. सो., पृ. 158-160; द बुडिष्ट रिकार्ड आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड (नील द्वारा अनु.), भाग 2, पृ. 66 : हेनत्सांग का विवरण भी इसकी पुष्टि करता है कि वैशाली नगर 60 या 70 ली के क्षेत्रफल में फैला था; योगेन्द्र मिश्र (वैशाली, पृ. 131) में इन दीवारों के मध्य की दूरी तीन मील के लगभग स्वीकार करते हैं।
69. भगवती सूत्र (3 भाग में, बंबई, 1918-1920), सूत्र 299 और आगे : ये दो नए हथियार थे—महाशिलाकण्टक तथा रथमूसल जिसके उपयोग से लिच्छवियों की पराजय हुई,
70. वै. अभि. ग्रं., पृ. 36 : हितनारायण झा, लिच्छवि, पृ. 95.
71. वही.
72. ज. व. रि. सो. बुद्ध जयंती स्पेशल इश्यू, भाग 2, 'द पोजिशन आफ द बुद्ध इन द कॉन्फ्लिक्ट बिटवीन मगध एण्ड वज्जि', पृ. 263-371; डाय, ii, पृ. 78-81.
73. ज. वि. रि. सो., वही; डाय, वही.
74. डायलाग्स, वही.
75. वै. अभि. ग्रं., वि. च. ला. का भाषण, पृ. 37. दिवाकर बिहार : धू. द एजेज़, पृ. 102.
76. हितनारायण झा, लिच्छवि, पृ. 96; डायलाग्स, भाग 2, पृ. 79-80.
77. मुंशी (संपा.), द ऐज आफ द इंपीरियल यूनिटी, पृ. 23; श्रमण भगवान महावीर, पृ. 465; योगेन्द्र मिश्र (वैशाली, पृ. 260) कोशल युद्ध और वज्जि युद्ध को इसलिए एक ही घटना होने की संभावना पर बल देते हैं। बाशम, 'अजातशत्रु वार विद लिच्छवि', प्रोसेडिंग्स आफ द इंडियन हि. कांग्रेस फार जयपुर, 1951 कलकत्ता, 1953, पृ. 40 : संभवतः विडुभ की हत्या के पश्चात् काशी कोशल के अठारह गणराज्य इस संधि में सम्मिलित हुए, बाशम के मतानुसार ये गणराज्य विडुभ की सर्वोच्च सत्ता स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। जब विडुभ ने शाक्यों पर आक्रमण कर उन्हें नष्ट कर दिया तो अन्य गण क्रोधित हो उठे, और अवसर देखकर किसी ने उसकी हत्या कर दी। संभवतः उसकी मृत्यु का फायदा उठाकर अन्य गणराज्यों ने स्वयं को स्वतंत्र घोषित कर लिया तथा अपने गणतंत्र की सुरक्षा के लिए वैशाली के लिच्छवियों से संधि कर ली। (वही) योगेन्द्र मिश्र, (वैशाली, पृ. 260. टिप्पणी 4), जैन परंपरा की सत्यता पर विश्वास करते हुए लिखते हैं कि संभवतः काशी कोशल के अठारह गणराज्य एक तरफ कोशल के राजा तथा दूसरी ओर लिच्छवि से संधि किए थे।
78. श्रमण भगवान महावीर, पृ. 466.
79. भगवती सूत्र (3 भाग, बंबई, 1918-21), सूत्र 299 और आगे.
80. भगवती सूत्र, वही : ग्यारहवें दिन अजातशत्रु ने तीन दिन का उपवास रखकर इंद्र से सहायता करने की प्रार्थना की जिससे भगवान इंद्र प्रसन्न होकर दो विनाशकारी शस्त्र 'महाशिलाकण्टक' (जो बड़े-बड़े पत्थरों को शत्रु सेना पर फेंकता था) तथा रथ मूसल (जो शत्रु सेना को रौंदते हुए दौड़ता था) उपहार में दिया। इन दोनों महाविनाशकारी शस्त्रों से लिच्छवि सेना को तहस-नहस कर दिया। इस तरह इंद्र की कृपा से अजातशत्रु का भाग्य बदल गया।
81. आवश्यक सूत्र विद चूर्णि आफ जिनदास गणि भाग 2, पृ. 172 और आगे. योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 262.
82. मिथिला, पृ. 156.
83. भगवती सूत्र में इस युद्ध की अवाधि केवल एक वर्ष की बताई गई है (उपेन्द्र ठाकुर द्वारा, मिथिला, पृ. 156, पर उद्धृत).
84. श्रमण भगवान महावीर, पृ. 130.
85. श्रमण भगवान महावीर, पृ. 469-71.

86. वाशम, वही, पृ. 39; योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 262, मिथिला, पृ. 156.
87. उवासगदसाव, ii, परिशिष्ट, पृ. 59-60; कथा कोश, पृ. 179.
88. वाशम, वही, पृ. 41.
89. वै. अभि. ग्रं. पृ. 37 : वस्सकार की भेद नीति राजनीतिक न होकर सामाजिक थी. राजनीति पर तो वह किसी से बात भी नहीं करता था. जैसे वह किसी से कहता, 'सुना है आजकल आप बड़े कष्ट में हैं, और भिक्षा मांगकर गुजारा कर रहे हैं.' 'आप से किसने कहा,' युवक पूछता तो वस्सकार कहता, 'छोड़ो बताने से क्या लाभ' फिर बहुत कहने पर किसी का नाम बता देता, इसी तरह वह किसी से कहता, 'तुह जमीन जो आपके अधिकार में है. वह क्या दूसरे की है? आपने उससे छीना है?' वह पूछता कि किसने कहा तो वह घुमा फिरकर किसी लिच्छवि का नाम ले लेता. इस तरह लिच्छवि लोग आपस में विश्वास खोने और लड़ने लगे? उनमें एक साथ बैठना-उठना बंद हो गया. अपशब्द बोलना आम बात हो गई. जब यह स्थिति पराकाष्ठा पर पहुँच गई तब वस्सकार ने अजातशत्रु के पास संवाद भिजवाया कि अब आक्रमण करने का उचित अवसर आ गया है (वही).
90. संयुक्त निकाय, पृ. 268; धम्मपद अट्टकथा (टीका) iii, पृ. 280.
91. महाभारत 12/107.
92. कोटिल्य अर्थशास्त्र xi. 1.5-6; लिच्छविक, वज्रिक मल्लिक "राजशब्दोपजीविन्
93. दीघ निकाय, 2, पृ. 522.

## हासोन्मुख लिच्छवि गणराज्य

अजातशत्रु के दुर्बल उत्तराधिकारियों के पतन के पश्चात् शिशुनाग मगध के सिंहासन पर बैठा<sup>1</sup> जो महावंश के अनुसार अमात्य<sup>2</sup> था। रायचौधुरी के अनुसार वह पहले वाराणसी का गर्वनर रह चुका था। संभवतः उसकी योग्यता तथा कुलीनता से प्रभावित होकर ही जनता और मंत्रियों ने नाग दासक को सिंहासन से उतारकर उसे अपना राजा निर्वाचित किया।<sup>3</sup> मालालंकार वत्थु<sup>4</sup> नामक ग्रंथ ने ज्ञात होता है कि शिशुनाग एक लिच्छवि राजा से उत्पन्न वैशाली की एक 'नगर शोभिनी' का पुत्र था। जिसका पालन-पोषण एक राजकीय अधिकारी ने किया था। योगेन्द्र मिश्र के अनुसार वज्जिसंघ में सम्मिलित भोगि या भोग कुल के लोग संभवतः सर्पफण को प्रतीक चिह्न के रूप में अपने मुकुट में लगाते थे और महाभारत में 'वैशालेयाः भोगिनः' का उल्लेख इसी कुल के संदर्भ में हुआ है।<sup>5</sup> यदि योगेन्द्र मिश्र का समीकरण स्वीकार कर लिया जाए तो यह संभावना बन सकती है कि इसी भोग कुल के वंशज बाद में अपने नाम के साथ 'नाग' लगाने लगे होंगे। इस तरह शिशुनाग को भोग कुल से संबंधित किया जा सकता है। रायचौधुरी शिशुनाग को हर्यङ्क नाग वंश से संबंधित बताते हैं।<sup>6</sup>

मालालंकार वत्थु में दी गई कथानुसार शिशुनाग को अपने जन्म की कथा ज्ञात होने पर पुनः वैशाली को अपनी राजधानी बनाया, और उसी समय से राजगृह राजधानी होने से वंचित हो गई, बाद में उसे यह सम्मान कभी नहीं प्राप्त हुआ।<sup>7</sup> शिशुनाग ने अठारह वर्षों तक राज्य किया। उसके पश्चात् कालाशोक या काकवर्ण<sup>8</sup> सिंहासन पर बैठा। उसने पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनाया, लेकिन उसने वैशाली का महत्त्व कम नहीं किया।<sup>9</sup> महावंश के अनुसार भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के 100 वर्ष पश्चात् (383 ई. पू. के आसपास) वैशाली में द्वितीय बौद्ध संगीति का आयोजन हुआ था।<sup>10</sup> यह संभवतः कालाशोक के शासन काल ( लगभग 393-365)<sup>11</sup> में हुआ था। इस प्रकार वैशाली का महत्त्व बौद्ध धर्म का केंद्र होने के कारण बना रहा।<sup>12</sup>

कालाशोक के पश्चात् संभवतः महापद्मनन्द सन् 363 ई. पू. के लगभग मगध के सिंहासन पर बैठा।<sup>13</sup> पुराणों में महापद्मनन्द को परशुराम के समान 'सर्वक्षात्रान्तक' कहा



गया है जिससे प्रतीत होता है कि उसने अपने समय के बहुत से क्षत्रिय राजाओं को परास्त किया था।<sup>14</sup> पुराणों के अनुसार भारत युद्ध ने महापद्मनन्द तक चौबीस इक्ष्वाकु, छब्बीस पांचाल, चौबीस काशी, छब्बीस हैहय (नर्मदा धारी), बर्तीस कलिंग (उड़ीसा), पच्चीस अश्मक (गोदावरी धारी), सैंतीस कुरू (दिल्ली प्रदेश), अट्टाईस मैथिली, बत्तीस शूरसेन तथा बीस वीतिहोत्र नरेशों ने राज्य किया था।<sup>15</sup> जिन्हें महापद्मनन्द ने संभवतः समूल नष्ट कर एक छत्र साम्राज्य स्थापित किया।<sup>16</sup> लेकिन पुराणों में स्पष्ट नहीं कहा गया है कि उसने किन क्षत्रिय राजाओं को परास्त किया था। अतः इसके आधार पर कोई स्पष्ट निर्णय नहीं लिया जा सकता है।

महापद्मनन्द तथा उसके उत्तराधिकारियों के काल में वैशाली की क्या स्थिति रही थी, इसकी स्पष्ट जानकारी नहीं उपलब्ध है लेकिन यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पहले की तरह नन्दों के समय में भी लिच्छवि पाटलिपुत्र के राजाओं की प्रभुसत्ता स्वीकार करते हुए, अपनी गणतांत्रिक व्यवस्था को सुरक्षित रखे रहे। इसलिए कौटिल्य<sup>17</sup> अर्थशास्त्र में लिच्छवियों का गणराज्यों की सूची में उल्लेख मिलता है।

नन्दवंश के पतन के पश्चात् मगध के सिंहासन पर चन्द्रगुप्त मौर्य (लगभग 323 ई. पू.) सिंहासन पर बैठा। वैशाली क्षेत्र सौराष्ट्र की तरह परोक्ष रूप में मौर्य सम्राटों के साम्राज्य में था। यह वैशाली के उत्खनन से प्राप्त तीसरी शताब्दी ई. पू. की मौर्य कालीन मुहर से सिद्ध हो चुका है।<sup>18</sup> लेकिन यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि वैशाली क्षेत्र में चन्द्रगुप्त प्रथम ने किस प्रकार की व्यवस्था की थी परंतु कौटिल्य अर्थशास्त्र यह संदर्भ अवश्य देता है कि लिच्छवि गणतांत्रिक स्वशासन का उपभोग कर रहे थे इससे यह कहा जा सकता है कि संभवतः लिच्छवि मौर्यों के करद गणराज्य के रूप में अपना अस्तित्व बनाए रहे।<sup>19</sup>

चन्द्रगुप्त मौर्य के पश्चात् बिन्दुसार (लगभग 300 ई. पू.) सत्ता में आया। उसके पश्चात् अशोक (लगभग 269 ई. पू.) सिंहासन पर बैठा। उसके साम्राज्य के अंतर्गत कुछ तमिल राज्यों को छोड़कर संपूर्ण भारतवर्ष था।<sup>20</sup> ललित पाटन और रामपुरवा के अवशेष ने स्पष्ट है कि नेपाल की तराई तथा चंपारण जिला तक का क्षेत्र उसके साम्राज्य के अंतर्गत था।<sup>21</sup>

अशोक लगभग 250 ई. पू. में पाटलिपुत्र में नेपाल जाते हुए वैशाली आया था, जहां उसने एक सिंह स्तंभ बनवाया। इस सिंह स्तंभ को वैशाली में उस स्थान पर उसने स्थापित करवाया जहां से उसने नेपाल के लिए पद-यात्रा प्रारंभ की थी। पाटलिपुत्र से वैशाली होता हुआ अशोक लौरिया अरराज, लौरिया नंदनगढ़, रामपुरवा के भिखनाथोरी पहाड़ी पार कर नेपाल गया था। अपने मार्ग को चिह्नित करते हुए उसने एक सिंह स्तंभ वैशाली तथा केसरिया (वैशाली से 30 मील दूर) एक स्तूप स्थापित कराया। इसी तरह आगे की यात्रा में पड़ने वाले महत्वपूर्ण स्थल लौरिया

अरराज में (गोविंद गंज के समीप) एक स्तूप तथा लौरिया नंदनगढ़ तथा रामपुरवा (चंपारण जिले के शिकारपुर से थोड़ी दूर पिपरिया के समीप) में क्रमशः एक-एक स्तंभ स्थापित कराया था।<sup>22</sup>

वैशाली में प्राप्त एक मुहर (क्रम संख्या 800, प्लेट-50)<sup>23</sup> पर 'वैशाली अनुसण्यानक टकार' अंकित है जिसे फ्लीट मौर्यकालीन मानते हैं। उनके अनुसार 'अनुसण्यानक' का अर्थ 'एक यात्रा' और पूरी पंक्ति का अभिप्राय 'वैशाली पर्यटन विभाग या अधिकारी' है।<sup>24</sup> स्पूनर के मतानुसार इस पंक्ति का अभिप्राय 'वैशाली का सब पुलिस स्टेशन टकार' जहां से 'विषय' मुख्यालय वैशाली को कुछ महत्वपूर्ण कागजात भेजे गये हैं।<sup>25</sup> इससे प्रतीत होता है कि अशोक के समय में वैशाली एक महत्वपूर्ण 'विषय' मुख्यालय था। इतिहासकारों का मत है कि अशोक कलिंग विजय के उपरांत अहिंसा का अनुयायी हो गया था और उसने रण-विजय के स्थान पर धर्म-विजय करने का अभियान चलाया। इस अभियान में उसने बड़ी संख्या में बौद्ध भिक्षुओं को तिब्बत तथा अन्य पड़ोसी देशों में भेजा।<sup>26</sup> लिच्छवियों में अधिकांश बौद्ध मत के अनुयायी तथा एक बड़ी संख्या में बौद्ध भिक्षु थे जिसका अनुमान वैशाली में हुई द्वितीय बौद्ध संगीति से लगाया जा सकता है। इसमें वैशाली क्षेत्र के भिक्षुओं ने प्रमुख रूप से भाग लिया तथा नेतृत्व भी किया।<sup>27</sup> इस प्रकार वैशाली अशोक के समय में भी महत्वपूर्ण धर्म स्थान रहा होगा। अशोक स्वयं बौद्ध धर्म का अनुयायी था। अतः यह अनुमान लगाना असंगत नहीं होगा कि उससे बौद्ध धर्म के अनुयायी तथा प्रचारक लिच्छवियों को विशेष महत्त्व दिया हो, और वैशाली को सीधे अपने प्रशासन में न लेकर 'गणराज्य' के रूप में रहने दिया हो। संभवतः इसका संपूर्ण प्रशासन बौद्ध लिच्छवियों के हाथ में ही रहा तथा वैशाली को केवल नाम मात्र की प्रभुसत्ता के अंतर्गत रखा हो। उसने बौद्ध जनता को प्रसन्न करने के लिए वैशाली में भगवान बुद्ध से संबंधित स्थलों को आकर्षक तथा तीर्थयात्रियों की सुख-सुविधा युक्त बनाने में भी योगदान दिया हो, जैसा कि वैशाली क्षेत्र में उसके द्वारा स्थापित स्तंभों तथा स्तूपों से स्पष्ट आभास मिलता है।

मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् पुष्यमित्र शुंग ने उत्तरी भारत के शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली।<sup>28</sup> उसी समय पश्चिमी भारत पर यवनों ने आक्रमण किया। कुछ विद्वानों के अनुसार मिलिन्द (मिनेण्डर) ने पाटलिपुत्र पर भी चढ़ाई करके उसे पराजित कर अल्पकालीन विजय प्राप्त की थी।<sup>29</sup> किंतु पाटलिपुत्र में इस उथल-पुथल से लिच्छवियों ने स्वतंत्र होने का प्रयत्न किया हो, संदिग्ध है। संभवतः पाटलिपुत्र से लगा हुआ क्षेत्र होने के कारण लिच्छवि अपने को स्वतंत्र घोषित करने का अवसर नहीं प्राप्त कर सके होंगे।<sup>30</sup>

वैशाली के उत्खनन में प्राप्त तीन मृण्मय मूर्तियां मौर्य या शुंग कालीन हैं तथा अन्य तीन खण्डित मृण्मय मूर्तियां मार्शल<sup>31</sup> के अनुसार निश्चित रूप से शुंग कालीन



हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वैशाली पर पुष्यमित्र का प्रभुत्व रहा था, यद्यपि यहां के प्रशासनिक स्वरूप के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती है। लेकिन यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ब्राह्मण व्यवस्था की पुनर्स्थापना करने वाले पुष्यमित्र शुंग ने इस क्षेत्र के प्रशासन में बौद्ध लिच्छवियों को उपेक्षित कर मैथिल ब्राह्मण को नियुक्त किया होगा। इस अनुमान का आधार यह है कि पुष्यमित्र शुंग ने अन्य प्रांतों के प्रमुख पदों पर अपने परिवार के सदस्यों या संबंधियों को ही नियुक्त किया था। पुष्यमित्र शुंग द्वारा उपेक्षित किये जाने पर लिच्छवियों के मन में स्वभावतः केंद्र के प्रति अनास्था उपजी होगी, लेकिन शक्तिशाली पुष्यमित्र शुंग के शासन काल में प्रतिरोध करना उनके लिए संभव नहीं था। परंतु जब पुष्यमित्र के दुर्बल उत्तराधिकारियों के काल में केंद्र अशक्त हो गया तो लिच्छवियों ने अवश्य अनुकूल अवसर का लाभ उठाया होगा। परवर्ती शुंग वंशीय राजाओं के काल में ही मगध का साम्राज्य टूटने लगा था, इसके प्रमाण मिलते हैं। संभवतः मागधी साम्राज्य की दुर्बलता का लाभ उठाकर लिच्छवियों ने भी अपने को स्वतंत्र कर लिया हो।

### विकेंद्रीकरण की प्रवृत्ति

वसुमित्र की मृत्यु (लगभग 126 ई. पू.) के पश्चात् मगध छिन्न-भिन्न होने लगा था। पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठने वाले परवर्ती शुंग नरेशों में इतनी शक्ति नहीं थी कि देश में फैली अराजकता को समाप्त कर शांति स्थापित कर पाते। दरबार स्वयं षड्यंत्र का अड्डा बन गया था।<sup>32</sup> इन्हीं षड्यंत्रों के द्वारा जल्दी-जल्दी राजा सिंहासन पर आसीन और अपदस्थ हुए। इसी क्रम में अंतिम शुंगराजा देवभूति की हत्या (लगभग 75 ई. पू.) कण्व के द्वारा हुई थी।<sup>33</sup> यह अराजकता का युग था। कलिंग नरेश खारवेल द्वारा उत्तर भारत पर दो बार सफल आक्रमण करना भी इसी बात का द्योतक है।<sup>34</sup> इसी अशांतिकाल में शुंगो तथा यूनानियों की निर्बलता का लाभ उठाकर पश्चिम भारत में गणराज्यों का पुनरुत्थान हुआ जिसमें यौधेय, मालव, क्षुद्रक, आर्जुनायन, कुकुर तथा वृष्णि आदि उल्लेखनीय हैं।<sup>35</sup> इसी तरह मध्यदेश के बहुत सारे सामंत स्वतंत्र शासक बन बैठे। इन स्वतंत्र राजाओं के 'मित्रान्त सिक्के' उत्खनन में मिले हैं। पुरातत्व विभाग कार्यालय<sup>36</sup> ने इन राजाओं की एक सूची तैयार की है जो उत्खनन में प्राप्त मुद्राओं पर अवलंबित है। इसी सूची में निम्नलिखित नाम हैं : पुष्यमित्र, भद्रघोष, सूर्यमित्र, अनुमित्र, भानुमित्र, अग्निमित्र, फाल्गुनीमित्र, भूमिमित्र, इंद्रमित्र, विजयमित्र, सत्यमित्र, सभामित्र, आयुमित्र, ध्रुवमित्र। ये राजा शुंग वंश के थे, इस पर कुछ नहीं कहा जा सकता है। इतिहासकारों के लिए यह बहुत कठिन समस्या है कि वे इन राजाओं को कहां स्थान दें? लेकिन सिक्कों के आधार पर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि परवर्ती शुंग राजाओं के काल में ये 'मित्रान्त' धारी राजा स्वतंत्र राजा थे। असंभव नहीं कि इसी अवधि में लिच्छवि गणराज्य भी कभी पुनः स्वतंत्र गणराज्य हो गया हो<sup>37</sup> यद्यपि इसका कोई



साहित्यिक या पुरातात्विक साक्ष्य अभी तक नहीं मिला है। लेकिन उत्तर भारत की तत्कालीन राजनीतिक स्थिति तथा गुप्तों के उत्थान में लिच्छवियों के सहयोग करने योग्य शक्ति को देखते हुए इस संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि लिच्छवि स्वतंत्र हो गए हों।

## लिच्छवियों का पुनरुत्थान

परवर्ती शुंग राजाओं तथा कण्वों के शासन काल में लिच्छवियों की क्या स्थिति थी, कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। लेकिन इन दुर्बल राजाओं के प्रभुत्व में लिच्छवि रहे हों अस्वाभाविक लगता है। संभव है कि लिच्छवियों ने स्वतंत्र गणराज्य स्थापित कर लिये हों तथा उन्होंने स्वतंत्र सिक्के भी प्रसारित किए हों जिसका स्वरूप 'चन्द्रगुप्त कुमारदेवी' अंकित सिक्के की भांति रहा हो। अल्लेकर महोदय<sup>38</sup> ने भी इस संभावना पर बल दिया है कि मालवों, यौधेयों तथा आर्जुनायनों की भांति लिच्छवियों ने भी 150 ई. पू. ने 320 ई. पू. तक स्वतंत्र सिक्के प्रसारित किए होंगे। संभव है भविष्य में ऐसा कोई सिक्का वैशाली तथा आसपास के ऐतिहासिक स्थलों के उत्खनन में मिल भी जाए जिस पर चन्द्रगुप्त प्रथम के सिक्कों का लेख 'लिच्छवयः' अंकित हो, जिसे बाद में चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपनाया था।

इस प्रकार अनुमान लगाया जा सकता है कि लिच्छवि वसुमित्र की मृत्यु (लगभग 120 ई. पू.) के पश्चात् कभी अपने को स्वतंत्र कर लिया। इस मत की पुष्टि के लिए उस समय उठ रहे अनेक राजवंशों के इतिहास पर दृष्टिपात करना अपेक्षित होगा। पुराणों<sup>39</sup> का कथन है कि सातवाहनों में प्रथम सिमुक अथवा 'शिशुक' सुशर्मान कण्वायन तथा शेष शुंग शक्ति को समूल नष्ट कर पृथ्वी पर शासन करेगा। डॉ. भण्डारकर<sup>40</sup> का मत है कि सिमुक ने प्रथम शताब्दी ई. पू. मगध पर शासन किया था। इसी तरह जायसवाल<sup>41</sup> का मत है कि कण्वों के पश्चात् आंध्रों ने मगध पर 50 वर्षों तक शासन किया होगा। बाद में सातवाहनों को अपना ध्यान पश्चिम भारत में कुषाणों की ओर लगाना पड़ा। ऐसी स्थिति में संभव है कि लिच्छवियों ने सातवाहनों से आज्ञा प्राप्त कर पाटलिपुत्र पर अधिकार कर लिया हो। इससे प्रतीत होता है कि आंध्रों का लिच्छवियों के साथ संबंध मैत्रीपूर्ण था। यह भी संभव है कि लिच्छवियों ने आंध्रों को पाटलिपुत्र सहित मगध पर अधिकार प्राप्त करने में सहायता भी दी हो और जब आंध्रों को कुछ ही समय पश्चात् विदेशी कुषाणों ने निपटने के लिए अपने मूल क्षेत्र में लौटना पड़ा तो पाटलिपुत्र का शासन भार लिच्छवियों को सौंप दिया हो।

इसी प्रकार कलिंग नरेश खार्वेल द्वारा वैशाली क्षेत्र पर अधिकार करने की स्थिति भी संदेहास्पद है। हाथी गुम्फा अभिलेख<sup>42</sup> यह दावा करता है कि खार्वेल ने अपने शासन के आठवें वर्ष गोरथ पहाड़ी पर आक्रमण कर राजगृह को प्रताड़ित किया

तथा शासन काल के बारहवें वर्ष उसने उत्तरापथ के राजा को हतोत्साहित करने के लिए अपने हाथियों को गंगा (सुगण्डीय ?) में स्नान कराया और मगध तथा अंग को अपने अधीन कर लिया। लेकिन कलिंग नरेश खारवेल अपनी विजय यात्रा के पश्चात् उपहार, कर आदि एकत्र कर कलिंग लौट गया। इससे स्पष्ट है कि उन राज्यों को वह अपने पूर्ण नियंत्रण में नहीं रख पाया था। संभव है, अन्य राज्यों की भांति वैशाली के लिच्छवियों ने भी उसे बहुमूल्य उपहार, कर आदि देकर संतुष्ट कर दिया हो। खारवेल जैन धर्म का अनुयायी था। अतः महावीर स्वामी की जन्मभूमि होने के कारण वैशाली उसकी श्रद्धा भूमि रही होगी। यह भी संभव है कि उसने वैशाली को अछूता ही छोड़ दिया हो। इस प्रकार इस संभावना को पूर्णरूप से अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि लिच्छवि अब पाटलिपुत्र सहित वैशाली में स्वतंत्र गणराज्य का संचालन करते रहे हों।

### कनिष्क के समय में लिच्छवि

‘कल्पनामण्ड टीका’ नामक ग्रंथ के चीनी अनुवाद से प्रकट होता है कि कनिष्क ने ‘तिएन चु’ (पूर्वी भारत) पर आक्रमण किया और इसे अधिकार में कर शांति स्थापित की।<sup>43</sup> इसी तरह ‘श्री धर्मपिटक निदान ‘सूत्र’ में देवपुत्र द्वारा पाटलिपुत्र पर आक्रमण तथा पाटलिपुत्र के राजा का पराजित होना अश्वघोष भी स्वीकार करते हैं। इसके अनुसार देवपुत्र ने पराजित राजा से नौ लाख स्वर्ण मुद्राएं क्षतिपूर्ति में मांगी। लेकिन उस राजा ने इस राशि के स्थान पर भगवान बुद्ध का प्राचीन भिक्षा पात्र (आत्म वो) देवपुत्र को भेंट किया।<sup>44</sup> उक्त चीनी तथा भारतीय अनुश्रुति के अतिरिक्त वैशाली तथा मगध क्षेत्र में बहुसंख्या में प्राप्त सिक्के कनिष्क द्वारा पाटलिपुत्र पर अधिकार करने की बात पर विश्वास करने के लिए प्रेरित करते हैं। एच. पाण्डेय के निरीक्षण में तिरहुत भुक्ति के सारन जिले के बेलवा नामक स्थान के उत्खनन में कनिष्क काल के पंचमार्क चांदी के सिक्के मिले।<sup>45</sup> पुनः वैशाली उत्खनन (1913-14 ई.) में कुछ कनिष्क टाइप (पंचमार्क से अलग) तथा अन्य सिक्के, जो स्पष्ट रूप से कैडिफिसेस द्वितीय के हैं, मिले हैं जिससे कहा जा सकता है कि कनिष्क का साम्राज्य संभवतः तिरहुत तथा समवर्ती क्षेत्र तक अवश्य विस्तृत था।<sup>46</sup> इस प्रकार जुबिष्क टाइप की एक स्वर्ण मुद्रा 1914 ई. में बेल्लडग थाना तथा कनिष्क का एक ताम्र सिक्का कर्मा में मिला है।<sup>47</sup> ये दोनों स्थान रांची जिले में हैं। कनिष्क के ‘वायु टाइप’ के दो सिक्के पटना (साइट-१) के उत्खनन में मिले।<sup>48</sup> इसी तरह कुम्रहार के उत्खनन में विम कैडिफिसेस के तीन सिक्के, कनिष्क के बारह सिक्के, हुषिक के तीस सिक्के मिले हैं।<sup>49</sup> इसके अतिरिक्त बक्सर में कुषाण सिक्कों का ढेर मिला है। इन सिक्कों को देखते हुए अल्तेकर ने सुझाव दिया कि ये ताम्र सिक्के व्यापार के माध्यम से कभी मध्य देश या पश्चिम भारत से यहां आए, यह कहा नहीं जा सकता है। सिक्कों के ढेर में इस तरह



के सिक्कों का मिलना हमें इसी निष्कर्ष पर ले जाता है कि कुषाणों ने मगध पर आक्रमण कर उस पर विजय प्राप्त की थी।<sup>50</sup>

नेपाल के प्रख्यात इतिहासकार रेग्मी का मत है कि संभवतः इन्हीं आरंभिक कुषाणों के आक्रमण के भय से लिच्छवियों ने नेपाल आकर शरण ली तथा बाद में स्वयं को स्थापित करने में सफल हुए।<sup>51</sup> लेकिन किसी भी साक्ष्य से इस बात की पुष्टि नहीं होती कि लिच्छवियों ने कुषाण काल में वैशाली छोड़कर नेपाल में शरण ली थी। जैसा कि विदित है कि कनिष्क ने अपने को बौद्ध धर्म का अनुयायी तथा 'त्राता' कहते हुए सुदूरपूर्व में बौद्ध की मूर्तियां तथा सिक्के बहुत अधिक मात्रा में भिजवाए, जिससे वहां की बौद्ध जनता उसे अपना रक्षक समझकर आक्रमण के समय सहयोग दे। यह उसका एकमात्र राजनीतिक उद्देश्य था। इस क्षेत्र के शक्तिशाली लिच्छवियों में भी एक बड़ी संख्या बौद्ध धर्म के अनुयायियों की थी। अतः संभव है कि लिच्छवियों ने कनिष्क का विरोध किया हो, परन्तु पराजित होने पर भगवान बुद्ध का भिक्षा पात्र<sup>52</sup>, जिसके विषय में अनुश्रुति है कि भगवान बुद्ध अंतिम बार वैशाली छोड़ते हुए यादगार स्वरूप लिच्छवियों को भेंट कर गए थे, कनिष्क को समर्पित कर दिया हो। इस प्रकार लिच्छवियों ने कुषाणों की नाममात्र की मैत्रीपूर्ण अधीनता स्वीकार कर अपनी यथास्थिति बनाए रखी हो। संभवतः कनिष्क ने इस क्षेत्र को सीधे प्रशासन में नहीं लिया क्योंकि यह क्षेत्र केंद्र से काफी दूर पड़ता था, अतः वह पंजाब लौट आया होगा। उसने अपने विशाल साम्राज्य को दो प्रमुख केंद्रों में विभाजित किया जिसमें एक की राजधानी पेशावर (पुरुषपुर) तथा दूसरे की मथुरा थी। कुषाण साम्राज्य के प्रशासनिक ढांचे के विषय में अधिक जानकारी नहीं मिलती है। लेकिन इतना ज्ञात है कि उसने अपने विशाल साम्राज्य को कई उप केंद्रों में बांटकर वहां महाक्षत्रप तथा क्षत्रप की नियुक्तियां की थीं। इस प्रकार कनिष्क के शासन के तीसरे वर्ष के दो शिलालेख<sup>53</sup> सारनाथ में मिले हैं जिसमें महाक्षत्रप खरपल्लान और क्षत्रप बनस्पर का उल्लेख है। खरपल्लान मथुरा का महाक्षत्रप तथा बनस्पर बनारस का क्षत्रप था। इसी तरह कोई क्षत्रप मगध तथा वैशाली पर नियंत्रण तथा प्रशासन के लिए नियुक्त किया गया था, या यह संपूर्ण क्षेत्र बनारस के क्षत्रप के नियंत्रण में था, इस संबंध में कोई जानकारी नहीं मिलती है।

अनुश्रुतियों से भी ज्ञात होता है कि पाटलिपुत्र में शक वंश का कुछ समय तक अवश्य राज्य रहा था जिनके प्रधान शासकों की पदवी मुर्ंड थी। एक मुर्ंड राजा की विधवा बहन जैन भिक्षुणी हो गई थी। इसी प्रकार एक मुर्ंड राजा जैन धर्मी बन गया था।<sup>54</sup>

इस प्रकार कहा जा सकता है कि पाटलिपुत्र तथा वैशाली क्षेत्र पर कुछ समय तक अवश्य शकों का नाममात्र का प्रभुत्व रहा हो। लेकिन हुविष्क के शासन काल (138 ई. तक) के पश्चात् जब कुषाण साम्राज्य हासोन्मुख हुआ और विशाल साम्राज्य कई केंद्रों में



विभाजित होने की ओर अग्रसर हुआ, उस समय वैशाली के लिच्छवियों ने भी संभवतः अवसर का लाभ उठाया और पुनः अपने को स्थापित कर लिया। केंद्र से कुषाणों के काफी दूर होने के कारण ऐसा संभव हुआ होगा।

उपेन्द्र ठाकुर<sup>55</sup> ने वैशाली को कुछ समय के लिए उज्जैन के शकों के भी अधीन होने का अनुमान लगाया है। उन्होंने यह मत वैशाली के उत्खनन (1913-14 ई.) में प्राप्त उज्जैन के शकों की कुछ मुहरों के आधार पर प्रकट किया है। एक मुहर<sup>56</sup> (मुहर संख्या 248) पर 'राजनो महाक्षत्रप स्वामीरुद्रसिंहस्य दुहित राजनो महाक्षत्रपस्य स्वामी रुद्रसेनस्यभगिन्या प्रभुदामाय महादेवया (ह) अंकित है, अर्थात् 'महाक्षत्रप स्वामी रुद्रसिंह राजा की बहन महादेवी प्रभुदामा की मुहर। इस मुहर के आधार पर उपेन्द्र ठाकुर ने अनुमान लगाया कि वैशाली क्षेत्र कुछ समय के लिए अवश्य रुद्रसेन प्रथम के अधिकार में रहा था। लेकिन यह तर्कसंगत नहीं लगता है कि उज्जैन के शकों का संबंध वैशाली तथा आसपास के क्षेत्रों में कनिष्क के समय में रह रहे कुषाण परिवारों से रहा हो। वैशाली में इन शक राजाओं की मुहरें व्यापार के माध्यम से भी पहुंच सकती हैं जिनका उपयोग व्यापारिक अनुबंधों आदि में होता रहा होगा। वैशाली इस समय भारतवर्ष में एक प्रमुख व्यापारिक केंद्र था, जहां न केवल देश के विभिन्न भागों से व्यापारी आया-जाया करते थे, अपितु इस व्यापारियों का संबंध मध्य एशिया रोम, और चीन से भी था।<sup>57</sup> अतः संभव है कि वैशाली में सभी प्रमुख राज्यों का एक व्यापार गृह रहा हो जहां उन राज्यों की तरफ से व्यापारिक अनुबंध होते रहे हों जिस तरह आज प्रमुख व्यापारिक नगरों तथा राजधानी नई दिल्ली में व्यापारिक एजेंसियां तथा दूतावास स्थित हैं। अतः केवल इस मुहरों के आधार पर वैशाली पर रुद्रसेन प्रथम का आधिपत्य नहीं सिद्ध किया जा सकता है। संभवतः उज्जैन के शकों का क्षेत्र पश्चिम भारत ही रहा था जहां वे सातवाहनों तथा मालवों से उलझते रहे और उन्हीं के द्वारा अंत में उन्मूलित भी हुए। इसीलिए गौतमी पुत्र शातकर्णी को नासिक अभिलेख में खखरात वंसनिद्धेसेसकरस (क्षहरात वंश का समूल नाश करने वाला) तथा 'शक यवन पल्हवनिसूस' (शकों, यवनों और पल्हवों का नाश करने वाला) कहा गया है। इस तरह ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिम भारत के इस अशांति काल में वैशाली के लिच्छवि स्वशासन का उपयोग करते हुए अपनी शक्ति में वृद्धि करते रहे तथा अपने समीपवर्ती क्षेत्रों (पाटलिपुत्र सहित) पर भी प्रभाव बनाए रखने में सफल रहे।

### संदर्भ तथा टिप्पणियां

1. उपेन्द्र ठाकुर, मिथिला, पृ. 163.
2. वही, पृ. 164.

3. रायचौधुरी (पो. हिस्ट्री, छठा संस्करण, पृ. 219) के अनुसार वह वाराणसी का गवर्नर रह चुका था, संभवतः उसकी योग्यता तथा कुलीनता से प्रभावित होकर ही जनता और मंत्रियों ने उसे अपना राजा चुना था।
4. जार्ज टर्नर, महावंश, सीलोन (1837), भूमिका, पृ. 37-38.
5. वैशाली, पृ. 90.
6. पो. हिस्ट्री (छठा संस्करण) पृ. 119, अ. भा. ओ. रि. इ. (1920-21), पृ. 3; सै. बु. ई. ii, पृ. 16.
7. मिथिला; पृ. 165; पो. हिस्ट्री (छठा संस्करण), पृ. 119-20; अ. भा. ओ. रि. इ., 1920-21, पृ. 3; सै. बु. ई., भाग ii, पृ. 16.
8. ब्रह्माण्ड पु. (26-20-28) और दिव्यवादान में उसका नाम 'काकवर्ण' बताया गया है, संभवतः ये दोनों नाम एक ही राजा के हो सकते हैं।
9. मिथिला, पृ. 165; पो. हिस्ट्री (छठा संस्करण) 4, पृ. 222 और आगे.
10. महावंश (4-7) के अनुसार यह द्वितीय परिपद भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के 100 वर्ष पश्चात् (483—100=383 ई. पू. में वैशाली में हुई थी, पो. हिस्ट्री (छठा संस्करण) पृ. 222 और आगे; मिथिला, पृ. 166.
11. द्रष्टव्य, अध्याय प्रारंभिक इतिहास.
12. मिथिला, पृ. 164.
13. द्रष्टव्य, प्रारंभिक इतिहास.
14. विष्णुपुराण (विल्सन द्वारा संपा.), भाग 9, पृ. 184, टिप्पणी; मिथिला, पृ. 165.
15. मिथिला, पृ. 166; डायनस्टीज आफ कलि एज (पार्जिटर) पृ. 23-24 (संस्कृत मूल) तथा पृ. 69 (अंग्रेजी अनुवाद).
16. वही, पृ. 166.
17. कौटिल्य अर्थशास्त्र, ii.i. 5-6.
18. मिथिला, पृ. 168.
19. मिथिला, वही; अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ. 285 : संभव है कि कुछ गणराजा अधीनता स्वीकार कर करद गणराज्य के रूप में बचे होंगे, मौर्य साम्राज्य के प्रांतीय शासक या राज्यपाल उप पर नियंत्रण रखते होंगे (वही).
20. मिथिला, पृ. 169.
21. वही, पृ. 169.
22. स. न. सि. 26; पो. हिस्ट्री (छठा संस्करण) पृ. 309; मिथिला, पृ. 170.
23. अ. स. इ. रि. (1913-14) पृ. 111-12; मिथिला, पृ. 171.
24. वही, पृ. 111-12; ज. रा. ए. सो. (1908) पृ. 821; मिथिला, वही.
25. वही, पृ. 112; मिथिला, वही.
26. ज. दि. रि. सो. 38, पृ. 351-52.
27. द्रष्टव्य, धार्मिक दशा का अध्याय.
28. पो. हिस्ट्री (छठा संस्करण); पृ. 364 और टिप्पणी 12; हर्षचरित्र (ए. ए. फुहरेर द्वारा संपा. बंबई, 1909) 'प्रतिज्ञादुर्बलं च बल दशनव्यपदेशा दृशिताशेष सैन्य : सेनानी अनायों मौर्य वृद्धद्वयं पिपेह पुष्यमित्रः' (छठा संस्क्र.), पृ. 369-70; मिथिला, 173; अश्वलायन श्रौत सूत्र, 12. 13.5; ज. ए. सो. बं. 1912), पृ. 287.
29. टार्न, दि ग्रीक्स इन वैक्ट्रिया एण्ड इंडिया, पृ. 141; इन आक्रमणों के विफल करने पर उसने अश्वमेध यज्ञ किया (द्विरश्वमेधयाजि : सेनापते : पुष्यमित्रस्य (धनदेव का अयोध्या अभिलेख); चन्द्रभान

पाण्डेय, इंडियन न्यूमेटिक क्रोनोमिकल (1969, पार्ट i-ii), पृ. 45-55.

30. मिथिला, पृ. 174.
31. आ. स. इ. ए. रि 1913-14, क्रमसंख्या, 532, 55 तथा 569, प्लेट—xlili—liv (मिथिला, पृ. 174, टिप्पणी),
32. हर्ष चरित्र (कावेल और टामस द्वारा अनूदित, पृ. 192) में इसका आभास मिलता है कि नाटक के पात्र मित्रदेव ने नाटक के पात्रों के मध्य ही अग्निपुत्र के पुत्र सुमित्र का सिर कमलदण्ड की भांति काट लिया जो नाटक देखने गया। यह मित्रदेव कौन था, निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है।
33. मिथिला, पृ. 175; पो. हिस्ट्री (छठा संस्क.) पृ. 395-96.
34. वही, पृ. 177; हाथी गुम्फा अभिलेख (एपि. ग्रा. इंडिका, भाग 2, पृ. 79 व 88).
35. स. न. त्रिपाठी, वही, पृ. 42; अल्तेकर, स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन एंशियेंट इंडिया, पृ. 338 : सिक्कों का साक्ष्य दर्शाता है कि यौधेय, अर्जुनायन, मालव लगभग 150 ई. पू. में पुनः स्वतंत्र हो गए, नंदसा यूप अभिलेख (226 ई. का) दर्शाता है कि श्री सोम का परिवार विदेशी क्षत्रपों को उखाड़कर कैसे मालवा में पुनः स्वतंत्रता प्राप्त करने में सफल हुए,
36. ज. ए. सो. वं., भाग 48, 1880.
37. अल्तेकर (वै. अभि. ब्र., पृ. 70) सोचते हैं कि शुंग व कण्वों के पतन के पश्चात् लिच्छवि पुनः स्वतंत्रता प्राप्त करने में सफल हुए,
36. ज. ए. सो. वं., भाग 48, 1880.
37. अल्तेकर (वै. अभि. ब्र., पृ. 70) सोचते हैं कि शुंग व कण्वों के पतन के पश्चात् लिच्छवि पुनः अपने गौरव को स्थापित करने में सफल हो गए होंगे, अल्तेकर (स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन एंशियेंट इंडिया, पृ. 338) कहते हैं कि बहुत संभव है कि लिच्छवि मौर्यों के पतन के पुनः बाद गणराज्य स्थापित कर लिये हों.
38. अल्तेकर, वैशाली इतिहास के अंधकार युग की समस्याएं (भाण्ण, 1950), पृ. 3 : 'उत्खनन से पता चलेगा कि 150 ई. तक लिच्छवि प्रजातंत्र उन्नति करता रहा, दूसरे समकालीन गणों के सदृश लिच्छवि भी सिक्के प्रचलित करते रहे, संभव है कि खुदाई से ऐसे सिक्कों का पता लगे जिसके आधार पर यह सिद्ध हो जाए कि चन्द्रगुप्त प्रथम के सिक्कों पर लेख 'लिच्छवयः; पूर्वकालीन लिच्छवि सिक्कों से उद्धृत किया गया हो, जिसे चन्द्रगुप्त प्रथम ने अपनाया.
39. पो. हिस्ट्री (छठा संस्क.), पृ. 403.
40. वही, पृ. 403; मिथिला, पृ. 176.
41. जायसवाल, भारत का अंधकारयुगीन इतिहास, पृ. 207
42. एपि. इंडिका, भाग 20, पृ. lxxv, टिप्पणी 4.
43. का. इ. इ. भाग 2 पृ. lxxv, टिप्पणी 4
44. इ. ए. भाग 8, पृ. 475 और आगे; भाग 32, पृ. 387; का. इ. इ. भाग 2, पृ. lxxiv; ज. रा. ए. सो. (1942) पार्ट i (कनिष्क और अश्वघोष के अनुश्रुति के लिए)
45. एलन, वलान्स आफ एंशियेंट इंडिया, भूमिका, xxiii और आगे; मिथिला, पृ. 179.
46. सिमथ, कैटलाग आफ द क्वान्स इन द इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता, प्लेट xi का चित्र 7; मिथिला, पृ. 180.
47. ज. वि. उ. दि. सो. भाग i, पृ. 231-32; भाग 5, पृ. 78 व टिप्पणी 2; भाग 3, पृ. 174.
48. आ. स. इ. ए. रि 1912-13, पृ. 79, 84, 85.
49. ज. म्यू. सो. इ., भाग 12, पृ. 122.
50. वही, पृ. 122.



51. रेग्मी, एंशिअंट नेपाल, पृ. 49 : लिच्छवियों ने संभवतः कुषाणों के आरंभिक वर्षों में आक्रमण के भय से नेपाल में आकर शरण ली““आगे वे लिखते हैं ‘नेपाल की घाटी के कैडिफिसेस प्रथम व द्वितीय के सिक्के मिलना संभवतः यह सिद्ध करता है कि कम से कम दो कुषाण राजाओं के नियंत्रण में नेपाल अवश्य रहा’ (वही).
52. द्रष्टव्य, पीछे देखिए—
53. एपि इडि, भाग 2, पृ. 173.
54. अभिधान राजेन्द्र, भाग 8, पृ. 726 तथा भाग 9, पृ. 1739 (अल्तेकर द्वारा वैशाली इतिहास अंधकार युग की समस्याएं (भाषण, वैशाली महोत्सव, 1950, पृ. 3 पर उद्धृत).
55. मिथिला, पृ. 182.
56. मिथिला, पृ. 181; इसी प्रकार की राय ‘वैशाली इन्वेशन’ (बी. पी. सिन्हा तथा सीताराम राय द्वारा संपादित) में दी गई है, 1913-14 के उत्खनन से प्राप्त दो मुहरों, जो महादेवी प्रभुदामा से संबंधित है, से 200 ई. में वैशाली पर शक शासक के आधिपत्य का सुझाव देता है. यद्यपि मुहर पर अंकित अनुश्रुति में महादेवी प्रभुदामा के पति का नाम नहीं दिया लेकिन यह विवरण देता है कि वह महाक्षत्रप रुद्रसिंह की पुत्री तथा महाक्षत्रप रुद्रसेन की बहन थी. इसके बाद लिच्छवि शीघ्र ही शक्ति में आ गए और संभवतः 250 ई. में एक राज्य स्थापित किया जिन्होंने गुप्तों के उत्थान में सहायता की.
57. द्रष्टव्य, व्यापार वाणिज्य का अध्याय.

## गुप्त साम्राज्य के अभ्युदय के पूर्व

गुप्त साम्राज्य के अभ्युदय से पूर्व लगभग 220 ई. से 321 ई. (चंद्रगुप्त प्रथम के राज्यारोहण की तिथि) तक भारत, विशेषकर पूर्वी भारत के इतिहास को लिपिबद्ध करना कठिन है क्योंकि इस अवधि में भारत में किसी सार्वभौमसत्ता का अस्तित्व नहीं रह गया था। संपूर्ण उत्तरी भारत छोटे-छोटे राजतंत्रीय तथा गणतंत्रीय राज्यों में विभक्त था। मौर्यों तथा शुंगों के पतन के पश्चात् उत्तरी भारत की अधिकांश भूमि पर विदेशी शक, पल्लव, कुषाण, सासानी आदि जातियों का अधिकार हो गया था। बाद में यहाँ के निवासियों ने जिनसे जमकर लोहा लिया और उन्हें निर्मूल कर दिया। फलस्वरूप देश में बहुत-सी नई शक्तियों का उदय हुआ। मालवा, राजपूताना तथा पंजाब के गणतंत्र परंपरा के निवासियों ने विदेशियों से आर्यभूमि को मुक्त कराकर गणराज्य की स्थापना की।<sup>1</sup> उत्तर प्रदेश तथा मध्यदेश के 'नागों' तथा 'मगधों' ने शकों से अपनी धरती को मुक्त कराकर राजतंत्रीय राज्य स्थापित किया।<sup>2</sup> बंगाल (दक्षिण पश्चिमी) में 'बर्मा' उठ खड़े हुए।<sup>3</sup> राखलदास बनर्जी<sup>4</sup> के अनुसार उड़ीसा में 'मानवंशी' नृपति स्वतंत्र हो गए।

मगध क्षेत्र में राजनीतिक अस्थिरता के कारण तथा सार्वभौम सत्ता के अभाव में लिच्छवियों को पुनः अपना वैभव स्थापित करने का अनुकूल अवसर मिला होगा। रमेशचंद्र मजूमदार<sup>5</sup>, वासम<sup>6</sup>, गोखले<sup>7</sup> तथा अन्य बहुत से विद्वान 'लिच्छवियों' का इस क्षेत्र में काफी प्रभावशाली हो जाना स्वीकार करते हैं।<sup>8</sup> विसैंट आर्थर स्मिथ<sup>9</sup>, रायचौधुरी<sup>10</sup>, काशीप्रसाद जायसवाल<sup>11</sup>, उपेंद्र ठाकुर<sup>12</sup> आदि विद्वानों ने भी स्वीकार किया है कि उत्तर भारत में सार्वभौम सत्ता के अभाव में वैशाली तथा मगध की सीमा पर लिच्छवि पुनः सक्रिय हो गये थे।

### कौमुदी महोत्सव की ऐतिहासिकता

लिच्छवियों का मगध में पाटलिपुत्र पर प्रभाव मानने वाले विद्वानों का मुख्य आधार-स्रोत 'कौमुदी महोत्सव'<sup>13</sup> नाटक तथा नेपाल के लिच्छवि राजा जयदेव द्वितीय का पशुपतिनाथ अभिलेख<sup>14</sup> है जिसमें कहा गया है कि जयदेव प्रथम के 23 पीढ़ी पूर्व

पुष्पपुर (पाटलिपुत्र ?) में उसके पूर्वज 'सुपुष्प' का जन्म हुआ था।<sup>15</sup> कौमुदी महोत्सव की ऐतिहासिकता तथा रचना तिथि के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है<sup>16</sup>, फिर भी सावधानी से इसके विश्लेषण से इस नाटक के माध्यम से पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हो सकती है और इतिहास के ऐसे विवादास्पद विषय 'गुप्त अभ्युदय के पूर्व पाटलिपुत्र पर लिच्छवियों का अधिकार था' का निर्णय किसी अंश तक किया जा सकता है।

कौमुदी महोत्सव<sup>17</sup> नाटक की ऐतिहासिक सामग्री प्रकाश में लाने का सर्वप्रथम प्रयास प्रख्यात इतिहासकार काशीप्रसाद जायसवाल ने किया।<sup>18</sup> यद्यपि उनके द्वारा प्रतिपादित मत के कई पहलुओं को विद्वानों ने तार्किक ढंग से अतर्कसंगत सिद्ध कर दिया है, तथापि उनके प्रयास की पूर्ण रूप से उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस काल के अज्ञात इतिहास को प्रकाश में लाने के लिए उनका प्रयास सूराहनीय है।

'कौमुदी महोत्सव' नाटक के अनुसार पाटलिपुत्र के सामंत सुंदरवर्मन<sup>19</sup> को जब लंबी अवधि तक कोई पुत्र लाभ नहीं हुआ तो उसने 'चण्ड'<sup>20</sup> नामक एक बालक को गोद ले लिया। वृद्धावस्था में सुंदरवर्मन को अपनी एक अन्य रानी से एक पुत्र हुआ जिसका नाटक में 'कल्याण वर्मन' नाम से उल्लेख है। 'चण्ड' कल्याण वर्मन से वय में बड़ा था। वय में बड़ा होने के कारण 'चण्डसेन' अपने को राज्य का उत्तराधिकारी मानता था, लेकिन सुंदर वर्मन, विशेषकर कल्याण वर्मन की मां की इच्छा थी कि उसके पुत्र कल्याण वर्मन को राज्य का उत्तराधिकारी बनाया जाए। दोनों में उत्तराधिकार बनने के लिए कलह होना स्वाभाविक था। कल्याण वर्मन अभी छोटा बालक था, और चण्डसेन युवा हो चुका था। उसका विवाह संबंध उन लिच्छवियों से हुआ जिसे नाटक में मगध कुल का स्वाभाविक शत्रु कहा गया है।<sup>21</sup> जब चण्ड ने उत्तराधिकारी बनने में विघ्न देखा तो उसने लिच्छवि संबंधियों की सहायता से कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) पर आक्रमण कर दिया। युद्ध क्षेत्र में सुंदर वर्मन मारा गया और चण्डसेन की विजय हुई। रानी ने आत्महत्या कर ली। सुंदर वर्मन के कुछ स्वामिनिष्ठ मंत्रियों ने (नाटक के अनुसार विनंधर नामक दाया शिशु को उठाकर जंगल भाग गई थी) किसी प्रकार शिशु कल्याण वर्मन को महल से किष्किन्धा की पहाड़ियों में ले जाकर छिपा दिया। इस प्रकार चण्डसेन अपने लिच्छवि संबंधियों की सहायता से पाटलिपुत्र का राजा बना।<sup>22</sup> उसके इस प्रकार पितृहत्या कर राजसिंहासन पर बैठने से संभवतः जनमत उसके विरुद्ध हो उठा, जिस कारण उसने कुछ प्रमुख नागरिकों को बंदी गृह में बंद करवा दिया।<sup>23</sup> इससे विरोध कम होने की अपेक्षा और तेज हो गया। फलतः (अंक 5) उसके कुछ मंत्रियों ने षड्यंत्र करके सीमांत क्षेत्र के 'शबर' और 'पुलिंद' नामक गणों या कबीलों (जायसवाल इन गणों की स्थिति रोहतास और अमरकंटक के मध्य रखते हैं) में विद्रोह करवा दिया जिसे, दबाने के लिए मंत्रियों ने स्वयं चण्डसेन को जाने की राय दी।<sup>24</sup> चण्डसेन विद्रोही गणों से लड़ते हुए सीमांत



राज्यपाल या कल्याण वर्मन के आदमियों द्वारा मारा गया, यद्यपि नाटक (अंक 5) में यह स्पष्ट नहीं कहा गया है।<sup>25</sup> जायसवाल चण्डसेन का मारा जाना स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार चण्डसेन 340 ई. से 344 ई. तक मगध से बाहर रहा। बाद में पाटलिपुत्र समुद्रगुप्त द्वारा विजित हुआ।<sup>26</sup> जायसवाल प्रयाग प्रशस्ति के 'बल वर्मन' की पहचान कल्याण वर्मन से करते हैं।<sup>27</sup>

कौमुदी महोत्सव के अनुसार जब चण्डसेन सेना सहित राजधानी ने बाहर चला गया तब उसकी अनुपस्थिति से लाभ उठाकर असंतुष्ट मंत्रियों ने 'पौर जनपद' में गुप्त मंत्रणा कर कल्याण वर्मन को पुनः सिंहासन पर बैठा दिया।<sup>28</sup> सुरक्षा हेतु कल्याण वर्मन का विवाह सूरसेन जनपद के यादव नरेश कीर्तिषेण की पुत्री 'कीर्तिमती' से कर दिया। इस तरह नाटक में पाटलिपुत्र के 'सुगाण' महल में कल्याण वर्मन का महाभिषेक महोत्सव हुआ।<sup>29</sup> इसके बाद कल्याण वर्मन का क्या हुआ, नाटक कोई सूचना नहीं देता। विद्वानों का मत है कि इसके आगे के भी अंक होने चाहिए, क्योंकि यह नाटक बहुत लघुरूप में है जिसे अधिक से अधिक आधे घंटे में खेला जा सकता है जबकि प्राचीन समय में नाटक का आकार काफी बड़ा होता था।<sup>30</sup>

### क्या सुंदर वर्मन लिच्छवि सामंत था ?

कौमुदी महोत्सव नाटक में सुंदर वर्मन को 'मगध कुल'<sup>31</sup> कहा गया है। इसके आधार पर क्या सुंदर वर्मन को मगध के क्षत्रिय राजाओं से जोड़ा जाए? लेकिन वह यदि मगध के राजाओं के वंश से होता तो उसके वंश का उल्लेख किसी पुराण में अवश्य होता। काशीप्रसाद जायसवाल का यह मत समीचीन नहीं लगता है कि पुराणों में सुंदर वर्मन के वंश का उल्लेख न होने का कारण संभवतः उसके शासन काल का अल्पावधि होना है। क्योंकि पुराणों में बहुत से ऐसे क्षत्रिय वंश के राजाओं का उल्लेख मिलता है जिनका शासन बहुत अल्प था तथा उनका राज्य भी बहुत छोटा रहा है।

ऐसा लगता है कि सुंदर वर्मन का उल्लेख पुराणों में न होने का कारण सुंदर वर्मन का लिच्छवि होना रहा है। विदित है कि लिच्छवियों का उल्लेख किसी भी पुराण में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में नहीं हुआ है। इसका कारण संभवतः लिच्छवियों का अब्राह्मण मत का अनुयायी होना था। सुंदर वर्मन को 'मगध कुल' कहने का अभिप्राय यहां केवल 'मगधवासी' है जो संभवतः मगध का राजा या सामंत राजा होने के कारण कहा गया है, ठीक उसी तरह जैसे चण्डसेन पाटलिपुत्र पर अधिकार कर लेने के पश्चात् अपने को 'मगध कुलं व्ययदिशन्नापि' कहता है जबकि नाटक (अंक 6, पृ. 30) से हम जानते हैं कि वह कारस्कर जाति का था।

अतः सुंदर वर्मन को लिच्छवियों के किसी कुल से संबंधित लिच्छवि सामंत राजा

मानना ही समीचीन लगता है। ऐसा कहने के लिए निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं—

1. अगर वह स्वतंत्र राजा होता तो उसके स्वतंत्र सिक्के तथा अभिलेख अवश्य मिलते। इसके अभाव में उसे स्वतंत्र राजा स्वीकार करने में कठिनाई होती है। उसे नाटक में एक स्थानीय राजा की भांति उसका उल्लेख किया गया है जिससे यही अनुमान लगाया जा सकता है कि वह सामंत राजा ही था। हम जानते हैं कि लिच्छवियों में प्रत्येक सदस्य या सामंत अपने को राजा कहता था। संभवतः सुंदर वर्मन उसी प्रकार का लिच्छवि सामंत रहा होगा।

2. स्मिथ, वासुदेव उपाध्याय, रैप्सन, प्लीट आदि विद्वानों ने गुप्त अभ्युदय के पूर्व मगध तथा वैशाली क्षेत्र में लिच्छवियों का प्रभाव माना है। संभवतः लिच्छवियों का समवर्ती क्षेत्र में प्रभाव बढ़ना वसुमित्र (138 ई.) के समय में ही हो गया था। शुंगों के पतन के पश्चात् मगध वैशाली गणराज्य के लिच्छवियों के अधीन आ गया और वहां लिच्छवियों का कोई कुल-प्रमुख (सामंत) शासन करने लगा। मगध कनिष्क के काल में कुछ वर्षों के लिए कुषाणों के अधीन रहा है। (पीछे उल्लेख किया जा चुका है कि पाटलिपुत्र पर कनिष्क के आक्रमण के समय भी संभवतः पाटलिपुत्र सिंहासन पर लिच्छवि राजा प्रतिष्ठित रहा है जिसने कनिष्क को भगवान बुद्ध का भिक्षापात्र भेंट कर पाटलिपुत्र की रक्षा की और आधीनता स्वीकार कर मित्रता स्थापित कर ली थी।) कुषाणों के पतन के पश्चात् कुछ समय के लिए पाटलिपुत्र सातवाहनों के अधीन रहा, तत्पश्चात् पुनः लिच्छवियों के अधीन हो गया। सुंदर वर्मन के समय (लगभग 300 ई.) तक आते-आते मगध पर शासन कर रहा लिच्छवि कुल भी राजतांत्रिक व्यवस्था में परिवर्तित हो गया, यद्यपि वैशाली क्षेत्र में अभी भी गणतांत्रिक व्यवस्था थी। परन्तु मगध तथा नेपाल में शासन कर रहा लिच्छवि कुल राजतांत्रिक व्यवस्था में परिवर्तित हो चुका था।

3. नेपाल की वंशावलियों में सोलह पीढ़ी तक के लिच्छवि राजाओं के नाम के साथ 'वर्मन' विरुद्ध जुड़ा है। आगे के कुछ राजाओं के नाम के बाद 'देववर्मन' प्रयुक्त हुआ है। संभवतः नेपाल के जो लिच्छवि राजा बौद्धमत के अनुयायी थे उन्होंने 'वर्मन' विरुद्ध धारण किया, जैसे अंशुवर्मन जो बौद्ध अनुयायी था। अभिलेखों में उल्लिखित अन्य सभी लिच्छवि राजा (अंशुवर्मन के बाद) 'देव' विरुद्ध धारण किए हुए हैं जो प्रायः सभी वैष्णव व शैव मत के अनुयायी थे। संभवतः नेपाल के लिच्छवि राजा गुप्तों के प्रभाव में आने के पश्चात् ब्राह्मण मत के अनुयायी हो गये और अपने को देवतातुल्य दशनि के लिए 'देव' विरुद्ध धारण किए।

अतः हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मगध पर शुंग वंश के पतन के पश्चात् किसी न किसी रूप में लिच्छवियों का शासन रहा है। बाद में गुप्तों ने मगध को अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रकार हमें सुंदर वर्मन को लिच्छवि मानने में



असुविधा नहीं होती है।

सुंदर वर्मन को लिच्छवि सामंत स्वीकार कर लेने पर कौमुदी महोत्सव नाटक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि इस प्रकार होगी—

सुंदर वर्मन को जो संभवतः पाटलिपुत्र में लिच्छवि सामंत था, के काफी समय तक कोई पुत्र नहीं हुआ। उसने अपने वंश को चलाने के लिए 'चण्ड' नामक एक शिशु को गोद लिया, जो कारस्कर जाति का था। संभवतः सुंदर वर्मन की एक पुत्री 'कुमारदेवी' थी जिसका विवाह उसने एक अन्य सामंत<sup>32</sup> के पुत्र चंद्रगुप्त से कर दिया, यद्यपि नाटक में इसका उल्लेख नहीं है। संभव है नाटक के और अंक लिखे जाते तो नाटक के रचयिता इसका उल्लेख अवश्य करते। नाटक के अनुसार सुंदर वर्मन को एक अन्य कम उम्र की रानी से प्रौढ़ अवस्था में पुत्र हुआ (नाटक में 'माताएं' शब्द प्रयोग करने से आभास मिलता है कि सुंदर वर्मन की एक नहीं, कई रानियां थीं) जिसे सुंदर वर्मन राज्य का उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। लेकिन चण्ड उम्र में बड़ा होने के कारण स्वयं को वास्तविक उत्तराधिकारी समझता था। अतः सुंदर वर्मन तथा कल्याण वर्मन की मां की इच्छा का आभास होने पर उसने एक षड्यंत्र रचा और शक्तिशाली लिच्छवियों के किसी सामंत राजा की कन्या से विवाह करके अपनी स्थिति दृढ़ कर ली। इस तरह अनुकूल अवसर देखकर चण्ड ने अपने लिच्छवि संबंधी की सहायता से पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर दिया। युद्ध में सुंदर वर्मन की पराजय हुई। इस प्रकार चण्डसेन पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठ गया।

लेकिन उसका इस तरह पिता की हत्या करके सिंहासन पर बैठना, मगध की जनता तथा कुछ मंत्रियों को अच्छा नहीं लगा। अतः ठीक अवसर पाकर उसी समय अधीनस्थ जनपदों ने विद्रोह कर दिया। उस विद्रोह को दवाने के प्रयत्न में चण्डसेन संभवतः मारा गया।<sup>33</sup> इस स्थिति का लाभ सुंदर वर्मन के दामाद चंद्रगुप्त ने उठाया और पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर कल्याण वर्मन को सिंहासन से हटा दिया। संभवतः इस आक्रमण में कल्याण वर्मन भी सुंदर वर्मन की भांति युद्ध में मारा गया। और पाटलिपुत्र राजाविहीन हो गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि लिच्छवि नेता (राजा), जो संभवतः अब सामंत के रूप में अलग-अलग क्षेत्रों में स्वतंत्र सामंत राजा होने लगे थे, आपस में लड़ने लगे थे।<sup>34</sup> पाटलिपुत्र पर कोई लिच्छवि सामंत न उपलब्ध होने पर राजसिंहासन पर अन्य सामंत को पदासीन करने का प्रश्न उपस्थित हुआ। हिंदू उत्तराधिकार विधान के अनुसार ऐसी स्थिति में सुंदर वर्मन की पुत्री ही राज्य की उत्तराधिकारिणी बन सकती थी।<sup>35</sup> अतः कुमारदेवी पाटलिपुत्र की महारानी हुई? इस प्रकार सुंदर वर्मन के दामाद चंद्रगुप्त को कुमार देरी की तरफ ने पाटलिपुत्र पर शासन करने का अधिकार मिल गया। अधिकांश विद्वानों का मत है कि आदि गुप्त मगध में संभवतः सारनाथ में लिच्छवियों के सामंत थे।<sup>36</sup> इस प्रकार चंद्रगुप्त अपने पैतृक राज्य के साथ पाटलिपुत्र का भी राजा बन गया। पाटलिपुत्र के सिंहासन पर कुमारदेवी के



साथ बैठने के उपलक्ष्य में उसने एक नया संवत तथा एक नए ढंग का सिक्का ढलवाया जिसके पुरो भाग पर चंद्रगुप्त तथा कुमार देवी का चित्र अंकित करवाया। चित्र के नीचे 'चंद्रगुप्त श्री कुमार देवी' अंकित है। इस प्रकार के सिक्के पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि चंद्रगुप्त का नाम ऐसे उत्कीर्ण है जैसे वह एक साधारण पति हो, जबकि कुमारदेवी के नाम के पूर्व सम्मान सूचक 'श्री' लिखा हुआ है। सिक्के के पृष्ठ भाग पर 'सिंहवाहिनी अंबिका देवी' का चित्र है जो संभवतः लिच्छवियों की इष्टदेवी या उनका वंश चिह्न है।<sup>37</sup> चित्र के नीचे 'लिच्छवयः' अर्थात् लिच्छवि समुदाय अंकित है। इस तरह सिक्के के देखने से प्रतीत होता है कि उस समय मगध के राज्य संचालन में लिच्छवि ही अधिक महत्वपूर्ण रहे थे।

इस वैवाहिक संबंध के पश्चात् चंद्रगुप्त कुमारदेवी के द्वैध शासन<sup>38</sup> में संभवतः मगध, दक्षिण पूर्व बिहार ने वाराणसी तक का राज्य आ गया। पाटलिपुत्र इस द्वैध राज्य की राजधानी बना। चंद्रगुप्त प्रथम महत्वाकांक्षी राजा था। वह इस सीमित क्षेत्र से संतुष्ट नहीं रह सकता था। उसने लिच्छवियों की शक्ति का सदुपयोग किया। उनके सहयोग से चंद्रगुप्त ने राज्य का विस्तार करना प्रारंभ किया और अपने शासन काल में ही उसने राज्य की सीमा बढ़ाकर साकेत तक कर ली। पुराणों में भी इसका उल्लेख मिलता है।<sup>39</sup> संभवतः इसीलिए चंद्रगुप्त प्रथम अपने सिक्कों पर तो 'महाराजाधिराज' की उपाधि नहीं ग्रहण करता। लेकिन 'प्रयाग प्रशस्ति' तथा उसके परवर्ती गुप्त अभिलेख में उसे 'महाराजाधिराज' की उपाधि दी गई। प्रयाग प्रशस्ति में समुद्रगुप्त के राज्यारोहण का मार्मिक वर्णन मिलता है कि उसके पिता ने उच्छ्वसित होकर उसे राज्यभार संभालने के लिए कहा जिसके कारण अन्य उपस्थित बंधुओं (तुल्यकुलज) के मुख म्लान हो गए। यद्यपि 'तुल्यकुलज' के संबंध में विद्वानों में गहरा मतभेद है किंतु उपर्युक्त राजनीतिक पीठिका के परिप्रेक्ष्य में प्रतीत होता है कि ये 'तुल्यकुलज' लिच्छवि कुमार ही रहे होंगे जिन्हें चंद्रगुप्त कुमार देवी के 'द्वैध' शासन के बावजूद भी आशा थी कि उनमें से किसी एक को उत्तराधिकार प्राप्त होगा। संभवतः यही कारण था कि जनमत को शांत करने के लिए समुद्रगुप्त ने अपने अभिलेख प्रयाग प्रशस्ति में अपने को 'लिच्छविदौहित्र' कहा है।

### समुद्रगुप्त के समय लिच्छवि

चंद्रगुप्त प्रथम के काल में ही गुप्त राजाओं का प्रभाव मगध तथा साकेत तक था। दक्षिण पूर्व बिहार में लिच्छवियों का शासन था जिसका संचालन द्वैध शासन में चंद्रगुप्त कुमारदेवी के हाथ में रहा था। संभवतः चंद्रगुप्त प्रथम के काल में वैशाली की आंतरिक व्यवस्था गणतांत्रिक ही रही। लेकिन हम आगे के इतिहास में देखते हैं कि किस प्रकार गुप्त राजाओं ने वैशाली में 'कुमारामात्य' की व्यवस्था करके उन्हें आत्मसात<sup>40</sup> कर लिया।

समुद्रगुप्त के काल में ही वैशाली के लिच्छवियों की एक शाखा नेपाल में शासन कर रही थी, जो संभवतः अजातशत्रु के समय<sup>41</sup> वैशाली से नेपाल आकर बस गए थे, और अपने शौर्य से एक लंबे अंतराल के पश्चात् शासन में आए। इस प्रकार लिच्छवियों की एक शाखा वैशाली में गुप्त राजाओं से संबंध स्थापित कर सहयोगी बनी रही तथा दूसरी शाखा नेपाल में दीर्घकाल तक शासन करती रही।

लिच्छवियों के संबंध का समुद्रगुप्त ने भरपूर लाभ उठाया। समुद्रगुप्त के दिग्विजयों में संभवतः लिच्छवियों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। हो सकता है, इस कारण भी लिच्छवियों की कृतज्ञता प्रकट करने के लिए समुद्रगुप्त प्रयाग प्रशस्ति में अपने को 'लिच्छवि दौहित्र' कहकर गर्व अनुभव<sup>42</sup> करता था। यद्यपि यह कहने के पीछे समुद्रगुप्त की राजनीति भी झलकती है, क्योंकि लिच्छवि दौहित्र कहकर वह अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा भी पूर्ण कर रहा था। कुछ विद्वानों<sup>43</sup> का मत है कि समुद्रगुप्त ने लिच्छवियों को वैसा महत्व नहीं दिया जैसा उसके पिता चंद्रगुप्त प्रथम ने दिया था। इस कारण लिच्छवि अपमानित अनुभव करने लगे थे तथा विद्रोही हो गए थे जिससे क्रुद्ध होकर समुद्रगुप्त ने अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए लिच्छवियों का मगध तथा वैशाली क्षेत्र से उन्मूलन कर दिया, और विद्रोही लिच्छवियों का पीछा करता हुआ नेपाल तक गया। अंततः उन्हें अपना 'करदराज्य' बनाकर छोड़ा। किंतु उपर्युक्त मत उचित नहीं प्रतीत होता है। हम किसी साक्ष्य से यह नहीं जानते कि कभी भी लिच्छवियों तथा गुप्तों का संबंध बिगड़ा हो, और फिर नेपाल के लिच्छवि समुद्रगुप्त के उदय होने से बहुत पहले ही से वहां शासन कर रहे थे। समुद्रगुप्त ने यदि लिच्छवियों का दमन किया होता तो गुप्त अभिलेखों में भी 'लिच्छवि दौहित्र' का प्रयोग अंत तक (परवर्ती गुप्त राजाओं के अभिलेखों में भी) न हुआ होता। अतः यही समीचीन लगता है कि वैशाली के लिच्छवियों से गुप्तों की नीति के कारण ही लिच्छवि धीरे-धीरे उनमें आत्मसात हो गए। चंद्रगुप्त द्वितीय के शासन में वैशाली 'कुमारामात्य' के अंतर्गत आ गया जिससे लिच्छवियों के स्वशासन में हस्तक्षेप हुआ, लेकिन वैशाली के लिच्छवियों ने इसका कोई विरोध नहीं किया। संभवतः उन्होंने इसे व्यावहारिक मान लिया। वैशाली के 1903-04 ई. तथा 1913-14 ई. में हुए उत्खनन में प्राप्त गुप्तकालीन मुहरें इस नई व्यवस्था की पुष्टि करते हैं।<sup>44</sup> इन मुहरों ने स्पष्ट होता है कि यह क्षेत्र कुमारामात्य<sup>45</sup> के अंतर्गत था। अल्लेकर<sup>46</sup>, घोषाल<sup>47</sup> तथा परमेश्वरी लाल गुप्त<sup>48</sup> के मतानुसार 'कुमारामात्य' संभवतः उच्चकोटि के राज्यकर्मचारियों का एक वर्ग था जिनका संबंध सीधे सम्राट से होता था जिसका संबंध राजकुल से होता था। वैशाली से ही प्राप्त 'श्रेष्ठिनिगम'<sup>49</sup>, 'श्रेष्ठि कुलिन निगम' तथा 'श्रेष्ठि सार्थवाह कुलिक निगम' की मुहरें इसकी पुष्टि करती हैं।<sup>50</sup> वैशाली में 'श्रेष्ठि सार्थवाह कुलिक निगम' की अब तक 274 मुहरें उत्खनन में मिल चुकी हैं।<sup>51</sup> इन मुहरों का उपयोग संभवतः प्रशासनिक आदेशों को सुरक्षित रूप में भेजने के लिए



किया जाता था।<sup>52</sup> अल्लेकर का मत है कि इनकी शाखाएं उत्तर भारत के अनेक प्रमुख नगरों में फैली हुई थीं जिनके द्वारा इन मुहरों का प्रयोग माल को सुरक्षित और प्रामाणिक रूप से भेजे जाने के निमित्त किया जाता होगा।<sup>53</sup> इन साक्ष्यों से यह निश्चित हो जाता है कि वैशाली उन दिनों एक प्रमुख व्यापारिक नगर था जो गुप्त सम्राटों के पूर्ण शासन के अंतर्गत आ गया था। लिच्छवि संभवतः अब राजनीति की अपेक्षा व्यापार में रुचि लेने लगे थे, यही कारण है कि आगे उन्होंने कभी भी पुनः राजनीति में आने का प्रयास नहीं किया। यह भी संभव है कि लिच्छवि परिवार, जो व्यापार की अपेक्षा नौकरी आदि करने में रुचि रखते थे, गुप्त काल में नेपाल चले गए, जहां उनके वंश के लोग पहले से ही शासन कर रहे थे। इन सब कारणों से वैशाली में संभवतः भविष्य में लिच्छवियों की संख्या न्यून होती गई। लेकिन कुछ विद्वानों का यह अर्थ लेना समीचीन नहीं प्रतीत होता कि समूचा लिच्छवि समुदाय गुप्त काल में वैशाली से पलायन कर गया।<sup>54</sup> वैशाली के लिच्छवियों का गुप्त परिवार से संबंध होने के कारण कभी वे विरोध करने और स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने की बात सोच भी नहीं सके। बाद में जब गुप्तों का पतन हुआ तो उसके साथ ही अमर गौरव तथा चरमोत्कर्षपूर्ण उपलब्धियों के दिशावाहक का भी पतन हो गया। संभवतः परवर्ती काल में वैशाली को व्यापारिक नगरी के रूप में भी उतना महत्त्व नहीं प्राप्त हो सका जो गुप्त काल में प्राप्त था। इसीलिए 635 ई. में जब ह्वेनत्सांग वैशाली देखने आया तो नगर का अधिकांश भाग खण्डहर में परिवर्तित हो चुका था।<sup>55</sup> वैशाली नगरी तथा आसपास के ग्रामों में ही कुछ लिच्छवि परिवार शेष रह गये थे, उन्होंने अंत तक अपनी पैतृक भूमि को नहीं छोड़ा जिन्हें पहचानने का प्रयास राहुल सांकृत्यायन<sup>56</sup> ने किया है, बुद्धचर्या में वह सुझाव देते हैं कि वर्तमान में जेथरिया ब्राह्मण (भूमिहार समुदाय का एक उपवर्ग) जिनका गोत्र कश्यप है, वज्जि संघ में सम्मिलित ज्ञातृक कुल के वंशज थे। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार ज्ञातृक कालांतर में ज्ञातृक से (ज्ञातृ = ज्ञात; जतर = जथरिया) जेथरिया बन गया। लेकिन योगेन्द्र मिश्र ने इस पहचान को उचित नहीं माना है।<sup>57</sup>

इस प्रकार हम देखते हैं कि लिच्छवियों के अतिरिक्त प्राचीनकाल में संसार का कोई भी गणराज्य हजार वर्ष तक अपना महत्त्व स्थायी नहीं रख सका था। एथेन्स, वेनिस तथा जेनेवा गणराज्य भी इस प्रकार की महानता का दावा नहीं कर सकते हैं। भारतीय इतिहास के मंच से लिच्छवियों के हटने के साथ ही भारत में गैर राजतांत्रिक परंपरा एक भूतकाल की बात बनकर रह गई।<sup>58</sup> काशीप्रसाद जायसवाल ने हिन्दू राजतंत्र में भारत भूमि में प्राचीन हिन्दू शासन व्यवस्था (राजतांत्रिक व गैरराजतांत्रिक) के पतन का मार्मिक शब्दावली में उल्लेख किया है, पांचवीं शताब्दी के समाप्त होने के साथ ही गणराज्य हिंदू भारत में हमेशा के लिए अदृश्य हो गए। आगे वे पुनः कभी प्रकाश में नहीं आए। लिच्छवियों तथा गुप्तों के इतिहास के रंगमंच से हटने के पश्चात्



सब अच्छी बातें इस देश को अंतिम अभिवादन करके लुप्त हो गईं, जिनका विकास प्रथम ऋक् की रचना के समय (ऋग्वैदिक काल) से अब तक हुआ था। प्रजातंत्र ने उस महान पतन को आरंभ करने में पहल किया और उसी ने सर्वप्रथम राजनीतिक महानिर्वाण का सुर अलापा। 550 ई. के पश्चात् हिंदू इतिहास विगलित होकर उज्ज्वल तथा प्रकाशमान जीवनियों के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इधर-उधर बिखरे हुए फुटकर रत्न दिखाई पड़ते हैं, जिन्हें एक माला में गूँथने वाला राष्ट्रीय या सामाजिक जीवन का धागा नहीं रहा।<sup>59</sup>

## संदर्भ तथा टिप्पणियां

1. इन गणराज्यों का उल्लेख समुद्रगुप्त के प्रयाग प्रशस्ति की पंक्ति 22 में हुआ है (नृपतिभिर्मलिवार्जुनायन यौधेय माद्रकामीर प्रार्जुन सनकानीक-काक-खरपरिकादि भिरय सर्व्वक-दानाज्ञाकरण-प्रणामागमन—)  
\*(इन गणराज्यों के विषय में विस्तृत जानकारी के लिए देखिए, प्रशांत कुमार जायसवाल, गुप्तकालीन उत्तर भारत का राजनीतिक, (पृ. 59-68).
2. पार्जितर ने डायनेस्टीज़ आफ द कलिपद्ध, पृ. 50, 51, 58). तीसरी शताब्दी ईसवी में बघेलखण्ड तथा कौशांबी क्षेत्र पर शासन करने वालों में 'मघों' को बतलाया है। समुद्रगुप्त के दिग्विजय से पूर्व तक उत्तर भारत में ग्वालियर, भिलसा, मथुरा, बरेली और आसपास के प्रदेश पर नागवंशी शासकों का आधिपत्य था, जिनको भवनाग के काल तक चुनौती देने वाला कोई नहीं था। चंद्रगुप्त प्रथम संभवतः इसी कारण इनको जीत नहीं सका। किंतु भवनाग की मृत्यु के पश्चात् ही गृह-कलह के कारण नाग साम्राज्य छोटे-छोटे प्रदेशों में विभक्त हो गया।  
(मघों तथा नागों के विषय में विस्तृत जानकारी हेतु देखिए, प्र. कु. जायसवाल, वही, पृ. 54-59); इसे अन्यत्र पीछे भी वर्णन किया जा चुका है।
3. अभिलेखीय प्रमाण (एपि. इंडि., भाग 12, पृ. 317, 133) से विदित होता है कि इस प्रदेश में पुष्करण अथवा दामोदर नदी के किनारे बसे पोखरना राज्य पर 'वर्मा' नामक शासकों का अधिकार था। विद्वानों में इनके मूलभूमि के विषय में पर्याप्त मतभेद है परंतु अब विद्वान इन्हें बंगाल के स्थानीय शासक मानते हैं, किसी अन्य जगह से यहां आकर बसे नहीं थे। (विस्तृत विवेचना हेतु देखिए, प्र. कु. जायसवाल, वही, पृ. 49-51).
4. आर. डी. बनर्जी, हिस्ट्री आफ उड़ीसा (कलकत्ता 1930), प्रथम खण्ड देखिए (प्र. कु. जायसवाल, वही, पृ. 49 पर उद्धृत)।
5. वाकाटक गुप्त एज (वाराणसी, 1960), पृ. 128.
6. बाशम, वण्डर दैट वाज़ इंडिया (लण्डन, 1953), पृ. 53.
7. गोखले, समुद्रगुप्त लाइफ एण्ड टाइम्स (बंबई, 1962), पृ. 36.
8. ज. वि. उ. रि. सो. 1930. i. पृ. 8; पो. हि. (कलकत्ता, 1953), पृ. 530.
9. ज. रा. ए. सो., 1889, पृ. 55; ज. रा. ए. सो., 1893, पृ. 81; अर्ली हि., पृ. 279-80.
10. पो. हिस्ट्री (कलकत्ता, 1953), पृ. 351.
11. जायसवाल, हि. आफ इंडिया (लाहौर 1934), पृ. 112.
12. मिथिला, पृ. 156-57.

13. शकुंतलराव शास्त्री, कौमुदी महोत्सव (बंबई, 1952), खण्ड 2, पृ. 95.
14. नोली, अभिलेख सं. 81, 85.
15. इ. ए. भाग i, पृ. 178 और आगे.
16. इ. हि. क्वा, 1938, पृ. 582-707. 'द डेट आफ द कौमुदी महोत्सव', भाग 14.
17. के. चट्टोपाध्याय, द्रष्टव्य, संदर्भ 13.
18. का. प्र. जायसवाल, अ. भा. ओ. हि. इ., 1930. भाग 12, पृ. 50-51; ज. वि. उ. रि. सो., 1933, भाग 19, पृ. 113-114.
19. जायसवाल (भारतवर्ष का अंधकार युगीन इतिहास, पृ. 209) के मतानुसार प्रयाग प्रशस्ति में उल्लिखित 'कोट कुलज' उसके लिए प्रयुक्त हुआ था। प्रयाग प्रशस्ति में आर्यावर्त के राजाओं (रुद्रदेव, मत्तिल, नाग दत्त, चंद्र वर्मन, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युतानंदी, बल वर्मन) में बल वर्मन की पहचान कल्याण वर्मन से की है. उनके अनुसार बल वर्मन संभवतः कल्याण वर्मन का दूसरा या अभिषेक नाम था जो समुद्रगुप्त द्वारा पराजित हुआ था. इस बल वर्मन की पहचान विवादास्पद है. आर. डी. बनर्जी ने इसकी पहचान असम के बल वर्मन से की है (एज आफ इंपीरियल गुप्ताज, बनारस, 1933, पृ. 13); डॉ. चट्टोपाध्याय के मतानुसार यह नागवंशी 'नृपति' था (अर्ली हिस्ट्री आफ नार्दन इंडिया, कलकत्ता, 1958, पृ. 156, टिप्पणी 83); डॉ. मिराशी के अनुसार यह मधवंशी था. मधों का उन्मूलन करके समुद्रगुप्त ने किसी गाण्डवंशी-जयबल को बघेलखण्ड क्षेत्र की सुव्यवस्था के निमित्त नियुक्त किया (स्टडीज़ इन इण्डोलाजी, भाग i, पृ. 216); प्रशांतकुमार के अनुसार यह पोणवंश से संबंधित था जिनका राज्य देहरादून जिले के पास था तथा जिसकी राजधानी युग शैल थी. 'प्रयाग प्रशस्ति के कोट कुलज' की पहचान भी विवादास्पद है। चट्टोपाध्याय (वही, पृ. 155) के अनुसार कोट कुलज (कोट वंशियों) का राज्य पूर्वी पंजाब और दिल्ली के आसपास था जिनके कुछ सिक्के इस क्षेत्र में मिले हैं जिस पर 'कोत' लिखा है; जायसवाल तथा कुछ अन्य विद्वानों ने प्रयाग प्रशस्ति में 'कोत' लोगों के साथ प्रयुक्त 'पुष्पाह्व' की पहचान पाटलिपुत्र से है; मजुमदार (द वाकाटक गुप्ता ऐज, वाराणसी, 1969, पृ. 140) ने इस पुष्पाह्व की पहचान कान्यकुब्ज से किया है जो समीचीन लगता है.
20. जायसवाल (भा. अं. यु. का इति. पृ. 210, टिप्पणी 2) 'चण्ड' की पहचान चंद्रगुप्त प्रथम से करते हैं. उनके अनुसार चंद्र का प्राकृत में 'चण्ड' हो जाता है। विटरिन्ट्स ने 'डामाज इन इंडियन लिटरेचर' में इसका विरोध किया है. इसके अतिरिक्त मजुमदार, श. रा. शास्त्री, दिनेशचंद्र सरकार आदि ने भी मतभेद प्रकट किया है। लूनिया, वही, पृ. 12-13। चट्टोपाध्याय (इ. हि. क्वा, 1838, भाग 14, पृ. 582-606) के अनुसार यह नाटक 700 ई. में लिखा गया. अतः इसे चंद्रगुप्त के सम-सामायिक नहीं माना जा सकता है. अतः चण्ड की पहचान चंद्रगुप्त प्रथम से नहीं की जा सकती है. इसी प्रकार परमेश्वरीलाल गुप्त (गुप्त साम्राज्य, पृ. 233) चण्ड को 'चंद्रगुप्त' नहीं मानते हैं. संस्कृत व्याकरण के अनुसार (धनापाल, पाइ लच्छिनाम माला, पृ. 515) चंद्र का प्राकृत रूप 'चद' होता है 'चण्ड' नहीं इससे प्रतीत होता है कि कौमुदी महोत्सव का चण्डसेन अन्य व्यक्ति था.
21. ततः स्वयं मगध कुलं व्यवदिशन्पि मगधकुलं वैरिभिर्मल्लैर्च्छेलिच्छविभिः सह संबंधं कृत्वा (कौमुदी महोत्सव, पृ. 30)
22. लब्धावसरः कुसुमपुरं मुपरुद्धवान् (कौ. महो., पृ. 30).
23. जायसवाल, भारतवर्ष का अंधकारयुगीन इतिहास, पृ. 217.
24. कौ. महो., अंक 5, पृ. 31; जायसवाल, भा. अं. इति., पृ. 221; परमेश्वरीलाल गुप्त, गुप्त साम्राज्य, पृ. 233.
25. वही, अंक 5, पृ. 31.

26. जायसवाल, भा. अं. इति, पृ. 219 : चन्द्रसेन (चन्द्रसेन) ने लगभग 340 ई. से 344 ई. तक मगध से निर्वासित जीवन व्यतीत किया।
27. जायसवाल, भा. अ. इति, पृ. 209; जायसवाल मगध कोट कुल की स्थापना 200-250 ई. के लगभग होना माना है और इसी कुल में अंतिम राजा कल्याण वर्मन हुआ था जिसे कौमुदी महोत्सव नाटक में सुंदर वर्मन का पुत्र कहा गया है जिसने 340-344 ई. तक शासन किया।
28. जायसवाल, भा. अं. इति, पृ. 218.
29. कौ. महो., पृ. 35; परमेश्वरीलाल गुप्त (गुप्त सा. पृ. 233); जायसवाल (भा. अं. इति, पृ. 247), इसे नाग—वाकाटक संघ में सम्मिलित माना है जिसका पुत्र संभवतः नागसेन था जिसका उल्लेख प्रयाग-प्रशस्ति में आर्यावर्त के राजाओं में हुआ है।
30. बिटर निटज़ 'ड्रामा इन इंडियन लिटरेचर' (लूनिया द्वारा, वही, पृ. 12 पर उद्धृत)।
31. कौ. महो., पृ. 30.
32. विंसेन्ट आर्थर (अली हिस्ट्री आफ इंडिया, चतुर्थ संस्क. पृ. 295-96) भी चंद्रगुप्त प्रथम को लिच्छवियों का सामंत मानते हैं जिसने कुमारदेवी से विवाह करके अपनी पत्नी के राज्य पर अधिकार स्थापित किया। डा. परमेश्वरीलाल गुप्त (गुप्त सा. पृ. 233-34) का मत है कि लिच्छवि नरेश पुत्रहीन मरे होंगे। पुत्र के अभाव में उत्तराधिकार राजकुमारी कुमारदेवी के पुत्र को प्राप्त होने की स्थिति आई होगी। यह भी हो सकता है कि उनके पिता की मृत्यु के समय तक उसके कोई पुत्र न हुआ हो। अतः शासन प्रबंध का कार्य चंद्रगुप्त प्रथम ने संभाला यह बात सिक्कों में भी स्पष्ट हो जाती है।  
अल्तेकर (न्यू. स., 47, पृ. 107; केटलाग आफ द क्वान्स आफ बयाना हॉर्ड, भूमिका, पृ. 63) की भी धारणा है कि कुमारदेवी स्वाधिकार में रानी थी; रैप्सन महोदय (इं. क्वा., पृ. 24-25) की भी धारणा है कि 'लिच्छवयः' शब्द यह दर्शाता है कि कुमारदेवी एक राज परिवार से संबंधित थी।
33. कौ. महो. (अंक 5) में स्पष्ट नहीं कहा गया है कि चण्डसेन को सीमांत प्रतिनिधि ने या कल्याण वर्मन के आदमियों ने मारा। वह विद्रोह दबाने में सफल हुआ या नहीं, लेकिन यह स्पष्ट है कि वह पुनः पाटलिपुत्र नहीं लौटा, इससे आभास मिलता है कि वह विद्रोही जनता द्वारा या अन्य किसी षड्यंत्र में मारा गया होगा।
34. अल्तेकर (स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन इंडिया, पृ. 338) स्वीकार करते हैं कि गुप्त अभ्युदय के पूर्व लिच्छवि संभवतः गणतांत्रिक संविधान रखते थे लेकिन संभवतः 300 ई. के लगभग ये राजतंत्र की ओर शीघ्रता से सरक गए। इस समय नेपाल के लिच्छवि राजतांत्रिक व्यवस्था में शासन कर रहे थे।
35. मनुस्मृति (9-22) के अनुसार पुत्र के अभाव में दौहित्र का दावा माना गया है।
36. वासुदेव उपाध्याय, (गुप्त अभिलेख, भूमिका, पृ. 4) 260 ई. में संभवतः श्री गुप्त ने दक्षिण-पूर्व बिहार में गुप्त वंश की नींव डाली। (अल्तेकर, कारपस आफ इंडियन क्वान्स. भाग 4, पृ. 1) मग शिखा वन की स्थिति में काफी मतभेद है पहला मत है कि यह मंदिर मगध में स्थित था दूसरा मत अधिक समीचीन लगता है कि यह मंदिर मृगदाव (सारनाथ) में गुप्त ने तैयार किया था; का. प्र. जायसवाल, (भारत वर्ष का अंधकार युगीन इतिहास, पृ. 210), गुप्तों को मगध में किसी स्थान पर लगभग 275 ई. में प्रकट होना माना है। कुछ विद्वानों ने (ज. बि. रि. सो., भाग 57, पृ. 11-12) गुप्त को कौशांबी के समीप और भारशिव का सामंत माना है। वी. पी. सिन्हा (ज. बि. उ. रि. सो., भाग 37, पृ. 138) ने भी गुप्तों का आदि निवास अयोध्या के समीप माना है।
37. अल्तेकर (का. आफ इं. क्वा., भाग 4, अध्याय 3) सिक्के के मुख भाग पर कुमारदेवी के हाथ में जो



- पात्र है वह हो सकता है सिंदूरदानी हो या ताड़पत्र पर लिखा बेलननुमा लपेटा 'संधि-पत्र' हो तथा पृष्ठभाग पर सिंहवाहिनी दुर्गा की पहचान अभी तक लिच्छवियों की इष्ट देवी 'अम्बिका' से की गई है पर अल्तेकर का मत है कि शेर का प्रयोग वैसे ही हुआ है। वैशाली में शेर बहु संख्या में थे। सिंह का प्रयोग अशोक ने भी काफी किया है जबकि वह बौद्ध था।
38. अल्तेकर, बयाना होर्ड, भूमिका, पृ. 15; प्र. कु. जायसवाल, वही, पृ. 79; ई. न्यू. क्रो. वाल्यूम 2, पार्ट 1, 1961, पृ. 37.
39. "अनुगंगा प्रयागं च साकेतं मगधांस्त था  
एतान् जन पदान् सर्वान् भोगन्ते गुप्त वंशजः" (वायु पुराण, पृ. 99, 343)
40. सिन्हा, डिक्लाइन आफ द किंगडम आफ मगध (पटना, 1954), भूमिका, पृ. 26; उपेंद्र ठाकुर (मिथिला, पृ. 185).
41. योगेन्द्र मिश्र, वही, पृ. 261.
42. वै. अभि. ग्रंथ, पृ. 37; कौशांबी, एन इन्ट्रोडक्शन टू द स्टडी आफ इंडियन हिस्ट्री, पृ. 144; सुधाकर चट्टोपध्याय, वही, पृ. 143; समुद्रगुप्त लिच्छवियों का कृतज्ञ तथा ऋणी था।
43. हितनारायण झा, लिच्छवि, पृ. 106.
44. आ. स. इ. ए. रि, 1903-04, पृ. 112-118; 1913-14, पृ. 107-08.
45. वही, 1903-04, पृ. 107-09; 1913-14 के उत्खनन (अ. स. इ. ए. रि, 1913-14, पृ. 104, मुहर, 300) में प्राप्त एक मुहर पर स्पष्ट रूप से 'वैशाली नाम कुण्डे कुमारामात्याधिकरणस्य' अंकित है।
46. अल्तेकर-स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन एंशियेण्ट इंडिया, पृ. 339.
47. घोषाल, हिस्ट्री आफ बंगाल, 1, पृ. 284 : घोषाल के अनुसार यह इस ऐसा वर्ग विशेष था जिसमें से गुप्त साम्राज्य के केंद्रीय तथा स्थानीय अधिकारी नियुक्त किए जाते थे।
48. गुप्त साम्राज्य, पृ. 385 : यह एक विशेष अधिकारी वर्ग था इसी वर्ग से केंद्रीय तथा स्थानीय शासन के लिए अधिकारियों का निर्वाचन होता था, संभवतः गुप्त शासन की ब्यूरोक्रेसी (नौकरशाही) का ही नाम कुमारामात्य था। संभवतः यह पद अमात्य से ऊंचे वर्ग के लिए था।
49. आ. स. इ. ए. रि, 1913-14, पृ. 128, मुहर 8 ब.
50. वही, 1903-4, पृ. 101.
51. परमेश्वरी लाल गुप्त, वही, पृ. 398; अ. स. इ. ए. रि, 1903-04, पृ. 112-118.
52. प. ला. गुप्त, वही, पृ. 463.
53. वाकाटक गुप्त एज, पृ. 225-56; प. ला. गुप्त, वही, पृ. 463.
54. हितनारायण झा, लिच्छवि, पृ. 106 : समुद्रगुप्त के समय में लिच्छवियों का पलायन मानते हैं; उपेंद्र ठाकुर, मिथिला, पृ. 162 : संभवतः गुप्त राजाओं के पतन के साथ ही लिच्छवि वैशाली से पलायन कर गए।
55. उपेंद्र ठाकुर, मिथिला, पृ. 162.
56. राहुल सांकृत्यायन, बुद्ध चर्या, पृ. 104, टिप्पणी।
57. योगेन्द्र मिश्र (वैशाली, पृ. 113 : योगेन्द्र मिश्र) का मत है कि वर्तमान जेथरिया समुदाय मुजफ्फरपुर जिले से मुस्लिम काल में आए थे, उनका पैतृक गांव सारन जिले का जेधूर (जयस्थल) है और वे प्राचीन ब्राह्मण के उपवर्ग के रूप में जाने जाते हैं।
58. उपेंद्र ठाकुर, मिथिला, पृ. 162.
59. जायसवाल, हिन्दू राजतंत्र, पृ. 226; हिन्दू पालिटी, पृ. 164.

## गुप्तकाल में नेपाल के लिच्छवि

वैशाली के लिच्छवियों का इतिहास समाप्त करने के पश्चात् यह आवश्यक हो जाता है कि नेपाल में बहुचर्चित लिच्छवियों के विषय में थोड़ा विचार कर लिया जाए, क्योंकि नेपाल के लिच्छवि वैशाली भूमि से ही संबंध रखते थे, जो किसी समय वैशाली से नेपाल जाकर बस गए थे। कालांतर में वे नेपाल में एक शक्तिशाली शक्ति बनकर नेपाल के राजनैतिक मंच पर उभर कर आए थे। नेपाल के लिच्छवि राजा जयदेव द्वितीय का पशुपति नाथ अभिलेख इस तथ्य की पुष्टि करता है।

सर्वप्रथम हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि समुद्रगुप्त के समय में नेपाल में कौन राजा राज्य कर रहा था जिसने सर्वकरदान आदि देकर गुप्तों का 'करदराजा' बनना स्वीकार किया था।

दिल्ली रमण रेग्मी का मत है कि समुद्रगुप्त के काल में नेपाल न केवल स्वतंत्र था, और बना रहा, बल्कि नेपाल नरेश कम-से-कम साकेत लेकर पुण्डवर्द्धन तक विस्तृत प्रदेश (वैशाली सहित) पर शासन कर रहे थे। उनके अनुसार नेपाल पर गुप्तों का अधिकार चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में हुआ था।<sup>1</sup> रेग्मी महोदय की इस मान्यता का आधार उनका पूर्वाग्रह है कि गुप्तों के आविर्भाव के कुछ ही समय पूर्व वंशावलियों में उल्लिखित भास्कर वर्मन ने भारत के बहुत से प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। उनका यह भी मत है कि चन्द्रगुप्त की महादेवी नेपाल के लिच्छवि परिवार में उत्पन्न हुई थी। पहला तर्क उनका इसलिए समीचीन नहीं है कि वंशावलियों में भास्कर वर्मन को मानदेव (467 ई.) से लगभग 22 पीढ़ी पूर्व दर्शाया है।<sup>2</sup> रेग्मी के दूसरे मत का आधार 'कलियुग वृत्तांत' है जिसके अनुसार कुमारदेवी नेपाल के लिच्छवि राजपरिवार में उत्पन्न हुई थी। लेकिन अधिकांश विद्वानों ने कलियुग राज वृत्तांत को जाली होना सिद्ध कर दिया है।<sup>3</sup> समुद्रगुप्त के काल में नेपाल को स्वतंत्र राज्य मानना इसलिए भी समीचीन नहीं है, क्योंकि प्रयाग प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से नेपाल को उन राज्यों की कोटि में रखा गया है जिनके राजा समुद्रगुप्त को करदान आदि द्वारा संतुष्ट करते थे।<sup>4</sup>

हितनारायण झा ने सुपुष्प को समुद्रगुप्त द्वारा प्रताड़ित लिच्छवि करद राजा

सिद्ध किया है।<sup>5</sup> लेकिन यदि ऐसा होता तो प्रयाग प्रशस्ति में अन्य पराजित राजाओं के साथ उसका नाम भी अवश्य होता। जयदेव द्वितीय का पशुपति नाथ मंदिर-अभिलेख केवल इतना संकेत देता है कि नरेंद्रदेव का पूर्वज सुपुष्पपुर (पाटलिपुत्र<sup>6</sup>) में जन्मा था, इससे यह सिद्ध नहीं हो पाता कि वह पाटलिपुत्र का राजा भी था। इस प्रकार का दावा तो प्रायः सभी मध्यकालीन राजपूत राजा अपने अभिलेखों में करते हैं। वे अपने को अयोध्या के इक्ष्वाकु वंशीय राजाओं से संबंधित मानते रहे हैं। इससे यह निष्कर्ष निकालना कि सभी राजपूत राजा अयोध्या में दीर्घकाल तक राज्य करने वाले राजपरिवार से संबंधित हैं, तर्कसंगत नहीं है। इससे केवल इतना स्पष्ट होता है कि वे सूर्यवंशीय क्षत्रिय होने का दावा करते हैं। इसी तरह यहां भी नेपाल के राजा अपने को लिच्छवि होने का दावा करते हैं। अतः इन अभिलेखों के प्रमाण से हम केवल इतना कह सकते हैं कि नेपाल के लिच्छवि राजा वैशाली के लिच्छविगण से संबंधित थे।

आवश्यक चूर्णि में उल्लिखित कथानुसार<sup>7</sup> 9 लिच्छवि, 9 मल्ल तथा काशी-कोसल के 18 राजाओं का संयुक्त मोर्चा चेटक के नेतृत्व में अधिक दिन तक अजातशत्रु की सेना के सामने नहीं टिक सका। चेटक के अतिरिक्त अन्य गणराजा अपने घर लौट आए। अकेला चेटक ही अंत तक युद्ध लड़ता रहा। अंततः उसकी पराजय हुई और उसने मैदान ने भागकर कुएं में कूदकर आत्महत्या कर ली। वचे-खुचे लिच्छवि (उसके अनुयायी) नेपाल की ओर भाग गए। संभव है सुपुष्प भी उनमें एक रहा हो जिसने अपनी रक्षा हेतु काठमाण्डौ घाटी की शरण ली हो। लिच्छवियों में प्रत्येक अपने को राजा कहता था, इसलिए अभिलेख में सुपुष्प को राजा लिखा गया होगा। सुपुष्प को यहां अपने पांव पर खड़ा होने में अवश्य समय लगा होगा। लिच्छवि कुशल राजनीतिक और योद्धा थे ही। यहां की स्थितियां उसकी महत्वाकांक्षा पूर्ण करने में सहायक रही होंगी। सुपुष्प के वंशज (संतति) अपनी राजनीतिक कुशलता के कारण नेपाल के सिंहासन पर अधिकार करने में सफल हुए होंगे। अगर वंशावलियों पर विश्वास किया जाय तो 'वर्मन' विरुद्धवाले राजा सुपुष्प के वंश के हो सकते हैं। वंशावलियों में कहा गया है कि भास्कर वर्मन (सोम वंश का अंतिम राजा) के कोई पुत्र न होने के कारण भूमि वर्मन (सूर्यवंशी लिच्छवि) सामंत को अपना उत्तराधिकारी बनाया। इसका अर्थ यह हुआ कि लिच्छवि पहले सामंत थे, बाद में सार्वभौम राजा हुए। लिच्छवियों को सामंत बनने में भी काफी संघर्ष करना पड़ा होगा, इससे विदित होता है कि लिच्छवि काफी समय पूर्व वैशाली से नेपाल आकर बसे होंगे। अतः आवश्यक चूर्णि के कथन पर विश्वास किया जाना चाहिए। सुपुष्प के काल का अनुमान लगाने का दूसरा साक्ष्य पशुपतिनाथ अभिलेख है जिसके अनुसार सुपुष्प जयदेव प्रथम से 23 पीढ़ी पूर्व हुआ था। अभिलेख में जयदेव प्रथम के बाद 10 राजाओं के नाम मिट गए हैं, तत्पश्चात् 13वें पर वृष देव, 14वें शंकर देव,



15वें धर्म देव तथा 16वें मान देव (प्रथम) का नाम लिखा है। मान देव (प्रथम) चांगुनारायण अभिलेख की तिथि 389 (शक संवत मानने पर  $78 + 389 =$  ईसवी सन् 467 हुआ) को या एक वर्ष पूर्व सिंहासन पर बैठा होगा। इसके अनुसार मान देव से 16वीं पीढ़ी पूर्व जयदेव प्रथम और जयदेव से 23वीं पीढ़ी पूर्व सुपुष्प नामधारी राजा पुष्पपुर (पाटलिपुत्र ?) में जन्मा था। अगर प्रत्येक राजा का औसत शासन काल 20 वर्ष मान लें तो मान देव (467 ई. सुविधा के लिए) से  $16 + 23 = 39 \times 30 = 780$  वर्ष पूर्व  $780 - 467 = 313$  ई. पू. के लगभग सुपुष्प के आने का समय आता है। यह समय अजातशत्रु के समय के अधिक निकट है। अगर वंशावलियों में उल्लिखित राजाओं को ठीक से पहचान करने का प्रयत्न किया जाय तो अभिलेख में छूट गए राजाओं के लाभ पूर्ण किए जा सकते हैं।

काशीप्रसाद जायसवाल<sup>8</sup> तथा वासुदेव उपाध्याय<sup>9</sup> ने जयदेव प्रथम को समुद्रगुप्त का समकालीन नेपाल का लिच्छवि राजा माना है। पर यह मत उचित नहीं प्रतीत होता। इन विद्वानों ने नेपाल अभिलेखों (प्रथम वर्ग) में प्रयुक्त संवत को गुप्त संवत<sup>10</sup> माना है, जो ठीक नहीं है। हितनारायण झा तथा अन्य विद्वानों ने इस अभिलेखों<sup>11</sup> (प्रथम वर्ग) में प्रयुक्त संवत को शक संवत माना है। नेपाली इतिहास को क्रमबद्ध करने के लिए यही संवत अधिक सहायक है। जयदेव प्रथम को पशुपतिनाथ-अभिलेख में मानदेव से 15 पीढ़ी पूर्व<sup>12</sup> (अभिलेख में जयदेव प्रथम के बाद 11 राजाओं के नाम मिट गए हैं) तथा वंशावलियों में 20 पीढ़ी<sup>13</sup> पूर्व दर्शाया गया है। इस तरह नेपाल अभिलेखों (प्रथम वर्ग) के संवत को शक संवत् मानने से जयदेव प्रथम का शासन काल ई. 467 (मान देव की सिंहासनारोहण तिथि)— $20 \times 15 = 300 = 167$  ई. (अभिलेख के अनुसार) या  $(467 - 20 \times 20 = 400) = 67$  ई. होना चाहिए। स्पष्ट है जयदेव प्रथम समुद्रगुप्त का समकालीन राजा नहीं था।

संभवतः नेपाल का लिच्छवि राजा (वंशावलियों में उल्लिखित) शिव वर्मन समुद्रगुप्त का समकालीन था।<sup>14</sup> संभवतः शिव वर्मन ने ही समुद्रगुप्त को 'राजकर' देना स्वीकार करके समुद्रगुप्त से मित्रता (लिच्छवि-गुप्त संबंध होने के कारण अपना हितैषी समझकर) स्थापित की। इस मित्रता के कारण नेपाल के लिच्छवियों को अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में सहायता मिली। फलस्वरूप उसके उत्तराधिकारियों ने दीर्घकाल तक नेपाल पर शासन किया। नेपाल में 'करद राजा' के रूप में शासन करने की स्थिति संभवतः स्कंदगुप्त की मृत्यु (467 ई.)<sup>15</sup> तक बनी रही। लेकिन स्कंदगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्त साम्राज्य पतनोन्मुख हो गया।<sup>16</sup> इस स्थिति का लाभ उठाकर संभवतः नेपाल का लिच्छवि राजा मानदेव प्रथम ने अपने को 467 ई.<sup>17</sup> में स्वतंत्र घोषित कर लिया और चांगुनारायण मंदिर अभिलेख के अनुसार अपने राज्य का विस्तार किया तथा गुप्त राजाओं को 'राजकर' देना बंद कर दिया। इसके स्वतंत्र होने के प्रमाण मानदेव द्वारा नेपाल में बहुसंख्या में अभिलेख उत्कीर्ण कराना तथा स्वतंत्र

‘मानक’ सिक्के प्रचलित करना है। इन अभिलेखों पर उसने (गुप्त संवत् के बजाय) शक संवत् का प्रयोग किया। इससे प्रतीत होता है कि उसने इतिहास में अपनी अलग पहचान बनाई। मानदेव (प्रथम) जैसे महत्वाकांक्षी राजा के लिए इतने में संतुष्ट होना पर्याप्त नहीं था। अपनी विधवा मां राज्यवती<sup>18</sup> की अनुमति प्राप्त कर उसने विजय-अभियान की योजना बनाई। सर्वप्रथम उसने पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान किया। यहां के नृपतियों ने बिना युद्ध लड़े ही उसके आगे आत्मसमर्पण कर दिया।<sup>19</sup> मानदेव ने उन नृपतियों के विनम्र व्यवहार से प्रसन्न होकर पुनः अपने पदों पर आसीन कर दिया।<sup>20</sup> तत्पश्चात् उसने पश्चिम की ओर प्रस्थान किया।<sup>21</sup> पूर्वनियोजित योजना के अनुसार मानदेव ने सैकड़ों हाथियों और अश्वारोहियों को साथ लेकर ‘मल्लपुरी’ पर आक्रमण कर उसे जीत लिया।<sup>22</sup> इस अभियान में उसने अपने अनुभवी मामा से सहायता ली जिसने आक्रमण करने के पूर्व मल्लपुरी जाकर वहां की जनता को मानदेव के पक्ष में किया था। मानदेव की इस विजय के उपलक्ष्य में राज्यवती ने ब्राह्मणों को दान दिया।<sup>23</sup>

### मल्लपुरी की पहचान

अभिलेख में आए इस ‘मल्लपुरी’ की पहचान को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। रेग्मी तथा कुछ अन्य विद्वान ‘मल्लपुरी’ को नेपाल में पैठण या दैलख के पश्चिम में कहीं स्थित मानते हैं।<sup>24</sup> हितनारायण झा<sup>25</sup> ने मल्लपुरी को वर्तमान गोरखपुर के पास स्थित होना सिद्ध किया है, जो तथ्य के अधिक निकट लगता है। यह मल्लपुरी संभवतः मल्लों की राजधानी थी, जिन्होंने अजातशत्रु के आक्रमण के समय लिच्छवियों से मैत्री कर<sup>26</sup> लिच्छवियों का पक्ष लिया था। हितनारायण झा का मत इसलिए ग्राह्य है क्योंकि मानदेव स्कंदगुप्त के मृत्यु वर्ष (467 ई.) में सिंहासन पर बैठा था। स्कंदगुप्त के बाद गुप्त साम्राज्य पतनोन्मुख हो गया था।<sup>27</sup> उसके उत्तराधिकारियों में इतनी शक्ति और राजनीतिक कुशलता नहीं रही कि विशाल गुप्त साम्राज्य को सुरक्षित रख सकते। इसका लाभ संभवतः महत्वाकांक्षी मानदेव ने उठाया और नेपाल-तराई से संलग्न भारत-भूमि पर आक्रमण कर अपने अधीन कर लिया। गु. सं. 141 (460 ई.) के काहौन अभिलेख<sup>28</sup> से विदित होता है कि यह क्षेत्र गुप्तों के अधीन था, लेकिन इससे स्पष्ट नहीं कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र पर गुप्तों का अधिकार 467 ई. के बाद भी बना रहा।<sup>29</sup> मानदेव की अन्य उपलब्धियों तथा स्वतंत्र ‘मानांक’<sup>30</sup> विरुद्ध वाले सिक्के प्रसारित करवाना भी इस बात पर बल देता है कि उसने अवश्य ऐसे कार्य कर दिखाए जिसे उसके पूर्वज नहीं कर पाए थे। मानदेव ने न केवल अपने पूर्वजों का मान-सम्मान बढ़ाया, वरन् नेपाल तथा आसपास के क्षेत्रों में अपनी स्थिति भी दृढ़ की थी।

लिच्छवि राजा मानदेव प्रथम एक विजेता ही नहीं महान निर्माणकर्ता भी था।



उसने एक प्रसिद्ध मानगृह का निर्माण कराया जो आगे की कई पीढ़ियों के लिए राजकीय गतिविधियों का केंद्र बना रहा।<sup>31</sup> इसके अतिरिक्त उसने कई मंदिर बनवाए और उसे विभिन्न देवी-देवताओं की मूर्तियों से अलंकृत करवाया, उनमें एक प्रसिद्ध वामनमूर्ति मंदिर भी था।<sup>32</sup> अश्वमेध-यज्ञ के समय बलि से पूर्व वामन की बाह्य आकृति में विष्णु का रूप बहुत सुंदर ढंग से चित्रित है।<sup>33</sup> संभवतः मान देव ने ही उस विहार का निर्माण कराया था जो कालांतर में मान देव विहार कहलाया।<sup>34</sup> नेपाल में मुद्रामाला का श्रीगणेश भी मान देव प्रथम ने ही किया था। प्राचीन नेपाल के अभी तक प्राप्त सभी सिक्के ताम्र के हैं, उनके 'मानांक' विरुद्ध वाले सिक्के संभवतः मान देव प्रथम ने ही प्रसारित कराए थे।<sup>35</sup>

हितनारायण झा ने मानदेव प्रथम की तुलना समुद्रगुप्त से की है।<sup>36</sup> मानदेव प्रथम समुद्रगुप्त के समान कर्मठ, साहसी और शूरवीर था। दोनों को हम शत्रु द्वारा अजेय, महान संगठनकर्ता तथा दूरदर्शी राजनीतिज्ञ के रूप में देखते हैं।<sup>37</sup> मानदेव स्वयं विष्णु का उत्कट भक्त था लेकिन धार्मिक सहिष्णुता की नीति में विश्वास करता था।<sup>38</sup> इन सब महान गुणों से संपन्न होने पर भी मानदेव उच्च धोष करने वाली उपाधियों को धारण करने की ओर कभी आकृष्ट नहीं हुआ। वह अपनी साधारण उपाधि राजश्री, नृप तथा भट्टारक महाराज से ही संतुष्ट था।<sup>39</sup>

यदि चांगुनारायण-अभिलेख की तिथि 386 मान ली जाए तो मानदेव ने कम से कम 42 वर्ष<sup>40</sup> तक राज्य किया, और यदि इसे 389 शुद्ध मानें तो उसने 39 वर्ष<sup>41</sup> तक राज्य किया। इस अवधि में उसने लिच्छवि वंश को नेपाल में काफी दृढ़ता से स्थापित कर लिया।

मान देव के पश्चात् महीदेव शासन में आए। लेकिन महीदेव ने संभवतः कुछ ही माह तक शासन किया। महीदेव का अपना कोई स्वतंत्र अभिलेख अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। केवल जयदेव द्वितीय का पशुपतिनाथ-अभिलेख तथा विष्णु गुप्त के एक अभिलेख में उसका नाम आदरपूर्वक लिया गया है।<sup>42a</sup>

महीदेव के बाद वसंत देव संभवतः 506 ई. में नेपाल के सिंहासन पर बैठा।<sup>42b</sup> वसंत देव ने संभवतः 532 ई. तक शासन किया।<sup>43</sup> थानकोट से प्राप्त उसके अभिलेख की तिथि सं. 454 (532 ई.) है। इस अभिलेख की अपनी एक विशेषता है। इसमें महाराज महासामंत श्री क्रमलीन का उल्लेख है। इस अभिलेख में क्रमलीन 'भट्टारक महाराज श्री वसंत देव' को शासन पत्र के संबंध में राय देते हुए दिखलाया गया है। इस क्रमलीन की राजनीतिक स्थिति के बारे में यहां कुछ विचार कर लेना आवश्यक है। उत्तर भारत के तत्कालीन इतिहास पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि 'महाराज महासामंत' विरुद्ध प्रायः बड़े सामंत अथवा शक्तिशाली सामंत ही धारण करते थे।<sup>44</sup> अतः यदि कहा जाए कि क्रमलीन भी नेपाल में काफी शक्तिशाली सामंत था तो अनुपयुक्त नहीं होगा। अब यहां यह विचार करना है कि एकाएक यह गुप्त सामंत



लिच्छवि राज्य नेपाल में कैसे नियुक्त हो गया जो अपने प्रारंभिक वर्षों में ही इतना शक्तिशाली था कि लिच्छवि राजा वसंत देव को राय (मंत्रणा) देने लगा। पुनः सं. 554 तिथि का यह अभिलेख वसंत देव के शासन काल का अंतिम ज्ञात तिथि का अभिलेख है।<sup>45</sup> इसमें ही सामंत 'क्रमलीन' का महाराज महासामंत के रूप में उल्लेख है। उत्तर भारत के परवर्ती गुप्त राजाओं के इतिहास पर दृष्टिपात करने पर विदित होता है कि भानु गुप्त (510 ई.) तथा ईश्वर वर्मा की तिथि (544 ई.) के मध्य परवर्ती गुप्त राजा जीवितगुप्त (हर्षगुप्त का पुत्र) और मौखरि राजा आदित्य वर्मा के पुत्र ईशान वर्मा ने संयुक्त रूप से विजय अभियान में 'हिमालय से लेकर समुद्रतट के मध्य क्षेत्र' पर पुनः अधिकार करने में सफलता प्राप्त की थी।<sup>46</sup> इस तथ्य से अनुमान लगाया जा सकता है कि जीवित गुप्त ने ही संभवतः हिमालय क्षेत्र पर राज्य करने वाले लिच्छवि राजा वसंत देव को परास्त करके 'मल्लपुरी' का क्षेत्र पुनः लिच्छवियों से छीन लिया होगा।<sup>47</sup> और लिच्छवि राजा पर नियंत्रण रखने के लिए संभवतः उसने नेपाल में क्रमलीन की नियुक्ति 'महाराज महासामंत' के पद पर कर दी। इस तरह दूतक विरोचन गुप्त और रवि गुप्त क्रमशः याज्ञिक तथा सर्वदण्डनायक महाप्रतिहार के पद पर आसीन हुए होंगे।<sup>48</sup>

इस प्रकार भारतीय गुप्त सामंतों का नेपाल में प्रवेश संभवतः वसंत देव के काल में ही हुआ, न कि मान देव के काल में जैसा कि हितनारायण झा<sup>49</sup> ने विचार व्यक्त किया है। वसंत देव के बाद के लिच्छवि राजाओं के समय में भी हमें बहुत से गुप्त सामंतों का उल्लेख मिलता है जिसमें भौम गुप्त काफी शक्तिशाली सामंत था।<sup>50</sup>

वसंत देव के पश्चात् वामनदेव व गणदेव लिच्छवि राजा नेपाल के सिंहासन पर बैठे। लेकिन वे नाममात्र के शासक रहे, वास्तविक सत्ता गुप्त सामंतों के हाथ में ही रही। गणदेव के प्रारंभिक अभिलेख की तिथि सं. 482 ई.<sup>51</sup> (560 ई.) है। इसमें 'सर्वदण्डनायक महाप्रतिहार' 'श्री भौम गुप्त' का उल्लेख है। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि सर्वदण्डनायक महाप्रतिहार होते हुए भी वह (भौम गुप्त) दूतक नहीं था। जबकि इसके पूर्व वसंत देव के शासन काल में सर्वदण्डनायक रविगुप्त दूतक का भी कार्य करता था। भौमगुप्त ने अपना महत्त्व दिखाने के लिए 'परमदैवत' उपाधि भी धारण की<sup>52</sup>, जबकि लिच्छवि राजा वामन देव, राम देव तथा गण देव केवल 'भट्टारक महाराज' की उपाधि धारण करते थे। इससे प्रतीत होता है कि लिच्छवि राजा इन गुप्त सामंतों के कठपुतली बनकर रह गए थे।<sup>53</sup> इस प्रकार वसंत देव के समय से शिव देव प्रथम के शासन काल के मध्य तक गुप्तों ने प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर अधिकार कर रखा था जिससे वे नेपाल के राजकीय गतिविधियों पर नियंत्रण रखे हुए थे।<sup>54</sup>

भौम गुप्त का प्रभाव लिच्छवि राजा शिव देव के शासन काल में सं. 515 अर्थात् 593 तक बना रहा था। शिवदेव ने इन गुप्त सामंतों से मुक्त होने का प्रयास

प्रारंभ किया। लेकिन वह यह कार्य अकेले नहीं कर सकता था, क्योंकि गुप्त सामंत उसकी गतिविधियों पर कड़ी नजर रखते थे। उसके शासनकाल में भौम गुप्त लिच्छवियों के लिए 'राहु' बन चुका था। इस राहु से मुक्ति पाने के लिए शिव देव प्रथम को सौभाग्य से एक योग्यतम सामंत अंशु वर्मन मिल गया<sup>55</sup> जो संभवतः लिच्छवि था। कुछ विद्वान अंशु वर्मन को गुप्त वंशज मानते हैं,<sup>56</sup> किंतु यह मत उचित नहीं प्रतीत होता है।<sup>57</sup> वंशावलियों से ज्ञात होता है कि लिच्छवि राजा शिव देव वर्मन (अभिलेख में उल्लिखित शिव देव) का अंशु वर्मन दामाद था।<sup>58</sup> अंशु वर्मन को लिच्छवि कहने का आधार यह भी है कि वंशावलियों के सभी लिच्छवि राजा 'वर्मन' विरुद्ध धारण किए हुए हैं तथा सूर्यवंशी हैं। अंशु वर्मन भी 'वर्मन' विरुद्ध धारण करता है, जबकि अन्य गुप्त सामंत प्रायः 'गुप्त' विरुद्ध धारण किए हुए हैं।

अंशु वर्मन के सहयोग से ही शिव देव प्रथम लिच्छविकुल की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित कर सका। इसीलिए शिव देव प्रथम को अभिलेखों में 'लिच्छवि कुलकेतु' कहा गया है।<sup>59</sup> अंशु वर्मन का ही सहयोग पाकर शिव देव प्रथम शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने में सफल हो सका। अंशु वर्मन की मृत्यु होते ही जो गुप्त सामंत शांत थे पुनः सक्रिय हो गए।<sup>60</sup> अंशु वर्मन का गुणगान शिवदेव प्रथम के लगभग सभी अभिलेख करते हैं।<sup>61</sup> लेकिन अंशु वर्मन भी महत्वाकांक्षी महासामंत था। उसने लिच्छवि राजा शिव देव प्रथम को गुप्त सामंतों के चंगुल से मुक्त कराकर अपना प्रभाव स्थापित किया। लिच्छवि राज्य का विस्तार वहां तक कर लिया जहां तक पहले मान देव का अधिकार था। उसने मल्लपुरी पर भी संभवतः पुनः अधिकार कर लिया। शिव देव के समय के अभिलेख (सं. 520<sup>62</sup> अर्थात् 598 ई.) में 'मल्लकर' का उल्लेख है, यद्यपि इस अभिलेख में शिव देव का नाम नहीं है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि 'मल्लों' को अंकुश में रखने के लिए शिव देव प्रथम को जनता पर 'मल्लकर' लगाना पड़ा हो।

प्रारंभ में अंशु वर्मन केवल एक सामंत था<sup>63</sup>, जो संभवतः 574 ई. में नियुक्त हुआ।<sup>64</sup> अंशु वर्मन की योग्यता तथा उसके द्वारा लिच्छवि वंश की पुनः प्रतिष्ठा स्थापित करने के कारण शिव देव प्रथम ने संभवतः अपनी पुत्री का विवाह उससे कर दिया और उसकी पदवी सामंत से 'महासामंत' कर दी<sup>65</sup> तथा राज्य के प्रशासन एवं सुरक्षा का अधिकार भी उसे दे दिया। इस अधिकार को पाते ही अंशु वर्मन अपनी स्थिति दृढ़ करने लगा। आगे चलकर संभवतः शिव देव प्रथम के शासन काल के 30वें वर्ष (604 ई.)<sup>66</sup> में अंशु वर्मन ने एक अलग राज्य की स्थापना कर ली, जो उसके सभी अभिलेख सिद्ध करते हैं। यह स्थिति शिव देव प्रथम के शासन के 39वें वर्ष तक बनी रही।<sup>67</sup> इस स्थिति को देखते हुए हम अनुमान लगा सकते हैं कि नेपाल में इस समय द्वैराज्य शासन प्रणाली स्थापित हो गई थी। इंद्र जी<sup>68</sup> और जायसवाल<sup>69</sup>



का भी मत है कि नेपाल में द्वैराज्य शासन प्रणाली थी। अंशु वर्मन नेपाल का पहला राजा था जिसने पड़ोसी राज्यों के राज-परिवारों से वैवाहिक-संबंध स्थापित कर अपनी स्थिति सुदृढ़ की। अंशु वर्मन की बहन भोग देवी भारतवर्ष के मौखिर वंश के राजपुत्र शूर सेन से ब्याही थी<sup>70</sup>, जिससे भोग वर्मन पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका विवाह मगध के गुप्त राजा आदित्य सेन की पुत्री से हुआ था।<sup>71</sup> भोग देवी ने पशुपति नाथ मंदिर के समीप एक लिंग की स्थापना की थी जो सूर्य भोगेश्वर के नाम से जानी जाती है।<sup>72</sup>

अंशु वर्मन के संवत् 34वें तिथि (608 ई.) के अभिलेख<sup>73</sup> में शिव देव के पुत्र उदय देव का उल्लेख दूतक एवं युवराज के रूप में हुआ है।<sup>74</sup> ऐसा इसलिए किया होगा कि अंशु वर्मन का कोई पुत्र नहीं था। उदय देव उसका साला था। इसलिए उसे अंशु वर्मन ने अपना उत्तराधिकारी चुना होगा। यह भी हो सकता है कि शिवदेव प्रथम के पुत्र उदय देव की ओर से कोई झगड़े की स्थिति न पैदा हो, इस कारण अंशु वर्मन ने उसे अपना 'दूतक' नियुक्त किया और उसे 'युवराज' कहकर सम्बोधित किया।<sup>75</sup> दूतक के रूप में रहते हुए संभवतः उदय देव ने यह सोचा हो कि भविष्य में वही अविभाजित राज्य का उत्तराधिकारी होगा अतः इस पद से वह पूर्णरूप से संतुष्ट रहा होगा।<sup>76</sup>

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि शिव देव प्रथम के शासन काल के 30वें (सं. 526) वर्ष में अंशु वर्मन ने एक अलग राज्य की स्थापना कर ली थी<sup>77</sup>, लेकिन इस पर भी वह स्वयं को केवल 'महासामंत' और 'श्री'<sup>78</sup> ही कहता था। यह स्थिति संभवतः शिव देव प्रथम के शासन काल के उनतालीसवें<sup>79</sup> वर्ष (संभवतः शिव देव प्रथम की मृत्यु तक) तक बनी रही।<sup>80</sup> शिव देव की मृत्यु के पश्चात् अंशु वर्मन ने पूरे राज्य पर अधिकार कर 'महाराजाधिराज'<sup>81</sup> की उपाधि धारण कर ली और सिक्के<sup>82</sup> प्रसारित कराए। इससे उदय देव को बहुत धक्का लगा, क्योंकि उसका संपूर्ण राज्य का उत्तराधिकारी बनने का स्वप्न चूर-चूर हो गया। अतः शासन पर प्रभाव स्थापित करने के उद्देश्य से उसने अन्य स्रोतों से सहायता लेने का प्रयास किया। गुप्त रूप से उसने गुप्त सामंतों से सद्भावना प्राप्त कर ली, जो अंशु वर्मन के समय प्रभावहीन हो गए थे। ये गुप्त सामंत लंबे समय से इसी अवसर की प्रतीक्षा में थे। पर अंशु वर्मन के विरुद्ध प्रत्यक्ष रूप से कुछ करने की सामर्थ्य उनमें नहीं थी क्योंकि अंशु वर्मन अपने को एक सर्वशक्तिमान शासक प्रमाणित कर चुका था। इसलिए उन्होंने गुप्त रूप से षड्यंत्र किया और राज्य-क्रांति करने की योजना बनाई जिसने गुप्तों को पुनः नेपाल की राजनीति में प्रभावशाली होने का मार्ग प्रशस्त किया।<sup>83</sup> संभवतः सं. 45 में तथा सं. 48 (महाराजा ध्रुव देव की प्रारंभिक तिथि) के मध्य अंशु वर्मन की मृत्यु हो गई।<sup>84</sup>

यद्यपि उदय देव का कोई अभिलेख नहीं प्राप्त हुआ है लेकिन अंशु वर्मन की मृत्यु के पश्चात् वह सिंहासन पर बैठा। इसकी पुष्टि जयदेव द्वितीय का पशुपतिनाथ



अभिलेख करता है।<sup>85</sup> ताडविवरण (तिब्बती विवरण)<sup>86</sup> भी यह संकेत करता है कि उसने सिंहासन प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की थी। जिष्णु गुप्त उसका प्रधानमंत्री था जो अत्यधिक शक्तिशाली था।<sup>87</sup> ताडविवरण आगे सूचना देता है<sup>88</sup> कि उदय देव बाद में अपने कनिष्ठ भाई ध्रुव देव द्वारा अपदस्थ कर दिया गया। इस विवरण से स्पष्ट होता है कि उदय देव पूर्णरूप ने गुप्तों की दया पर निर्भर था, उसके साथ जिष्णु गुप्त ने उसी तरह का व्यवहार किया जिस तरह अंशु वर्मन ने शिव देव प्रथम के साथ किया था। लेकिन उदय देव पूर्व की तरह किसी अन्य द्वारा नियंत्रित किया जाना पसंद नहीं करता था। संभवतः गुप्तों का प्रभाव समाप्त करने के लिए उसने अपनी शक्ति का प्रयोग भी किया। इसका परिणाम यह हुआ कि वह सिंहासनाच्युत कर दिया गया और उसकी जगह उसका कनिष्ठ भ्राता ध्रुव देव सिंहासन पर बैठा<sup>89</sup> जिसने गुप्तों के आदेश पर चलना स्वीकार किया।<sup>90</sup> यह घटना सं. 48<sup>91</sup> (48 + 574 = 622 ई.), (ध्रुव देव का प्रारंभिक प्राप्त अभिलेख) से पूर्व की है।

इस तरह ध्रुव देव तथा उत्तराधिकारी पुत्र भीमार्जुन देव को अंशु वर्मन की भांति जिष्णु गुप्त ने अपने हाथ की कठपुतली बनाकर रखा और ऊंची से ऊंची राजकीय उपाधि 'भगवत्—पशुपतिभट्टारक पादानुगृहितोवयपादानुध्यातः'<sup>92</sup> ग्रहण की। वह इतने से ही संतुष्ट नहीं हुआ, बल्कि अपने पुत्र विष्णु गुप्त को 'युवराज'<sup>93</sup> कहकर पुकारने लगा तथा अपने नाम के सिक्के<sup>94</sup> भी चलवाए।

ध्रुव देव ने कम से कम दो वर्ष तक शासन किया जिसकी पुष्टि उसके अभिलेखों पर अंकित तिथि सं. 48<sup>95</sup> और 49<sup>96</sup> से होती है। उसके पश्चात् उसका पुत्र या भाई भीमार्जुन देव सिंहासन पर बैठा जिसके अभिलेखों पर अंकित आरंभिक तिथि सं. 55<sup>97</sup> और अंतिम तिथि सं. 65<sup>98</sup> है। जयदेव द्वितीय के पशुपतिनाथ अभिलेख<sup>99</sup> में उदय देव के बाद तथा नरेन्द्र देव के पूर्व तेरह राजाओं के शासन का उल्लेख है। लेकिन यह संभव नहीं है क्योंकि नरेन्द्र देव के प्रारंभिक अभिलेख की तिथि सं. 67<sup>100</sup> तथा भीमार्जुन देव के अंतिम प्राप्त अभिलेख की तिथि सं. 65 है, इन दोनों के मध्य किसी अन्य राजा का शासन होना संभव नहीं है।<sup>101</sup> इसी तरह सं. 49 से सं. 54 तक 11 राजाओं का भी होना संभव नहीं लगता। सत्य के समीप यही लगता है कि ध्रुव देव के पश्चात् भीमार्जुन देव ही सिंहासन पर बैठा होगा। संभव है कि ध्रुव देव ने सं. 49 के बाद भी कुछ वर्षों तक राज्य किया हो और भीमार्जुन देव सं. 55 में या कुछ वर्ष पूर्व सिंहासन पर बैठा हो।<sup>102</sup>

भीमार्जुन देव ने भी ध्रुव देव की भांति जिष्णु गुप्त के नियंत्रण में शासन किया। इसने भी सामान्य राजा की भांति 'भट्टारक महाराज'<sup>103</sup> की उपाधि से अपने को संतुष्ट किया।

जिष्णु गुप्त के अंतिम प्राप्त अभिलेख की तिथि सं. (59 + 574 = 633 ई.) है, इस

वर्ष में विष्णु गुप्त (पुत्र) तथा श्रीधर गुप्त (पौत्र) क्रमशः युवराज तथा दूतक के रूप में दर्शाए गए हैं।<sup>104</sup> जब विष्णु गुप्त अपने पिता का पद प्राप्त कर लेता है तो दूतक श्रीधर गुप्त युवराज पद पर आ जाता है।<sup>105</sup> इससे अनुमान लगाया जा सकता है सं. 59 (633 ई.) में कभी जिष्णु गुप्त का देहांत हो गया होगा।

युवराज का पद प्राप्त कर लेने पर विष्णु गुप्त ने पूर्ववर्ती गुप्त सामंतों की धृष्टता को भी पीछे कर दिया।<sup>106</sup> महाराज श्री भीमार्जुन देव जहाँ लोगों की कठिनाई दूर करने के लिए कई प्रकार की योजनाओं में व्यस्त रहता था।<sup>107</sup> वहाँ विष्णु गुप्त केवल डींगें मारा करता था, कि उसमें एक गर्वीले राजा के सभी गुण हैं तथा वही अंधकार को मिटाने वाला है।<sup>108</sup>

### नेपाली लिच्छवि राजाओं की पुनः प्रतिष्ठा

जिस समय विष्णु गुप्त नेपाल के राजसिंहासन पर पूर्ण रूप ने अधिकार करने के लिए अपनी शक्ति में वृद्धि करने का प्रयास कर रहा था, नरेन्द्र देव ने (उदय देव का पुत्र)<sup>109</sup> गुप्त रूप से तिब्बत<sup>110</sup> में आकर शरण ली थी। ताङ्गविवरण<sup>111</sup> में उल्लेख है कि नरेन्द्र देव तिब्बत के राजा से सहायता प्राप्त करने में सफल हुआ। नेपाल के सिंहासन पर एक तरह से अधिकार जमाए हुए अवसरवादी गुप्तों को समूल नष्ट करने के लिए तिब्बत के राजा ने नरेन्द्र देव की सहायता के लिए बड़ी सेना भेजी जिसके द्वारा नरेन्द्र देव ने नेपाल पर आक्रमण किया और अवैध अधिकार जमाए गुप्तों को नेपाल की राजनीति से पूरी तरह बाहर निकाल फेंका।<sup>112</sup> इस प्रकार नेपाल में लिच्छवियों के वंश का पुनः गौरव स्थापित हो सका। यह महत्वपूर्ण कार्य नरेन्द्र देव की दूरदर्शिता के कारण सम्पन्न हुआ। इसलिए उसे लिच्छवि वंश का उद्धारक कहना उचित होगा। नरेन्द्र देव ने उच्च राजकीय उपाधि 'परमभट्टारक महाराजाधिराज'<sup>113</sup> धारण की। उसने तिब्बत के राजा की सहायता प्राप्त करने के बदले में यद्यपि कुछ वार्षिक कर<sup>114</sup> देना स्वीकार किया लेकिन इसके अतिरिक्त हम तिब्बत का नेपाल की राजनीति में किसी प्रकार का दखल नहीं पाते।

गुप्तों को नेपाल की राजनीति से समूल नष्ट करने के पश्चात् नरेन्द्र देव ने पड़ोसी देश चीन से मित्रता स्थापित की। उसने अपने पुत्र को उपहार के साथ 651 ई. में चीन भेजा।<sup>115</sup> इसी प्रकार 646 ई. में एक चीनी दूत मण्डल नेपाल होता हुए भारत आया था।<sup>116</sup> यह दूत मण्डल जब भारत पहुंचा तो हर्षवर्द्धन की मृत्यु हो चुकी थी। भारत पहुंचने पर मगध का अर्जुन या अरुणाश्व (संभवतः हर्षवर्द्धन का मंत्री या सामंत) ने इस दूत मण्डल के साथ दुर्व्यवहार किया और चीनी दूत वेंग-ह्वैन-त्सांग के अंगरक्षकों को मार डाला।<sup>117</sup> चीनी दूत सहायता के लिए नेपाल आया।<sup>118</sup> उसके अनुरोध पर नेपाल तथा तिब्बत के राजा ने चीनी दूत वेंग-ह्वैन-त्सांग की सहायता के लिए एक बड़ी सेना दी। सैनिक सहायता पाकर वेंग ने अपने अपमान का बदला अर्जुन को युद्ध में परास्त



करके लिया। अर्जुन को बंदी बनाकर वह चीन ले गया। जहां इसके लिए उसे बहुत अधिक सम्मान दिया गया।<sup>119</sup>

नरेंद्र देव ने तिब्बत तथा भारत के मौखिकियों से विवाह संबंध स्थापित किए। नरेंद्र देव ने अपनी बहन भूकुटी को विवाह तिब्बत के राजा<sup>120</sup> तथा अपने पुत्र शिव देव द्वितीय का विवाह मगध के राजा भोग वर्मन<sup>121</sup> (अंशुवर्मन का भान्जा) की पुत्री वत्सदेवी (आदित्य सेन की नतिनी) से किया। इस प्रकार वैवाहिक संबंध करके नेपाल में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली।

नरेंद्र देव ने कम से कम 37 वर्ष तक (677 ई.) शासन किया।<sup>122</sup> नरेंद्र देव के बाद क्रमशः शिव देव द्वितीय<sup>123</sup>, जयदेव द्वितीय<sup>124</sup>, शंकर देव द्वितीय<sup>125</sup> नेपाल के सिंहासन पर आसीन हुए। शंकर देव द्वितीय का अंतिम ज्ञात तिथि सं. 207 (= 781 ई.) है।<sup>126</sup> यही नेपाल के लिच्छवि राजाओं की अंतिम ज्ञात तिथि है। शंकर देव द्वितीय के शासन काल में भी एक महत्वपूर्ण घटना हुई। कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार कश्मीर के राजा जयापीड (शासन काल 751-782 ई.) ने, जो उत्तर भारत पर प्रभुत्व जमाना चाहता था, अरमुडि नाम के नेपाल के शासक को पराजित किया। अन्य साक्ष्य के उपलब्ध न होने के कारण अरमुडि की पहचान करना कठिन है। परंतु शंकर देव को 781 ई. में शासन करता देखकर यही अनुमान लगाया जा सकता है कि संभवतः अरमुडि लिच्छवि सामंत या नायक था।

इस प्रकार नेपाल में लिच्छवियों का शासन 781 ई. तक अवश्य रहा। इसके पश्चात् किसी लिच्छवि राजा का उल्लेख नेपाल के इतिहास में नहीं मिलता है। सत्ता से हटने के पश्चात् नेपाल के लिच्छवि वैशालियों के लिच्छवियों की भांति जीवन-यापन के लिए कृषि, व्यापार आदि कार्यों में संलग्न हो गए, और अंततः नेपाली समाज में घुलमिल गए जिनकी अलग से पहचान करना कठिन है। थारु जातियों में एक शब्द 'वाजि' (संभवतः वज्जि का बिगड़ा रूप), जिसका अर्थ थारु में 'बाबा' (पितामह) से लिया जाता है, का संबोधन सम्मानजनक माना जाता है।<sup>127</sup> इससे प्रतीत होता है कि नेपाल के लिच्छवि थारु जाति में आत्मसात हो गए।

## संदर्भ तथा टिप्पणियां

1. रेग्मी, एंशिप्ट नेपाल, पृ. 116.
2. किर्वाटिक, एन एकाउन्ट आफ द किंगडम आफ नेपाल, लण्डन, 1811; डी राइट, हिस्ट्री आफ नेपाल (परवतिया का अनुवाद), कैम्ब्रिज, 1877; अन्य वंशावलियों के संदर्भ के लिए देखिए रेग्मी, एंशिप्ट नेपाल, 1960.
3. इ. हि. क्वा, भाग 20, पृ. 345; ज. वि. रि. सो., भाग 31, पृ. 28; परमेश्वरी लाल गुप्त, वही, पृ. 233.
4. प्रयाग प्रशस्ति.



5. हितनारायण झा, वही, पृ. 104.
6. लूनिया का मत है कि पशुपतिनाथ अभिलेख में 'पुष्प पुरेकृती' पाठ जो पढ़ा गया है, अशुद्ध है. नोली महोदय ने प्रमाणों से यह स्पष्ट किया है कि अभिलेख का शुद्ध-पाठ 'पुष्पशराकृती' होना चाहिए, और इसका अर्थ है कि सुपुष्प लिच्छवि रामदेव के समान सुंदर था. अतः यह प्रमाणित नहीं होता कि सुपुष्प लिच्छवि मगध का सार्वभौम राजा था. (लूनिया, वही, पृ. 105-106).
7. आवश्यक चूर्णि, भाग 2, पृ. 172.
8. जायसवाल, भारतवर्ष का अं. यु. इति, पृ. 268.
9. उपाध्याय, वासुदेव, गुप्त अभिलेख, पृ. 259.
10. फ्लीट, इ. ए. भाग 14, पृ. 642-51; जायसवाल, ज. वि. उ. रि. सो., भाग 12, पृ. 157-264; राधा गोविंद बसाक, हि. आफ नार्दन ईस्टर्न इंडिया, पृ. 274.
11. रमेशचंद्र मजुमदार, ज. ए. सो., भाग 1, 1959, पृ. 47-48; वि. च. ला., भाग 2, पृ. 62-41; रेग्मी, एंशिप्ट नेपाल, पृ. 101; हितनारायण झा, लिच्छवि, पृ. 119.
12. नोली, अभिलेख 81; ट्वेंटी थी इंसक्रिप्शन, अभिलेख 15.
13. इ. ए. भाग 14, पृ. 412.
14. श्रीराम गोयल, पृ. 65 : गोयल सही गणना करते हैं कि वंशालियों का वृक्ष देव वर्मन (अभिलेख में इसे वृष देव) का पिता रुद्र देव वर्मन या पितामह शिव वर्मन समुद्रगुप्त का समकालीन लिच्छवि राजा था.
15. ज. रा. ए. सो. 1889, पृ. 114 : स्कंदगुप्त की अंतिम ज्ञात तिथि गु. सं. 148 है अर्थात्  $319 + 148 = 467$  ई.
16. स्कंदगुप्त के पश्चात् परवर्ती गुप्त राजाओं का क्रम निश्चित करना कठिन है, उसके पश्चात् कौन उत्तराधिकारी हुआ इस पर विद्वानों में मतभेद है। विस्तृत जानकारी के लिए देखिए, सिन्हा, डिक्लाइन आफ द किंगडम आफ मगध, पटना, 1954; चट्टोपाध्याय, अर्ली हि. आफ ना. इ. कलकत्ता, 1958; रायचौधुरी, पो. हिस्ट्री; रमेशचन्द्र मजुमदार, वाकाटक गुप्त ऐज, पृ. 184-93; वा. उपाध्याय, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, इलाहाबाद, 1957; सालातोरे, लाइफ इन गुप्त ऐज, बम्बई, 1943.
17. चांगु नारायण मंदिर अभि. तिथि सं. 389 (= 469 ई., प्रथम ज्ञात तिथि है। यह तिथि ठीक स्कंद गुप्त के मृत्यु वर्ष पर पड़ती है। इससे यह सोचना ठीक होगा कि स्कंदगुप्त के मरते ही तुरन्त मानदेव ने स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर लिया।
18. ट्वेंटी थी इंसक्रिप्शन, अभिलेख 1; नोली, अभिलेख 1 : रेग्मी, पृ. 106 : धर्म देव के स्वर्गवासी हो जाने पर मानदेव की माँ राज्यवती सती होना चाहती थी लेकिन मानदेव माँ की इच्छा जानकर खुश नहीं हुआ उसने माँ को ऐसा न करने का हठ किया उसने सोचा कि माँ की मौजूदगी उसके राज्य संचालन में सहायक तथा उसकी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में प्रेरणा स्रोत रहेगी. अंततः राज्यवती ने अपनी इच्छा बदल दी. तत्पश्चात् माँ की अनुमति प्राप्त कर वह विजय अभियान के लिए निकला.
19. वही, श्लोक 16; हितनारायण झा, वही, पृ. 108 : उनका मत है कि यद्यपि अभिलेख में विजित स्थानों का नामोल्लेख नहीं है, फिर भी अनुमान लगाया जा सकता है कि ये नृप कोसी क्षेत्र में रहे होंगे.
20. वही, श्लोक 16; रेग्मी, वही, पृ. 106.
21. वही, श्लोक 16; रेग्मी, वही, पृ. 106.
22. वही, श्लोक 18 : अभिलेख इस बात की ओर संकेत करता है कि मल्लपुरी के लोगों में वहां के राजा के प्रति काफी असंतोष व्याप्त था जिसका लाभ मानदेव ने उठाया.
23. हितनारायण झा, वही, पृ. 109.
24. एंशिप्ट नेपाल, पृ. 107; श्रीराम गोयल, वही, पृ. 71; प्र. कु. जायसवाल, वही, 227; इन विद्वानों ने निम्नलिखित आधार पर 'मल्लपुरी' की स्थित गोरखपुर के आसपास नहीं मानी :

- ब चांगु नारायण की तिथि 386 (464 ई.) में गोरखपुर स्कंदगुप्त के अधीन था इसलिए मल्लपुरी गोरखपुर के क्षेत्र में अव्यस्थित नहीं हो सकती है।
- स मानदेव द्वारा पराजित शत्रु उसका सामंत था। इसलिए मल्लपुरी पर्वतीय क्षेत्र में होनी चाहिए।
25. हितनारायण झा, वही, पृ. 109 : हितनारायण झा सुझाव देते हैं कि अभिलेख में वर्णित नदी पहाड़ी नहीं, बल्कि मैदानी क्षेत्र से बहने वाली नदी थी। मैदानी नदियों में ही बाढ़ आने पर चक्रवात बनता है, पहाड़ी नदी में ऐसा दृश्य देखने को नहीं मिला है (वही, पृ. 109) झा के अनुसार चांगु नारायण की तिथि का शुद्ध पाठ 389 (467 ई.) है, जैसाकि एक नेपाली लेखक ने पट्टा (इतिहास संशोधन, 2, पृ. 5-6)। विश्वास किया जाता है कि इस वर्ष स्कंदगुप्त की मृत्यु हो गई होगी जिसके तुरंत बाद गुप्त साम्राज्य का विघटन होना आरंभ हो गया; इसलिए असंभव नहीं कि मानदेव जैसे महत्वाकांक्षी तथा राजनीतिज्ञ ने इस स्थिति का लाभ उठाया हो। मल्लों का इस क्षेत्र से संबंध भूतकाल में था और मल्लों का अन्य किसी स्थान पर निवास करने की कोई सूचना न उपलब्ध होने के कारण तथा गंडक से गोरखपुर क्षेत्र की समीपता होने के कारण यह सोचना उपयुक्त होगा कि मल्लपुरी का अर्थ गोरखपुर क्षेत्र से लिया जाए (पृ. 131)। इसी तरह अभिलेख में सामंत शब्द का प्रयोग विद्वानों को गलतफहमी में डालता है, जिसका अर्थ वे 'अधीन' से लेते हैं। लेकिन वास्तव में सामंत का एक अर्थ पड़ोसी राजा भी होता है, लेख की ऊपरी पंक्ति में शत्रु के लिए 'प्रत्यरि' (अर्थात् प्रतिस्पर्धी शत्रु) का प्रयोग किया गया है। यदि मल्लपुरी का राजा मानदेव का 'अधीन सामंत' होता तो विद्वान प्रशस्ति लेखक 'प्रत्यरि' शब्द का प्रयोग कभी न करता। अतः अभिलेख के 'सामंत' शब्द का अभिप्राय शाब्दिक न होकर साहित्यिक है जो केवल यह प्रदर्शित करने के लिए प्रशस्तिकार ने लिख दिया कि वह किसी राजा के विरुद्ध अभियान नहीं, वरन् विद्रोही सामंतों का दमन मात्र है (वही, पृ. 132)।
26. पीछे प्रथम अध्याय देखिए।
27. लुनिया, वही, पृ. 383 : संभवतः स्कंदगुप्त के अंतिम दिन अच्छे नहीं रहे थे, संभवतः उसके साम्राज्य के पश्चिमी भाग के सामंत स्वतंत्र हो गए थे, इसका आभास इससे भी मिलता है कि शासन के उत्तरार्द्ध में उसने जो स्वर्ण मुद्राएं प्रसारित करवाईं उन पर पहले की तरह गर्व व्यक्त करती विरुदावली नहीं थीं। उन पर सीधा-सादा लेख 'परहितकारी राजा जयति दिवं श्री क्रमादित्य' उत्कीर्ण है। परमेश्वरी लाल गुप्त ने इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया कि स्कंदगुप्त के शासन काल के अंतिम भाग में स्वर्ण और रजत की जो मुद्राएं उत्कीर्ण की गईं, उन पर उसके परक्रम, शौर्य और प्रभुसत्ता उद्घोषित करने वाले विरुद्धों और उपाधियों का अभाव है। स्कंदगुप्त अब 'परमहितकारी' राजा रह गया था। यह इस बात का परिचायक है कि स्कंदगुप्त अब महान शक्तिशाली प्रभुसत्ता संपन्न सम्राट नहीं रह गया था। मालवा, बघेलखण्ड और सौराष्ट्र में तथा संभवतः पार्श्ववर्ती अन्य क्षेत्रों में उसका प्रभुत्व नहीं रह गया था। इस प्रकार स्कंदगुप्त का शासन समाप्त होवे-होते गुप्त साम्राज्य विघटित हो चला था। स्कंदगुप्त के बाद एक भी ऐसा अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ है जो यह बताए कि सौराष्ट्र, गुजरात, मालवा, बघेलखण्ड परवर्ती गुप्त सम्राटों के अंतर्गत रहे हों। अतः हो सकता है कि मानदेव ने स्कंदगुप्त के अंतिम वर्षों में (या मृत्यु के तुरंत बाद) यह मल्लपुरी छीनी हो। (वही)।
28. उपाध्याय प्रा. भा. अभि. का अध्ययन, खण्ड 2, पृ. 68-69.
29. हितनारायण झा, वही, पृ. 131.
30. 'मानांक' विरुद्ध वाले सिक्के किस राजा के थे। इस पर विद्वानों में मतभेद रहा है लेकिन अब यह निश्चित हो चुका है कि ये सिक्के मानदेव द्वारा ही प्रसारित किए गए थे। (ज. रा. ए. सो. 1908. पृ. 669 आगे; रेग्मी, एंशिएंट नेपाल, पृ. 91; हितनारायण झा, लिच्छवि, पृ. 134 : सिक्कों के मुख भाग पर श्री मानांक तथा पृष्ठ भाग पर कमल पर बैठी हुई देवी बनी है जिसके एक ओर 'श्री भोगिनी'

- लिखा है (वही)। भोगिनी उसकी एक प्रमुख रानी का नाम था। सूर्यघाट अभिलेख, सं. 427, पर यह नाम अंकित है (वही, टिप्पणी)।
31. नोली, अभिलेख 62 : यह स्थान कम से कम भीमार्जुन देव तक महत्वपूर्ण रहा था।
  32. नोली, अभिलेख 3, पृ. 6; झा, लिच्छवि, पृ. 133.
  33. यंग बहाल अभिलेख (नोली, 74) में मानदेव-विहार के नाम से इसका उल्लेख हुआ है। इसी तरह अंशु वर्मन के सं 32 तिथि का हांडिगाऊं अभिलेख (नोली, 36) में मान-विहार का उल्लेख हुआ है।
  35. पीछे देखिए,
  36. झा, लिच्छवि, पृ. 134.
  37. वही.
  38. वही. पृ. 135 : उसकी एक रानी गुणावती शिव की पुजारिन थीं।
  39. वही, पृ. 136.
  40. नोली, अभिलेख 81.
  41. मानदेव की अंतिम ज्ञात तिथि 427 (सूर्यघाट अभिलेख) है।
  42. अ. झा, लिच्छवि, पृ. 136.
- ब. वसंत देव की प्रथम तिथि 428 (506 ई.) है। (आदिनारायण अभिलेख, नोली, अभिलेख 12).
43. वसंत देव की अंतिम ज्ञात तिथि  $(454 + 78 = 532 \text{ ई.})$  है। इस प्रकार उसने संभवतः 506 ई. से 532 ई. तक शासन किया। झा, लिच्छवि, पृ. 139; नोली अभिलेख 14.
  44. प्र. कु. जायसवाल, वही, पृ. 230 तथा पृष्ठभूमि देखिए,
  45. नोली अभिलेख 14.
  46. हितनारायण झा, वही, पृ. 110; अफसड़ अभिलेख (वा. उपाध्याय, प्रा. भा. अभि. का अध्. पटना, 1961, पृ. 82 : जीवित गुप्त शीलपर्वत हिमालय पर रहने वाले और समुद्रतट पर रहने वाले शत्रुओं के लिए काल ज्वर था। उसने इस क्षेत्र में रहने वाले शत्रुओं को परास्त किया था। यहां हिमालय क्षेत्र के शत्रु की पहचान नेपाल के लिच्छवियों से की जाती है। इस अभिलेख में जीवित गुप्त को 'क्षितीश चूडामणि' कहा गया है। यह हर्ष गुप्त के 'रूप' विरुद्ध से अधिक महत्व का माना जाता है। (लूनिया, गुप्त राजवंश का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ. 461); वि. च. ला. वाल्ट्यूम 6, पृ. 37 : रमेशचंद्र मजुमदार सही सोचते हैं (वही) कि एक मौखरी राजा (ईशान वर्मा या ईश्वर वर्मा) और परवर्ती गुप्त राजा जीवित गुप्त प्रथम ने मिलकर हिमालय के किसी शत्रु को परास्त किया था, संभवतः लिच्छवियों को।
  47. पो. हिस्ट्री (छठा संस्करण), पृ. 601 : जायसवाल सही सोचते हैं कि इस विजय अभियान में पूर्वी भारत पुनः गुप्तों के नियंत्रण में आ गया था।
  48. नोली, अभिलेख 12, 13, 14, 15.
  49. हितनारायण झा, वही, पृ. 100, टिप्पणी 5 : झा का मत है कि मानदेव द्वारा मल्लपुरी तथा वैशाली क्षेत्र पर अधिकार कर लेने में संभवतः इस क्षेत्र के गुप्त लोग उसकी आधीनता में आ गए। उन्होंने सोचा कि पराधीन रहने की अपेक्षा लिच्छवि राजाओं के यहां नौकरी करना अच्छा है। अतः नेपाल जाकर लिच्छवि राजा के यहां उन्होंने नौकरी कर ली। और मानदेव के पश्चात् दुर्बल राजाओं के शासन काल में अवसर पाकर शक्तिशाली हो गए तथा लिच्छवि राजाओं की गतिविधियों पर नियंत्रण रखने लगे।
  50. हितनारायण झा, लिच्छवि, पृ. 111; नोली, अभिलेख 14, 15, 17, 19; रेग्मी, वही, पृ. 116.
  51. झा, लिच्छवि, पृ. 139; प्र. कु. जायसवाल, वही, पृ. 231.
  52. गणदेव के अंतिम ज्ञात तिथि सं. 489 (567) गणदेव 'महाराज' की उपाधि ग्रहण करता और



- भौमगुप्त 'परमदैवत श्री' की उपाधि ग्रहण करता है (नोली, अभिलेख 20).
53. झा, वही, पृ. 140 : अंशु वर्मन को गुप्त सामंत मानते हैं।
  54. झा, लिच्छवि, पृ. 140.
  55. झा, लिच्छवि, पृ. 141; प्र. कु. जायसवाल, वही, पृ. 234.
  56. जायसवाल, ज. वि. उ. रि. सो. 22; हितनारायण झा, वही, पृ. 111; झा महोदय का तर्क है कि अंशु वर्मन यदि लिच्छवि कुल का होता तो जय देव द्वितीय के पशुपतिनाथ अभिलेख तथा लिच्छवि राजाओं के अन्य अभिलेखों में उसके भी नाम का उल्लेख किया गया होता (वही, पृ. 144-145).
  57. अंशु वर्मन को 'गुप्त वंशज' कहने वाले विद्वानों का तर्क किसी टोस आधार पर नहीं प्रस्तुत किया गया है लिच्छवि राजाओं के अभिलेखों में अंशु वर्मन का नाम न लिखे जाने का कारण संभवतः यह रहा हो कि अंशु वर्मन उस परिवार से संबंधित नहीं था जो परिवार नेपाल में बहुत पहले से शासन करता आ रहा था. संभवतः वह अन्य किसी लिच्छवि परिवार से संबंधित था तथा ब्राह्मण मत का अनुयायी नहीं था. संभवतः इसीलिए वह 'परम दैवत' या 'देव' आदि (वैष्णव मत की अनुयायी की तरह) उपाधि नहीं धारण करता, जबकि अभिलेखों में उल्लिखित सभी लिच्छवि राजा 'देव' विरुद्ध धारण किए हुए हैं. दूसरी ओर वंशावलियों में उल्लिखित लिच्छवि राजा 'वर्मन' विरुद्ध धारण किए हुए हैं, इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि संभवतः वे बौद्ध अनुयायी थे. वंशावलियों में अंशु वर्मन को 'ठकुरीवंश' या वैश्य राजपूत कहना भी यही सिद्ध करता है कि वह गुप्त वंश से संबंधित नहीं था. इसे लिच्छवि कहने का एक आधार यह भी है कि उसने गुप्त सामंतों को प्रश्रय देने की अपेक्षा शिव देव के पुत्र उदय देव, जो उसका साला भी था, को ही अपना दूतक तथा युवराज (नोली, अभिलेख, 41) घोषित किया. ह्वेनत्सांग, जो 635 ई. में भारत भ्रमण के लिए आया था, भी संभवतः इसे लिच्छवि राजा कहकर प्रशंसा करता है. (बील, ट्रैवेल आफ ह्वेनत्सांग).
  58. राइट, हिस्ट्री आफ नेपाल, पृ. 130.
  59. नोली, अभिलेख, 24.
  60. प्र. कु. जायसवाल, वही, 234 तथा देखिए जिष्णुगुप्त का अभिलेख.
  61. देखिए, नोली, अभिलेख, 23, 24, 28 तथा 34 आदि.
  62. नोली, अभिलेख, 30,
  63. नोली, अभिलेख, 23.
  64. झा, लिच्छवि, पृ. 141.
  65. पाटन अभिलेख सं. 517 (नोली, अभिलेख 23) में अंशु वर्मन का केवल 'श्री सामन्त' के रूप में उल्लेख है और उस वर्ष का भदगांव अभिलेख (नोली, अभिलेख, 24) में उसे 'महासामंत' कहा गया है। इससे आभास मिलता है कि सं. 517 (595) में उसका पद सामंत से बढ़कर महासामंत हो गया.
  66. झा, लिच्छवि, पृ. 146.
  67. नोली, अभिलेख, 41 : इस अभिलेख में अंशु वर्मन केवल 'श्री' की उपाधि ग्रहण किए हुए है.
  68. इ. ए. 63, पृ. 422.
  69. हिंदू राजतंत्र, प्रथम खंड, (काशी, 1951) पृ. 132.
  70. नोली, अभिलेख, 41; क्लाजिकल ऐज़, पृ. 127.
  71. वही.
  72. वही.
  73. नोली, अभिलेख, 41.
  74. रेग्मी, वही, पृ. 639.
  75. झा, लिच्छवि, पृ. 145-46.

76. वही, पृ. 146; प्र. कु. जायसवाल, वही, पृ. 237 : जायसवाल का मत है कि संभवतः अंशु वर्मन का लिच्छवि कुल से संघर्ष हुआ जिसमें लिच्छवियों की पराजय हुई. फलतः उदय देव युवराज से अंशु वर्मन के लेखों में दूतक बनना पड़ा.
77. सं. 30 (नोली, अभिलेख, 40) में अंशु वर्मन ने 'कैलाशकूट भवन' की स्थापना कर वहां से शासन भी करने लगा था. यही नहीं सरकारी विज्ञप्तियों पर भी उसके हस्ताक्षर होते थे ऐसा शिव देव के लेखों से भी विदित है (नोली, अभिलेख, 63) इससे यह प्रमाणित होता है कि बिना उसकी जानकारी के कोई कार्य नहीं होता था.
78. नोली, अभिलेख, 35; लेवी, अभिलेख, 13.
79. झा, लिच्छवि, पृ. 146.
80. वही.
81. यद्यपि प्राप्त किसी भी अभिलेख में यह उपाधि उसके साथ लगी नहीं मिली है, फिर इसमें संदेह नहीं कि उसने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की जिसकी पुष्टि ध्रुव देव के पाटन अभिलेख (नोली, अभिलेख, 50, तथा उसके सिक्के (कैटलाग. आफ द क्वा. आफ नेपाल, पृ. 1) करते हैं (झा, लिच्छवि, पृ. 146, टिप्पणी 7).
82. कैटलाग आफ द क्वान्स आफ नेपाल, पृ. 1 : कुछ सिक्कों के मुख भाग पर 'श्रीअंशोः' तथा पृष्ठ भाग पर 'महाराजाधिराजस्य' अंकित है.
83. झा, लिच्छवि, पृ. 147.
84. वही, पृ. 147; झा ने बहुत वैज्ञानिक ढंग से इस दूसरे वर्ग के संवत को अंशु वर्मन द्वारा प्रचलित काना सिद्ध किया है (लिच्छवि, पृ. 121-124). उनके अनुसार अंशु वर्मन जब शिव देव प्रथम के शासन के 30वें वर्ष अपना एक अलग राज्य घाटी में स्थापित कर लिया तब उसने इस नए संवत का प्रयोग प्रारंभ किया लेकिन इसकी गणना अपने सामंत पद की नियुक्ति तिथि (574 ई.) से की. इस तरह यह तिथि 574 ई. से आरंभ होती है.
85. नोली, अभिलेख, 81.
86. ज. रा. ए. सो. 1880, पृ. 529.
87. नोली, अभिलेख, 50, 52-54.
88. ज. रा. ए. सो., 1880, पृ. 529.
89. झा, लिच्छवि, पृ. 150, टिप्पणी 3 : ध्रुव देव द्वारा उदय देव को सिंहासनाच्युत कर सिंहासन पर अधिकार करने का विवरण 'हिस्ट्री आफ तांग डायनस्टी' (ज. रा. ए. सो., 1880, पृ. 529) में मिलता है. यद्यपि उनके नामों का उल्लेख नहीं है, लेकिन ध्रुव देव के कुछ अभिलेख (नोली, अभिलेख, 50, 51, 52, 53, 54) मिल जाने से इसकी पुष्टि हो जाती है.
90. झा, लिच्छवि, पृ. 150
91. नोली, अभिलेख, 50 (द्वितीय वर्ग के अभिलेखों में प्रयुक्त सं. ईसवी सन् 574 में अंशु वर्मन द्वारा प्रचलित कराया गया था).
92. नोली, अभिलेख, 50-56.
93. वही; लेकिन यहां 'युवराज' का अभिप्राय उत्तराधिकारी से नहीं लिया जा सकता है क्योंकि किसी साक्ष्य से ज्ञात नहीं होता है कि विष्णुगुप्त सार्वभौम राजा था अतः युवराज केवल 'उच्चकुल में उत्पन्न' होने के कारण कहा गया है (झा, लिच्छवि, पृ. 152).
94. कैटलाग आफ द क्वान्स आफ नेपाल, पृ. 1 : सिक्के के ऊपर 'श्री जिष्णुगुप्तस्य' अंकित है.
95. नोली, अभिलेख, 50.
96. वही, अभिलेख, 51.

97. वही, अभिलेख, 55.
98. वही, अभिलेख, 62.
99. नोली, अभिलेख, 81.
100. नोली, अभिलेख, 67 : नोली इसे 69 पढ़ते हैं लेकिन महेशराज पंत ने (इतिहास संशोधन, वि. सं. 2019, सीरीज 55, पृ. 22-23) इसका सही पाठ 67 पढ़ा है.
101. झा, लिच्छवि, पृ. 152.
102. वही, पृ. 153.
103. नोली, अभिलेख, 56.
104. नोली, अभिलेख, 56, 57.
105. नोली, अभिलेख, 60, 62.
106. झा, लिच्छवि, पृ. 155.
107. नोली, अभिलेख 61 : 'सकलजन निरुपद्रवोपाय संविधाने कैतिसंतानों' उल्लेख है.
108. नोली, अभिलेख 61 :  
'अपरिमिताभिमत्र नृपति गुण कलापाविष्कृत मूर्तिरनव गोतावदात ज्ञान मयूखा पसारित सकल रिपु  
तिमिरसन्नइयो'.
109. यद्यपि ताड़ बिबरण में नरेन्द्र देव के पिता के नाम का उल्लेख नहीं है पर जयदेव द्वितीय के अभिलेख (नोली, अभिलेख, 81) में उसके पिता के नाम उदयदेव का उल्लेख है.
110. हिस्ट्री आफ तांग डायनेस्टी (ज. वि. रा. सो., 1880, पृ. 529-30); ज. वि. उ. रि. सो., 1936, पृ. 238 और आगे; लेवी, भाग 2, पृ. 164 और आगे; रेग्मी, वही, पृ. 177; झा लिच्छवि, पृ. 155.
111. वही.
112. नरेन्द्र देव के अभिलेखों में गुप्त सामंतों या अधिकारियों का नाम भी नहीं मिलता है. इससे विदित होता है कि गुप्त परिवार की राजनीति में दखलंदाजी समाप्त कर दी गई थी.
113. नोली, अभिलेख, 66-68, 70, 73.
114. ज. रा. ए. सो. 1880, पृ. 529-30; रेग्मी, वही, पृ. 177; क्लजिकल ऐज, पृ. 138-39; झा लिच्छवि, पृ. 156 : वार्षिक कर देने की पुष्टि नरेन्द्र देव के पुत्र शिव देव द्वितीय के लगनटोला अभिलेख तिथि 119 = 693 ई. (नोली, 77) से भी होती है.
115. झा लिच्छवि, पृ. 157; लेवी, भाग 2, पृ. 161.
116. ज. रा. ए. सो., 1880, पृ. 157.
117. झा, लिच्छवि, पृ. 157.
118. वही.
119. वही, पृ. 158.
120. वही, पृ. 159; कुछ विद्वान भृकुटी को अंशु वर्मन की पुत्री मानते हैं (राय-डायनटिक हिस्ट्री, भाग 1, पृ. 190).
121. झा, वही, पृ. 162; एडवांस हिस्ट्री, पृ. 162; द क्लासिकल ऐज, पृ. 137; रेग्मी, वही, पृ. 166-67.
122. नरेन्द्र देव के शासन की प्रारंभिक ज्ञात तिथि सं. 67 (नोली, अभिलेख 67) है. महेशराज पंत ने इसका सही पाठ 67 सं. किया है जबकि नोली ने 69 पढ़ा था (इतिहास संशोधन, वि. सं. 2019, सीरीज 55, पृ. 22-23) और अंतिम ज्ञात तिथि 103 है (नोली, अभि. 73). अर्थात् नरेन्द्र देव ने  $103 + 574 = 677$  ई. तक शासन किया.
123. इसका एक अभिलेख तिथि 109 का मिला है तथा अंतिम ज्ञात तिथि सं. 125 का है (नोली, अभि. 76 और 78) अर्थात् उसने 699 तक शासन किया.



124. यह संभवतः सं. 137 के पूर्व सिंहासन पर आया (नोली, अभि. 79) तथा शंकर देव की प्रथम ज्ञात तिथि सं. 189 (इतिहास प्रकाश. पार्ट 1, पृ. 159) है अतः इससे अनुमान लगा सकते हैं कि जयदेव द्वितीय का शासन  $(189 + 574) = 763$  ई. तक रहा होगा।
125. झा. लिच्छवि, पृ. 171.
126. शंकर देव की अंतिम ज्ञात तिथि सं. 207 है जिसमें विजय देव को दूतक के रूप में उल्लेख पाते हैं (अभि. पार्ट 5, पृ. 12-13), यह तिथि नेपाल के लिच्छवि राजाओं की अंतिम ज्ञात तिथि है।
127. द्रष्टव्य, 'लिच्छवियों की उत्पत्ति व जाति' का अध्याय।

## लिच्छवि गणराज्य का पतन

लिच्छवि गणराज्य का इतिहास समाप्त करने से पूर्व लिच्छवि गणराज्य के पतन के कारणों पर विचार कर लेना आवश्यक है। लिच्छवि गणराज्य के पतन के कारणों में प्रमुख कारण लिच्छवि गणराज्य का आकार में छोटा होना था। छोटा राज्य, चाहे कितना ही वैभवशाली क्यों न हो, अधिक समय तक अस्तित्व में नहीं रह पाता। पड़ोसी साम्राज्यवादी शक्तियाँ अवसर पाते ही उसे आत्मसात् कर लेती हैं।<sup>1</sup> लिच्छवि गणराज्य क्षेत्र की दृष्टि से अधिक विस्तृत नहीं था। अपनी सुरक्षा हेतु लिच्छवियों ने पड़ोसी गणराज्यों से संधि कर जो संयुक्त मोर्चा बनाया था, उन सबको मिलाकर भी उसका कुल विस्तार लंबाई में दो सौ मील ने अधिक नहीं था।<sup>2</sup> अतः जब संगठित तथा शक्तिशाली पड़ोसी मगधराज अजातशत्रु का उन पर आक्रमण हुआ तो लिच्छवि अधिक दिन तक उसका विरोध नहीं कर सके। लगभग एक वर्ष में ही अजातशत्रु के विरुद्ध बना संयुक्त मोर्चा टूट गया और इसके पश्चात् शीघ्र ही वज्जिसंघ भी टूट गया तथा वैशाली पर अजातशत्रु का अधिकार हो गया।<sup>3</sup> यद्यपि अजातशत्रु ने लिच्छवियों की गणतांत्रिक व्यवस्था नहीं समाप्त की, लेकिन उसने वज्जि संघ में सम्मिलित कुलों को इस प्रकार अलग-थलग कर दिया कि वे भविष्य में पुनः कभी संगठित नहीं हो सके।

वज्जि संघ के टूट जाने से लिच्छवि अपने छोटे-से क्षेत्र में सीमित रह गए। कौटिल्य अर्थशास्त्र<sup>4</sup> में वज्जि और लिच्छवि को तथा पतंजलि<sup>5</sup> के महाभाष्य में लिच्छवि और विदेह को अलग-अलग दर्शाया गया है, जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इस क्षेत्र के छोटे-छोटे गणराज्य पूर्व की तरह पुनः कभी संगठित नहीं हो पाए। यह स्थिति संभवतः मौर्य, शुंग काल तक बनी रही। परवर्ती शुंग राजाओं के दुर्बल शासन में संभवतः लिच्छवियों को पुनः शक्तिशाली होने का अवसर मिला और अपने अतीत के गौरव, वैभव तथा स्वतंत्रता को पुनः स्थापित करने में सफलता भी प्राप्त की। लेकिन शुंगों के पतन के उपरांत उठ रही साम्राज्यवादी शक्तियों से उन्हें अपनी स्वतंत्रता के लिए संभवतः खतरा पैदा हो रहा था। इसलिए लिच्छवियों ने अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए नवोदित गुप्त वंश से वैवाहिक संबंध स्थापित कर लिये।

गुप्त राजाओं से संबंध बना लेने से यद्यपि उनकी स्थिति सुदृढ़ हो गई, लेकिन

एक तरह ने लिच्छवि गुप्त राजाओं पर आश्रित हो गए। परिणाम यह हुआ कि महत्वाकांक्षी गुप्त राजाओं ने वैशाली में 'कुमारामात्य'<sup>6</sup> की व्यवस्था करके लिच्छवियों के गणराज्य को अपने साम्राज्य में आत्मसात कर लिया। अंततः गुप्तों के पतन के साथ लिच्छवि भी भारत के राजनीतिक मंच से लुप्त हो गए।

लिच्छवि गणराज्य के पतन का दूसरा कारण था—लिच्छवि गणराज्य में कुछ पदों का आनुवंशिक होना। इस प्रकार का उदाहरण हम सेनापति पद के लिए देखते हैं जब सेनापति खण्ड की मृत्यु के पश्चात् सेनापति पद के लिए उसके दो पुत्रों के मध्य ही चुनाव हुआ तथा खण्ड का छोटा पुत्र सिंह सेनापति पद के लिए चुना गया।<sup>7</sup> इसी प्रकार का उदाहरण आगे 'कुमार देवी' के विषय में भी देखते हैं।<sup>8</sup> जो संभवतः लिच्छवि गणराज्य की एकमात्र उत्तराधिकारिणी थी तथा जिसका विवाह चंद्रगुप्त प्रथम के साथ हुआ था। लिच्छवि गणराज्य में इस तरह की प्रवृत्ति विकसित हो जाने पर ही संभवतः गुप्त राजाओं ने वैशाली में 'कुमारामात्य'<sup>9</sup> की व्यवस्था की जिससे लिच्छवियों के स्वशासन में हस्तक्षेप हुआ। लेकिन इसका विरोध न वैशाली की जनता ने और न ही लिच्छवि गणराज्य के सदस्यों ने किया। संभवतः उनकी दृष्टि में अब गणतंत्र तथा राजतंत्र में कोई स्पष्ट अंतर नहीं<sup>10</sup> रह गया था। उन्होंने गणतंत्र की अपेक्षा हो सकता है कि राजतंत्रिक व्यवस्था में अधिक सुरक्षा अनुभव की हो।

पतन का तीसरा कारण लिच्छवि गणराज्य में प्रत्येक सदस्य को स्वयं को राजा कहने का अधिकार दिया जाना भी था। प्रारंभ में प्रत्येक सदस्य को राजा कहे जाने का आधार संभवतः समानता का सिद्धांत रहा हो, लेकिन बाद में यही गुण अवगुणों में परिवर्तित हो गया। सदस्य राजा प्रायः अपने समकक्ष राजा की बात मानने तथा नेतृत्व स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं होते थे<sup>11</sup>, क्योंकि इससे वे अपने को लघु अनुभव करते थे। ललित विस्तर<sup>12</sup> में विवरण मिलता है कि लिच्छवि गणराज्य के सदस्य अपने को प्रायः किसी राजा से छोटा मानने को तैयार नहीं थे। सभी 'मैं राजा हूँ : मैं राजा हूँ' कहते थे। महाभारत में भी गणराज्यों के इस दोष की ओर इंगित किया गया है।<sup>13</sup> संभवतः इसी दोष का लाभ उठाते हुए मगध राज्य का ब्राह्मण मंत्री वस्सकार लिच्छवि गणराज्य के सदस्यों में भेद उत्पन्न कर सका था। परिणामस्वरूप एक ऐसा समय भी आ गया जब लिच्छवियों ने एक-दूसरे की बात सुननी बंद कर दी। लिच्छवि गणराज्य में यह दोष संक्रामक रोग की तरह फैल गया। स्थिति यहां तक आ पहुंची कि जब संथागार में युद्ध की स्थिति पर विचार करने के लिए निमंत्रण का घंटा बजा तो समिति के सदस्यों ने उसे अनसुना कर दिया और संथागार में एकत्र नहीं हुए।<sup>14</sup> इसी का लाभ उठाकर अजातशत्रु ने सरलता से वैशाली पर अधिकार कर लिया।

लिच्छवि गणराज्य के पतन का एक अन्य कारण उसका शत्रु राज्य के षड्यंत्र का शिकार हो जाना था।<sup>15</sup> गणराज्य के सदस्यों से कोई भी बात गुप्त<sup>16</sup> नहीं रहने पाती थी। इसका लाभ उठाकर अजातशत्रु ने अपना विश्वसनीय व्यक्ति वस्सकार को वैशाली



भेजा तथा बड़ी सरलता से उनमें भेद पैदा करने और आवश्यक सूचनाएं प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की।

गणराज्य के सदस्यों में मतभेद या द्वेष केवल शत्रु राज्यों द्वारा ही नहीं उत्पन्न किया जाता था, बल्कि कभी-कभी गणराज्यों के सदस्यों द्वारा लिए गए निर्णयों के कारण भी मतभेद या द्वेष उत्पन्न हो जाता था। निर्णयों से अप्रसन्न हो जाने वाला सदस्य कभी-कभी राज्य छोड़कर शत्रुराज्य में जाकर शरण ले लेता था। इस तरह का उदाहरण गोप नामक व्यक्ति था जो अपने कनिष्ठ भ्राता सिंह के सेनापति चुने जाने पर वैशाली छोड़कर मगध चला गया था।<sup>17</sup> ऐसी स्थिति में असंभव नहीं कि बहुत सारी महत्वपूर्ण सूचनाएं लिच्छवियों के शत्रु राजा विंबसार को उसने दी हों।

लिच्छवियों में व्यक्तिगत प्रतिद्वंद्विता एवं शक्ति पिपासा भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान थी। कौटिल्य सरीखे राजनीतिज्ञ वस्सकार ने इस बात को अच्छी तरह से समझ लिया था। उसने लिच्छवियों को नष्ट करने के लिए द्वेष और विरोध का बीजारोपण कर उन्हें दुर्बल बनाया।<sup>18</sup> संभवतः यह प्राचीन भारत के सभी गणराज्यों की दुर्बलता रही है। महाभारत में भी गणराज्यों के विषय में कहा गया है कि गणराज्य में बाह्य शत्रुओं के भय की अपेक्षा वास्तविक भय आंतरिक मतभेद अथवा वैमनस्य का होता है।<sup>19</sup>

लिच्छवि गणराज्य के पतन का एक और कारण उनकी शासन पद्धति का गणतांत्रिक से राजतांत्रिक व्यवस्था में परिवर्तित होना भी था। अजातशत्रु से पराजित होने के पश्चात् वैशाली के लिच्छवि दीर्घ काल तक राजतंत्रात्मक साम्राज्यों के अंतर्गत गणराज्य का संचालन करते रहे। इस दीर्घ काल में लिच्छवि राजतांत्रिक व्यवस्था से अच्छी तरह परिचित हो गए होंगे, और संभवतः गुप्तों के अभ्युदय के पूर्व उनका झुकाव भी इस ओर हो गया था। इसी अवधि में वैशाली के लिच्छवियों की एक शाखा नेपाल में राजतांत्रिक व्यवस्था में शासन कर रही थी।<sup>20</sup> इस प्रकार लिच्छवियों की शासन प्रणाली गणतांत्रिक से राजतांत्रिक व्यवस्था में परिवर्तित होने लगी थी। इसीलिए संभवतः जिन गुप्त सम्राटों ने वैशाली में 'कुमारामात्य' की नियुक्ति की तो वैशाली के लिच्छवियों ने कोई विरोध नहीं किया बल्कि इस नई शासन व्यवस्था को व्यावहारिक मान लिया। संभवतः इसी अवधि में वैशाली से कुछ लिच्छवि परिवार जीवन-यापन के लिए धीरे-धीरे नेपाल पलायन कर गए जिससे वैशाली में लिच्छवियों की संख्या न्यून हो गई। जब भारत में गुप्तों का अपकर्ष हो गया, उस समय वैशाली में संभवतः इतने कम लिच्छवि रह गए कि वैशाली में पुनः लिच्छवि राज्य स्थापित कर पाना व्यवहारिक नहीं रह गया।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि लिच्छवि गणराज्य के पतन के लिए उपरोक्त कारण उत्तरदायी थे। संभवतः गुप्तकाल में कुमारामात्य के शासन के अंतर्गत लिच्छवि सुख-शांति का अनुभव कर रहे थे, और उन्होंने अब राजनीति में रुचि लेने की अपेक्षा कृषि तथा व्यापारिक कार्यों में रुचि लेना अच्छा समझा। इसलिए गुप्तों के पतन

के पश्चात् पुनः राजनीति में आना लिच्छवियों ने पसंद नहीं किया। यही कारण था कि जब 635 ई. में ह्वेनत्सांग<sup>21</sup> वैशाली नगरी देखने आया तो नगर का अधिकांश भाग खण्डहर हो चुका था। वैशाली क्षेत्र के अवशिष्ट लिच्छवि अन्य जातियों में घुलमिल गए जिससे आज उसकी अलग पहचान करना कठिन है। राहुल सांकृत्यायन<sup>22</sup> ने इनको पहचानने का प्रयास किया है, लेकिन अनेक विद्वान् उनसे सहमत नहीं हैं।<sup>23</sup> राहुल सांकृत्यायन के अनुसार वर्तमान जेथरिया ब्राह्मण (भूमिहार समुदाय का एक उपवर्ग) जो वैशाली क्षेत्र में बहुसंख्या में विद्यमान हैं और जिनका गोत्र कश्यप है, वज्जि संघ में सम्मिलित ज्ञातृकुल के वंशज हैं। उनके अनुसार ज्ञातृक कालांतर में (ज्ञातृक से ज्ञातृ = ज्ञात्र = जतर = जथरितृया ।) जेथरिया बन गया।

### संदर्भ तथा टिप्पणियां

1. जायसवाल, हिंदू राज्यतंत्र (हिंदी अनुवाद), पृ. 238; हिंदू पालिटी, पृ. 167.
2. द्रष्टव्य, प्रशासन का अध्याय.
3. द्रष्टव्य, 'मगध साम्राज्य तथा लिच्छवि' का अध्याय.
4. अर्थशास्त्र, 11.1.5-6 : लिच्छविक, वजिक, मल्लक—राजशब्दोपजीविन :
5. महाभाष्य, 4.1.168.
6. द्रष्टव्य, टिप्पणी 9.
7. द्रष्टव्य, टिप्पणी, 17.
8. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति (प्रथम सं.), पृ. 9.
9. द्रष्टव्य, 'गुप्तकाल में लिच्छवि' अध्याय.
10. अल्तेकर प्राचीन भारतीय शासन पद्धति (प्रथम सं.), पृ. 90.
11. अल्तेकर, स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन एंशियेण्ट इंडिया, पृ. 378-79.
12. ललितविस्तर में कहा गया है कि लिच्छवि परस्पर एक-दूसरे को छोटा-बड़ा नहीं मानते थे और सब 'मैं राजा हूँ' कहते थे. (ललित-विस्तर iii 23; प्राणनाथ, वही, पृ. 130; झा, लिच्छवि, पृ. 75.
13. मिथिला, पृ. 117.
14. जायसवाल, हिंदू राज्यतंत्र (हिंदी अनुवाद), पृ. 229; ज. ए. सो. बं. 1838, पृ. 994-05.
15. वही, पृ. 240.
16. परमात्मा शरण, प्राचीन भारत में राजनैतिक विचार एवं संस्थाएं (पंचम सं. मेरठ, 1979), पृ. 388.
17. द्रष्टव्य, 'बौद्धकालीन राजनीतिक इतिहास' अध्याय.
18. जायसवाल, हिंदू राज्यतंत्र, पृ. 240.
19. वही, पृ. 241.
20. द्रष्टव्य, 'गुप्त काल में नेपाल के लिच्छवि' अध्याय.
21. उपेन्द्र ठाकुर, मिथिला, पृ. 162.
22. राहुल सांकृत्यायन, बुद्धचर्या, पृ. 104, टिप्पणी.
23. योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 113.

## सामाजिक इतिहास

### सामाजिक व्यवस्था

भारतवर्ष में पूर्व वैदिक युग में जातियों का उल्लेख नहीं मिलता है, यद्यपि वर्ण व्यवस्था का संकेत ऋग्वेद में अवश्य मिलता है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में लिखा है कि एक वर्ग सूर्योदय होने तक उच्च आदर्श पर पहुँचने के लिए, द्वितीय उच्च महिमा प्राप्त करने के लिए, तृतीय लाभ प्राप्त करने के लिए और चतुर्थ परिश्रम करके अपना जीवन व्यतीत करने के लिए है।<sup>1</sup> वैदिक युग का वर्ण चतुष्टय कब जाति के रूप में रूढ़ हो गया, कहा नहीं जा सकता। भगवान बुद्ध के समय तक आते-आते यह जाति भेद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। जातियों के अनुसार ऊँच-नीच की भावना अति प्रबल हो गई थी। समाज चार प्रमुख जातियों पुनः उपजातियों में विभाजित था। और हर कोई स्वयं को अन्य से श्रेष्ठ मानता था, ब्राह्मण क्षत्रिय से और क्षत्रिय ब्राह्मण से।<sup>2</sup> जातियों का विभाजन तत्कालीन समाज में आसानी से देखा जा सकता है क्योंकि लोग अपनी जाति के अनुसार अलग-अलग ग्रामों में बसते थे। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण ग्राम<sup>3</sup>, क्षत्रिय ग्राम<sup>4</sup>, बनिया ग्राम<sup>5</sup>, निषाद ग्राम<sup>6</sup>, चाण्डाल ग्राम<sup>7</sup> इत्यादि। सूत्रकृतांग<sup>8</sup> में क्षत्रियों की निम्नलिखित उपजातियों या कुल का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—उग्र, भोग, अक्षविक (इक्ष्वाकु), ज्ञातृक, कौरव और लिच्छवि।

वर्ण व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था के संबंध में अनेक विद्वानों ने विशेष चर्चाएं की हैं। अतः उनका यहां सविस्तार वर्णन पृष्ठपेषण मात्र होगा। अतः अन्य सामाजिक सांस्कृतिक पहलुओं पर आगे विमर्श किया जाएगा। लिच्छवियों में वैदिक समाज जैसी रूढ़ियां नहीं थीं। बौद्ध तथा जैन धर्म के प्रभाव में आकर लिच्छवियों ने प्रगतिशील सिद्धांतों को सबसे आगे बढ़कर अपनाया। रूढ़िवादी संस्कारों को न स्वीकार करने के कारण ही स्मृति के लेखाकारों ने रुष्ट होकर उन्हें 'व्रात्य'<sup>9</sup> के अंतर्गत रखा।

भगवान बुद्ध जातिवाद के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने कर्म को प्रमुख माना। जो जैसा कर्म करता है वही उसका वर्ग या जाति है। वे कहते थे कि यदि कोई ब्राह्मण नीच कर्म करता है तो क्या उस अवस्था में भी उसके लिए स्वर्ग में स्थान सुरक्षित रहेगा?



कोई चाण्डाल कुल में जन्म पाकर भी यदि पुण्य कर्मों द्वारा जीवन की सार्थकता सिद्ध करता है तो वह स्वर्ग का भागी क्यों नहीं हो सकता।<sup>10</sup> भगवान बुद्ध ने कहा—मनुष्य न तो जन्म से चाण्डाल होता है और न ही ब्राह्मण।<sup>11</sup> अंततोगत्वा मानव मात्र में समता है, विभेद तो बाह्य एवं कृत्रिम है। उद्दालक-जातक में ब्राह्मण के मुख से यह बात कहलाई गई है कि क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चाण्डाल तथा पुक्कुस सभी में सत्कर्मों द्वारा निर्वाण प्राप्त करने की समान क्षमता होती है।<sup>12</sup>

भगवान बुद्ध द्वारा कर्म प्रधानता देने के प्रचार का प्रभाव तत्कालीन समाज में बहुत पड़ा। यही कारण है कि हम निषिद्ध कर्मों में रत एक लंबी सूची ब्राह्मणों में पाते हैं। दश ब्राह्मण जातक में दस प्रकार के ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है। चिकित्सक, परिचारक, निग्गाहक (जो कुछ पाए बिना पिंड नहीं छोड़ते), लकड़हारे, वणिक, अंबष्ठ तथा वैश्य (कृषि व व्यापार में संलग्न), गोघातक, गोप, निषाद, लुब्धक और वे जो स्नान काल में राजा की सेवा करते थे।<sup>13</sup> अन्य जातक कथाओं में भी चिकित्सक<sup>14</sup>, कृषक<sup>15</sup>, वणिक<sup>16</sup>, वड्ढकि<sup>17</sup>, अजपाल<sup>18</sup>, धनुर्धारी<sup>19</sup> तथा निषाद<sup>20</sup> ब्राह्मणों के उल्लेख हैं। संभव है, जातक कथाओं के ब्राह्मण संबंधी और विवरणों में अतिरंजना हो, लेकिन यह तथ्य तो स्वीकार करना ही होगा कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों का गरीब वर्ग अपनी आजीविका के लिए परिस्थितिवश विभिन्न प्रकार के कर्मों को स्वीकार करता था। बौद्ध समुदाय में शूद्र वर्ग के विद्वान व्यक्तियों को बौद्ध संघ में सम्मानजनक दर्जा प्राप्त है, जैसे उपालि को (जो नापित पुत्र था, बुद्ध का परम प्रिय शिष्य था तथा जो बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् संघ का अध्यक्ष बना)<sup>21</sup>। क्षत्रिय कर्म करने के अतिरिक्त अन्य कर्म में संलग्न होने के कारण ब्राह्मणों ने मनुस्मृति<sup>22</sup> में लिच्छवियों को 'व्रात्य' के अंतर्गत रखा, जबकि लिच्छवि महात्मा बुद्ध के प्रशंसक बने रहे, यह सर्वविदित है।

## शूद्र की स्थिति

भगवान बुद्ध द्वारा शूद्र वर्ग को अन्य उच्च जातियों के समान दर्जा दिलाने के लिए अत्यधिक प्रचार के होते हुए भी समाज में शूद्र का स्थान निम्न ही रहा, यह तत्कालीन समाज के वैज्ञानिक विश्लेषण से सिद्ध हो जाता है। यहां तक कि कहीं-कहीं भगवान बुद्ध भी उन सामाजिक मान्यताओं को मान्यता देने के लिए बाध्य होते दिखाई पड़ते हैं।<sup>23</sup> संभवतः इसका कारण समाज में उच्च जातियों का अत्यधिक दबाव होना रहा हो। इसका आभास हमें महात्मा बुद्ध के मुख से कही शृगाल जातक की कथा में मिलता है।<sup>24</sup>

पालि पिटक एवं धर्मसूत्रों में अनेक उपजातियों को शूद्र माना गया है। यद्यपि इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता कि किन विशिष्ट जातियों को शूद्र कहा जाता था, किंतु जिस रूप में जातियों की सामाजिक अवस्था का वर्णन किया गया है, उससे स्पष्ट

हो जाता है कि उन्हें शूद्र वर्ण के अंतर्गत माना जाता था। शूद्र प्रमुखतः सेवक और मजदूर के रूप में कार्य करते थे। आपस्तंब धर्मसूत्र से इस बात का आभास मिलता है कि ऐसे शूद्रों के पास इतनी भू-संपत्ति नहीं रहती थी कि वे राज्य को उसका कर देते<sup>25</sup>। इन्हें भृतकों और कमजोर कहा जाता था।<sup>26</sup> जातकों से ज्ञात होता है कि मजदूर (कर्मकर) की मजदूरी प्रतिदिन डेढ़ मापक थी।<sup>27</sup> पतंजलि महाभाष्य के अनुसार उसे मात्र चार मापक मिलते थे<sup>28</sup> कौटिल्य अर्थशास्त्र में खेतिहर मजदूर की मजदूरी निर्धारित की गई थी, भोजन के साथ 2/3 मापक।<sup>29</sup> अतः उसकी मजदूरी (दैनिक) दो जनों के भोजन के मूल्य के लगभग पड़ती थी। भृतकों की आय साधारण अवश्य थी, परंतु उन्हें समाज में हेय दृष्टि ने नहीं देखा जाता था, क्योंकि यदि ऐसा होता तो आपात्काल में उच्च वर्ण के सदस्य इस कर्म का आश्रय नहीं लेते। एक जातक कथा में ब्राह्मण कन्याओं के जीवन निर्वाह के लिए भक्ति का आश्रय लेने का उल्लेख मिलता है।<sup>30</sup>

शूद्र वर्ण का एक वर्ग शिल्पियों का था। तकनीकी विकास के साथ-साथ धीरे-धीरे नवीन पेशेवर जातियों का उद्भव हो रहा था। पेशे और शिल्प कालांतर में पैतृक होते गए और उसमें लगे लोगों की विशिष्ट जातियां बनती गईं। इस प्रकार जो शिल्पी जातियां बन गईं उनमें बुनकर (पेशकार, तंतुवाय)<sup>31</sup>, बटई (तच्छक)<sup>32</sup>, लोहार (कम्मार=कर्मार)<sup>33</sup>, दंतकार<sup>34</sup>, कुम्हार (कुंभकार)<sup>35</sup> आदि के उल्लेख मिलते हैं। इन जातियों में सजातीय विवाह की प्रथा प्रचलित थी प्रत्येक जाति का एक प्रमुख भी होने लगा जो जेठक कहलाया जैसे मालाकार जेठक<sup>36</sup>, बड़ढकि जेठक<sup>37</sup>, कम्मार जेठक<sup>38</sup> इत्यादि। कुंभकार, लोहार, दंतकार, बटई आदि जातियां अलग-अलग ग्रामों में वास करने लगीं। जाति के आधार पर गांवों के नामकरण होने लगे, जैसे कुंभकार ग्राम<sup>39</sup>, कम्मार ग्राम<sup>40</sup>, बड़कि ग्राम<sup>41</sup> इत्यादि। वज्जि क्षेत्र में इनकी संख्या भी काफी थी। विनय पिटक<sup>42</sup> में राज्य की कला पर विशेष प्रकाश डाला गया है। ग्रामों में इनका घर छप्पर व मिट्टी से बना होता था।<sup>43</sup>

अनेक शूद्र जातियां ऐसी भी थीं जो असंगठित, अव्यवस्थित तथा भ्रमणशील थीं। इनका प्रमुख कर्म था, जनता का मनोरंजन। इस प्रकार की जातियों में नट<sup>44</sup>, लंघ नटक<sup>45</sup> (करिश्मा दिखाने वाले), माया कार<sup>46</sup>, सपेरे<sup>47</sup> (अहिगुण्डिक), नेवला पालने वाले<sup>48</sup>, गंधर्व<sup>49</sup> (गायक-वादक), भेरी वादन करने वाले<sup>50</sup>, शंख वादक<sup>51</sup>, सर्पदंश का विष दूर करने वाले (विसवेज्जा)<sup>52</sup> आदि का उल्लेख बौद्ध पिटक में है। वैशाली में सारी रात होने वाले उत्सवों में इनके भाग लेने आदि का स्पष्ट उल्लेख जातक-कथाओं<sup>53</sup> में मिलता है। इस घुमक्कड़ों की अपने कर्मों के अनुसार विशिष्ट जातियां बन गईं। अतः हमें भेरी वादक कुल<sup>54</sup>, शंख वादक कुल<sup>55</sup>, नाटक कुल<sup>56</sup>, गंधर्व कुल<sup>57</sup> इत्यादि के उल्लेख मिलते हैं। इसी प्रकार की और भी कई जातियां थीं परंतु उसका जीवन अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित था। इस वर्ग की जातियों में गोपालक, पशुपालक,



तृणहारक (घसिहारे). लकड़हारे, वन कम्मिक (वनो में काम करने वाले), आराम गोपक (उपवनों की रखवाली करने वाले) आदि के उल्लेख मिलते हैं<sup>58</sup>। इन जातियों का जीवन मुख्यतया ग्रामीण होता था। सादा जीवन उन्हें अधिक प्रिय था। शहरों के ऊँचे-ऊँचे भवनों को देखकर इनके मन में ईर्ष्या नहीं उठती थी। ये अपने कच्चे मकानों में ही खुश थे। मज्झिम निकाय से ज्ञात होता है, शिल्पी जातियों के समान ये जातियाँ भी अलग-अलग ग्रामों में बसने लगी थीं।

## हीन जातियाँ

पालि पिटक चांडाल, नेसार (निषाद), पुक्कुस (पोल्कस), वेण तथा रथकार इन पाँच जातियों को हीन जाति परिगणित किया गया है।<sup>59</sup> हीन जातियों में चांडालों की अवस्था सर्वाधिक शोचनीय थी। अभागे चांडालों को समाज में सर्वत्र तिरस्कृत होना पड़ता और ये बेचारे नगर सीमा ने हटकर अपने घर बनाते थे।<sup>60</sup> चांडाल अस्पृश्य थे। उन्हें नगर में प्रवेश का अधिकार प्राप्त नहीं था। इसलिए वे नगर प्रवेश द्वार के निकट ही अपनी कला का प्रदर्शन कर जीविकोपार्जन करते थे।<sup>61</sup> शृगाल जातक में चांडाल की तुलना शृगाल से की गई है। चांडाल इतने अपवित्र समझे जाते थे कि उनके स्पर्श ने हवा भी दूषित हो जाती। इसके संबंध में एक कथा मिलती है, जिस मार्ग से एक ब्राह्मण जा रहा था, दूसरा राहगीर भी उसी मार्ग से जा रहा था। ब्राह्मण ने अपने साथी राहगीर से परिचय पूछा। राहगीर ने उत्तर दिया, 'मैं चांडाल हूँ'। हवा का रुख चांडाल से होकर ब्राह्मण की ओर था। चांडाल के स्पर्श से दूषित वायु ने मेरे शरीर को दूषित कर दिया, ऐसा सोचकर ब्राह्मण दूसरी ओर लपकते हुए बोला, 'अरे अशुभ चांडाल, दूसरी ओर जाओ'।<sup>62</sup> जातकों में चांडालों का बड़ा ही मार्मिक वर्णन पढ़ने को मिलता है। मातंग जातक में एक श्रेष्ठ पुत्री की दृष्टि एक चांडाल पर पड़ गई तो उसने अपने नेत्रों को सुगंधित जल से धोकर पवित्र किया। श्रेष्ठ पुत्री के साथ चलने वाले लोगों ने मातंग की लातों से पिटाई कर उसे चेतना शून्य कर दिया।<sup>63</sup> इसी प्रकार की एक अन्य कहानी चित्र संभूत जातक में मिलती है।<sup>64</sup>

जातक कथाओं में वर्णित चांडाल जाति की हीनावस्था की पुष्टि धर्म शाखा से भी होती है। आपस्तंब चांडाल को अस्पृश्य और आदर्शनीय मानते हैं।<sup>65</sup> मनु कहते हैं, यदि कोई चांडाल देख रहा हो तो उस समय ब्राह्मण को भोजन नहीं करना चाहिए।<sup>66</sup> मनुस्मृति में कहा गया है कि चांडालों की बस्तियाँ ग्राम से बाहर हों और वे केवल मिट्टी के पात्र काम में लाएं, कुत्ते तथा गधे उनकी संपत्ति हो। वे मृतकों के वस्त्र धारण करें, लोहे के आभूषण पहनें, टूटे बर्तनों में भोजन करें और यत्रतत्र घूमते रहें।<sup>67</sup> मनु के अनुसार इनका मुख्य कार्य मृतकों को जलाना और जिनके सगे-संबंधी न हों, उनके शव ढोना था।<sup>68</sup> सड़कों पर झाड़ू लगाना और जीर्ण वस्तुओं के उद्धार के काम भी उनसे लिए जाते थे।<sup>69</sup> अपराधियों को कोड़े लगाने या अंगच्छेद करने जैसे कामों के लिए भी



वे नियुक्त किए जाते थे।<sup>70</sup> मृत्यु दण्ड प्राप्त अपराधी की हत्या का काम भी चांडालों से लिया जाता था।<sup>71</sup> चांडाल लोग प्रायः लाल या पीले रंग के कपड़े पहना करते थे।<sup>72</sup> अधोवस्त्र प्रायः फटे-चीथड़े होते और शरीर के ऊपरी भाग का दुपट्टा लाल होता।<sup>73</sup> वे अपना सिर पीले कपड़े से बांधा करते थे।<sup>74</sup> चांडालों के बालक-बालिकाएं जब चीथड़ों में लिपटे तथा हाथ में भिक्षा पात्र लिए<sup>75</sup> हुए नगर में प्रवेश करते तो उन्हें देखकर ही दया आ जाती होगी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि चांडाल समाज में तिरस्कृत जाति थी। परंतु कभी-कभी ज्ञानी पुरुष के चांडाल पुत्र होने पर भी उसे समाज में समुचित प्रतिष्ठा मिल जाती थी, विशेषकर बौद्ध समुदाय में। जातक कथाओं में कुछ ऐसे ही सत्पुरुषों के वर्णन मिलते हैं। मातंग थे तो चांडाल, पर वे तपोबल से पूजनीय बन गए, ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों ने भी उनकी सेवा की।<sup>76</sup> एक ज्ञानी चांडाल के प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ रहने पर ब्राह्मण को चांडाल के चरणों में सिर झुकाना पड़ा।<sup>77</sup> एक अन्य ब्राह्मण एक चांडाल महापुरुष का शिष्य हो गया और उसने अपने गुरु की सब प्रकार से सेवा-सुश्रूषा की।<sup>78</sup> लेकिन फिर भी जातकों के इन विवरणों के आधार पर यह भी नहीं माना जा सकता है कि विद्वान चांडालों को समाज अच्छी नजर से देखता रहा होगा, इसे हम केवल अपवाद स्वरूप ले सकते हैं। सामान्यतया चांडाल तो अभागे ही रहे।

चांडालों की भांति निषाद भी नगर के बाहर ही रहा करते थे। इसका प्रमुख पेशा जंगलों में विचरण और आखेट था।<sup>79</sup> मनुस्मृति के अनुसार इनका कर्म मछली मारना था।<sup>80</sup> संभवतः अपनी कर्म-प्रकृति के फलस्वरूप इनका स्थान भी समाज में हीन हो गया।<sup>81</sup> वैशाली में बहुत संख्या में तालाब थे।<sup>82</sup> निश्चय ही वैशाली में धीवरों व निषादों की आबादी रही होगी।

पुक्कुस का स्थान जातियों की सूची में दूसरा है।<sup>83</sup> मनु के अनुसार इनका उद्भव शूद्र नारी और निषाद पुरुष के समागम से हुआ।<sup>84</sup> यह धारणा उस काल की है जब अंतर्राजातीय विवाहों को सर्वथा निषेध माना जाने लगा। संभवतः पुक्कुस जाति भी चांडाल के समान तिरस्कृत रही। पुक्कुसों को भी निम्न स्तर के कर्म में नियुक्त किया जाता था। संभवतः सफाई का काम ही इसका मुख्य पेशा था, क्योंकि इनके द्वारा मंदिरों एवं प्रासादों से मुरझाए फूलों को स्थानांतरित कराए जाने के उल्लेख मिलते हैं।<sup>85</sup>

वेण और रथकार को हीन जातियों की श्रेणी में स्थान देने का कारण भी उसके कर्मों के प्रति समाज में हीन भावना का पनपना ही है। वे बांस और लकड़ी को वस्तु बनाने का काम करते थे, जिसे निम्न कोटि का काम माना जाता था। पालि पिटकों में अनेक प्रकार के कामों का उल्लेख निम्न स्तर के कर्म के रूप में हुआ है। नलकार (टोकरी बनाने वाला)<sup>86</sup>, वेणुकार (बांसुरी निर्माता)<sup>87</sup>, पेशकार (बुनकर)<sup>88</sup>, नापित (या नहापित)<sup>89</sup>, सर्पदंश का विष दूर करने वाले (विसवेज्जा)<sup>90</sup>, दर्जी (तुण्णाकम्मका)<sup>91</sup>, सुरा

विक्रयी (वारुणि वाणिजा)<sup>92</sup>, तथा नाविक—आदि को<sup>93</sup> हीन कर्म करने वाला कहा गया है। कसाई (ओरबिक), चिड़ीमार (शकुनिक), शिकारी (लदक = लुब्धक), मछुआ (मच्छघातक) आदि भी इसी श्रेणी में आते हैं।<sup>94</sup> क्योंकि इनके धर्म खूनी कहलाए गए हैं।

इस प्रकार अनेक जातियां अपने कर्म की प्रकृति के कारण हीन कहलाई और समाज में उनका स्थान निम्न माना गया। किंतु इनमें से जिन सदस्यों को राजकुल में नियुक्त किया गया, जैसे राज कुंभकार, राज पट्टान नलकार, राज मालाकार<sup>95</sup>, राज नापित उन्हें राजा से मित्र जैसा व्यवहार मिल जाता था। जिससे ये समाज में सम्मानजनक स्थान पा जाते थे।<sup>96</sup> कभी-कभी तो राज नापित को जीविकोपार्जन के लिए संपूर्ण ग्राम ही मिल जाता था।<sup>97</sup>

## दास प्रथा

वर्ण व्यवस्था के समान ही दास प्रथा भी भारतीय समाज में अति प्राचीन काल से ही प्रचलित है।<sup>98</sup> यद्यपि अधिकतर शूद्र वर्ग से दास बनाए जाते थे,<sup>99</sup> लेकिन इसके साथ हम क्षत्रिय, ब्राह्मण और उच्च वर्ण के व्यक्तियों को भी दासत्व स्वीकार करते देखते हैं।<sup>100</sup> बौद्ध विवरणों<sup>101</sup> से ज्ञात होता है कि पूर्ण कश्यप और अजित केस कंबली भी अपने पूर्व जन्म में दास ही थे।

पालि पिटक तथा समकालीन संस्कृत साहित्य में ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में दासों के क्रय-विक्रय तथा दान सामान्य बातें थीं। दास-दासी के क्रय-विक्रय के अनेक उदाहरण मिलते हैं। नन्द जातक<sup>102</sup> में एक सद्धिविहारिक (बौद्ध विहार का अंतेवासी) की तुलना शत क्रीत दास से की गई। सत्तुभक्त जातक<sup>103</sup> के अनुसार जब एक ब्राह्मण से भिक्षा मांगकर सात सौ कार्षापण उपार्जित कर लिया, तो उसने सोचा—‘इतनी मुद्राओं से दास-दासियां खरीदी जा सकती हैं।’ परंतु इस प्रसंग में दास-दासियों की संख्या का उल्लेख न होने से एक दास अथवा दासी के निश्चित मूल्य का पता नहीं चलता। लेकिन जैसा कि नन्द जातक में दास के लिए शत मुद्रा क्रीत शब्द प्रयुक्त हुआ है उससे यही अनुमान लगाया जा सकता है कि साधारणतया एक दास या दासी का मूल्य उस समय एक सौ कार्षापण रहा होगा। विनय पिटक में तीन प्रकार के दासों का वर्णन है :

1. घर की दासी से उत्पन्न पुत्र।
2. पैतृक संपत्ति के रूप में उत्तराधिकार में प्राप्त।
3. दान या खरीदा हुआ।

विदुर पंडित जातक में चार प्रकार के दासों का उल्लेख मिलता है :

1. दासी पुत्र।
2. भोजन आदि के लिए दास कर्म स्वीकार करना (स्वेच्छा से)।

3. जो दूसरों को मालिक की तरह पहचानते हैं ।

4. जो विक्रय किया गया हो ।

इसके अतिरिक्त अन्य जातकों के माध्यम से अन्य प्रकार के दासों का पता चलता है :

1. युद्ध में बंदी किया हुआ ।<sup>104</sup>

2. भय से दासता स्वीकार करने वाला ।<sup>105</sup>

3. ऋण न चुका पाने पर बना दास ।<sup>106</sup>

4. अपराध करने पर दण्ड स्वरूप बनाया गया दास ।

5. जुए में हारने पर शर्त का पैसा न चुका पाने पर निश्चित अवधि तक के लिए बना दास ।<sup>107</sup>

6. मृत्यु दण्ड से बचने के लिए अनेक अपराधी दास बन जाते थे ।

जातकों में दास कम्मकार शब्द ऐसे दासों के लिए प्रयुक्त हुआ है जो भोजन के लिए दास बनना स्वीकार करते थे ।<sup>108</sup>

मनुस्मृति में सात प्रकार के दासों का उल्लेख है ।<sup>109</sup> इसी तरह नारद स्मृति<sup>110</sup> में पंद्रह तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र<sup>111</sup> में पांच प्रकार के दासों का उल्लेख मिलता है । नारद स्मृति<sup>112</sup> राय देता है कि स्वामी अपने दासों को किसी अन्य के यहां बंधक भी रख सकता है । इसी प्रकार ऋण का भुगतान करने की अवधि तक भी ऋण ग्रस्त व्यक्ति को दास बनाया जा सकता है ।<sup>113</sup>

दासों के इस वर्गीकरण के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि युद्ध, धनाभाव, दुर्भिक्ष तथा ऋणग्रस्तता दास प्रथा के उद्भव के मूल कारण थे । चुल्ल नारद जातक<sup>114</sup> में गांव के निवासी डाकुओं द्वारा लुटते, पकड़े और दास बनाए जाते हुए पाए जाते हैं ।

‘दास’ संज्ञा पराधीनता का द्योतक है और पराधीन व्यक्ति के सुख-दुःख का विधाता उसका स्वामी होता है, जो अपने उग्र अथवा मृदु स्वभाव के अनुसार अधीनस्थ दासों के प्रति व्यवहार करते हैं । जातकों से ज्ञात होता है कि दास कभी-कभी अपने स्वामी से बहुत अच्छा व्यवहार पाते थे । कालकंणी जातक<sup>115</sup>, गंगमाल जातक<sup>116</sup> और उरग जातक<sup>117</sup> से ज्ञात होता है कि दासों के साथ परिवार के सदस्य की भांति व्यवहार किया जाता था । नंद<sup>118</sup> तथा नानछंद जातक<sup>119</sup> में मालिकों व दासों के बीच अच्छा संबंध देखने को मिलता है । कटाहक जातक से पता चलता है कि कुछ लोग दासों को अपने पुत्र के साथ अध्ययन और शिल्पों की शिक्षा भी देते थे । परिवार के अन्य सदस्य की भांति ही दास व्रत-उपवास रखते और धर्म संबंधी उपदेश सुनते थे । कुछ दास अपनी स्वामिभक्ति के कारण स्वामी के बहुत विश्वसनीय बन जाते थे । उनके परामर्श का आदर किया जाता था ।<sup>120</sup>

बौद्ध जातकों में स्वामी पुत्रों तथा दास कन्याओं के बीच प्रेम संबंधी वर्णन मिलते हैं । इसी तरह स्वामी पुत्री व दास पुत्र के प्रेम संबंधी विवरण भी मिलते हैं । प्रश्न उठता



है कि इस प्रकार के प्रेम की इति किस तरह होती होगी। कौटिल्य का मत है कि यदि किसी दासी पुत्री को अपने स्वामी से गर्भ रह जाए तो उस अवस्था में वह अपनी दासता से मुक्त मानी जाएगी।<sup>121</sup> इस विधान से प्रतीत होता है कि संभवतः दासी कन्या अपने स्वामी की पत्नी बन जाती होगी। इस बात का आभास हमें जातक कथाओं से भी मिलता है।<sup>122</sup> चुल्लक श्रेष्ठि जातक में श्रेष्ठि कन्या अपने दास के साथ भागकर विवाह कर लेती है।<sup>123</sup> उस दास से उसे दो पुत्र हुए। थोड़ा बड़े होने पर पुत्र ने अपने नाना के घर राजगृह जाने की जिद की।

राजगृह पहुँचने पर न तो श्रेष्ठि पुत्री को और न ही दास को श्रेष्ठि के सम्मुख जाने का साहस हुआ। अंत में श्रेष्ठि ने अपने दौहित्रों को तो रख लिया, किंतु पुत्री और जामाता को पर्याप्त धन देकर विदा कर दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि वस्तुतः तत्कालीन समाज ऐसे संबंधों को अच्छी दृष्टि ने नहीं देखता था, यह सब उच्च वर्ण के स्वामी को अनिच्छापूर्वक स्वीकार करना पड़ता था।

उपरोक्त उद्धरणों से यह अर्थ कदापि नहीं निकाला जा सकता है कि स्वामी हमेशा दासों के साथ अच्छा व्यवहार करते थे। नाम सिद्ध जातक<sup>124</sup> से ज्ञात होता है कि स्वामी दासी पुत्री धनपाली को अकारण पीटते हैं। वह दूसरे के यहां भाड़े पर कार्य करने के लिए भेजी जाती है। एक अन्य जातक<sup>125</sup> में उल्लेख है कि एक दासी जो प्रतिदिन स्वामी के लिए भाड़े पर कार्य करने के लिए निकलती थी, जब वह बिना कुछ कमाए घर लौटती तो उसे कोड़े से पीटा जाता था।

उपरोक्त जातक कथाओं ने यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कुछ धर्म प्रधान कुलों के स्वामी को छोड़कर सामान्यतः स्वामी का उनके साथ व्यवहार अच्छा नहीं था। तत्कालीन समाज सुधारक भगवान बुद्ध इस वर्ग की दयनीय स्थिति और समाज की परिस्थिति देखते हुए इनकी दशा सुधारने के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहे। भगवान बुद्ध ने इसके लिए कुछ निर्देश दिए, दास को उसके सामर्थ्य के अनुसार कार्य देना चाहिए। उन्हें वस्त्र और भोजन पूरा देना चाहिए। बीमारी में स्वामी को उनकी सेवा-सुश्रूषा करनी चाहिए। उनके प्रति स्वामी व स्वामिनी का व्यवहार अच्छा होना चाहिए। इसी प्रकार भगवान बुद्ध ने दासों को निर्देश दिया, दास को स्वामी से पहले सुबह उठना चाहिए, और स्वामी के सोने के बाद सोना चाहिए। अपना कार्य अच्छी तरह करना चाहिए। जो कुछ मिले उसी में संतुष्ट रहना चाहिए। उसे सदा अपने स्वामी की प्रशंसा करनी चाहिए। दासों को यह समझकर कि दासता उसके पूर्वजन्मों के कर्मों का फल है, अपनी वर्तमान स्थिति को धैर्यपूर्वक सहना चाहिए। दास इस जन्म में अपने स्वामी को अपनी सेवाओं से संतुष्ट करके ही स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है।<sup>126</sup>

इस प्रकार भगवान बुद्ध ने स्वामी और दास के कर्तव्यों की विवेचना करते हुए सामाजिक असंतोष को समाप्त करने के लिए प्रयास किए। लेकिन उनकी शिक्षा से

स्वामी वर्ग के रवैये में कोई परिवर्तन नहीं आया। दासों पर स्वामियों द्वारा क्रूर से क्रूर अत्याचार के उदाहरण हमें जातकों में खूब मिलते हैं। परिस्थितियों को देखते हुए भगवान बुद्ध में भी इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि वे इस कोढ़ को मिटाने के लिए इस व्यवस्था के विरुद्ध आवाज उठाते। उन्होंने अपने संघ में प्रवेश के लिए यह नियम बना रखा था कि यदि कोई दास प्रवज्या ग्रहण कर भिक्षु बन जाए तो वह दासता से मुक्ति पा लेगा।<sup>127</sup> लेकिन जब इस नियम से दास लोग स्वामी के घर से भागकर दासता से मुक्ति पाने लगे तो उच्च वर्ग ने भगवान बुद्ध से विरोध के रूप में शिकायत की। इस पर भगवान बुद्ध ने दास को (अपने दासत्व से मुक्त होने के पूर्व) संघ में प्रवेश पाने पर रोक लगा दी।<sup>128</sup> लेकिन संभवतः बहुत से स्वामी भगवान बुद्ध के अनुयायी हो जाने पर स्वयं अपने दासों को दासत्व से मुक्त कर बौद्ध संघ में सम्मिलित होने की प्रेरणा देते रहे होंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दासों को कोई संवैधानिक अधिकार प्राप्त नहीं था। स्वामी उन्हें मार सकता था, पिटवा सकता था, जला भी सकता था। कुछ स्वामिनियां अपनी दासियों को रस्सी से पीटती थीं। स्वामी के आदेश की अवहेलना करने पर दास को पीटा जाता था तथा नाक, हाथ, पांव आदि भी काटे जा सकते थे, भागने पर स्वामी उन्हें पकड़वा कर कड़ा दण्ड दे सकता था। स्वामी उन्हें दूसरे क्रूर व्यक्ति को भी दे सकता था। उन्हें जान से मार सकता था। स्वामी के दुर्व्यवहार से तंग आकर कुछ दास भागने का प्रयत्न करते, कुछ आत्महत्या करते और कुछ स्वामी के विरुद्ध विद्रोह<sup>129</sup> करते, किंतु दासों का कोई अपना संगठन न होने के कारण उनके स्वामी सरलता से दासों का विद्रोह दबा देता था।<sup>130</sup> दासों को स्वामी की संपत्ति के रूप में माना जाता था। वह दासियों से यौन आनंद<sup>131</sup> लेने के लिए भी स्वतंत्र था। लिच्छवि भी उस समय की इस बुराई से मुक्त नहीं थे। वे दासियों के पुत्रों को एक स्वतंत्र आदमी के रूप में पहचानने (मान्यता देने) को तैयार नहीं हुए थे। वासव खतिया को शाक्य परिवार के सदस्य के रूप में केवल इसलिए नहीं स्वीकारा गया क्योंकि वह कुमार महानाम से उत्पन्न एक दासी नागमुण्डा की पुत्री थी।<sup>132</sup>

दासों के कार्य की प्रकृति, उनकी योग्यता और स्वामी की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती थी। समृद्ध स्वामी के योग्य दास कोषाध्यक्ष भांडारिक तथा निजी सचिव आदि का कार्य भार ग्रहण करते देखे जाते हैं।<sup>133</sup> लेकिन ऐसे दासों की संख्या न्यून थी। साधारणतया दास-दासियों को घर के छोटे कार्यों में लगाया जाता था। जैसे—रसोइए का कार्य (पाचक कर्म)<sup>134</sup>, जलाशय से जल लाना<sup>135</sup>, बर्तन धोना<sup>136</sup>, अन्नागार की रखवाली करना व धूप में धान सुखाना<sup>137</sup>, वस्त्र बुनना व धोने का कार्य<sup>138</sup> तथा खेतों में कार्य करना<sup>139</sup> आदि। दासियों का मुख्य कार्य स्वामिनी की सेवा करना<sup>140</sup> था। खेतों में अपने स्वामी का भोजन पहुँचाना<sup>141</sup>, घर में स्वामी-स्वामिनी के भोजन करते समय तत्संबंधी सभी आवश्यक<sup>142</sup> कार्य भी दासियां



करते थीं। ये कार्य ऐसे नहीं थे जिसे हीन कहा जाए। कौटिल्य<sup>143</sup> ने दास-दासियों से गर्हित कर्म करने का निषेध किया है। उन्होंने दास-दासियों से मुर्दा ढोने, मलमूत्र साफ कराने, उच्छिष्ट भोजन की सफाई और नग्न स्नान के समय दासी से काम लेने आदि का निषेध किया है।

दास को दासत्व से मुक्त होने का भी विवरण मिलता है। पालि पिटक से ज्ञात होता है कि दास द्वारा संन्यास स्वीकार कर लेने से, अथवा अपने स्वामी की इच्छा से, अथवा अपने स्वामी को मुक्ति शुल्क चुका देने से दासत्व का अंत हो जाता था। दीघ निकाय<sup>144</sup> में कहा गया है कि यदि कोई दास संन्यासी हो जाता है तो वह अभिवादन और उच्चासन तथा भिक्षु जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं, यथा चीवर, पिण्ड पात्र, आसन आदि का अधिकारी माना जाएगा। सोणनंद जातक<sup>145</sup> में उल्लेख है कि एक ब्राह्मण गृह पति ने प्रवज्या ग्रहण करने के समय अपने सभी दासों को मुक्त कर दिया। बेस्संतर जातक<sup>146</sup> के अनुसार शुल्क देकर दासत्व का अंत संभव था। कौटिल्य के अनुसार जो दण्ड स्वरूप अथवा युद्ध बंदी होने के कारण दास बनाए जाते थे वे शुल्क देकर मुक्त हो सकते थे। क्रीतदास को उतना ही शुल्क देना पड़ता था जितने में उसके स्वामी ने उसे क्रय किया हो। यदि किसी को अर्थदण्ड चुकाने की असफलता के कारण दास बनना पड़ता हो, तो अर्थ दण्ड की राशि का भुगतान कर देने पर उसे मुक्ति मिल जाती थी। यदि दास स्वामी मुक्ति-शुल्क पाकर भी किसी दास को मुक्त नहीं करता था तो उसे द्वादशपण दण्ड का भागी माना जाता था। यदि दासी को अपने स्वामी से संतान लाभ हो जाता तो माता और संतान दोनों स्वतंत्र माने जाते।<sup>147</sup> मज्झिम निकाय के रघुपाल सूत्र ने ज्ञात होता है कि अपने स्वामी को कोई सुखद संवाद देने से भी कभी-कभी दास को पुरस्कार स्वरूप मुक्त कर दिया जाता था।<sup>148</sup> दासों को मुक्त करने की प्रथा का उल्लेख नारद स्मृति<sup>149</sup> में भी मिलता है जिससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज में दास मोक्ष की परंपरा लंबे समय तक प्रचलित रही।

## नारी की स्थिति

बौद्ध काल में जातिगत भावनाएं प्रबल हो गई थीं। सामान्यतया यह ध्यान रखा जाता था कि अंतर्जातीय विवाह द्वारा किसी कुल का रक्त दूषित न हो। बौद्ध पिटक वर्णित विवाहों में संबद्ध पक्षों को सदा समान जाति तथा कुल का बतलाया गया है—ब्राह्मण<sup>150</sup>, क्षत्रिय<sup>151</sup>, श्रेष्ठि<sup>152</sup>, भांडारिक<sup>153</sup> आदि अपनी संतान का विवाह स्वजाति के अंतर्गत समान सामाजिक प्रतिष्ठा एवं आर्थिक स्थिति के कुलों में संपन्न करते थे। वैशाली लिच्छवियों ने यह नियम बनाया था कि 'प्रथम श्रेणी (वर्ग) में उत्पन्न कन्या का विवाह केवल प्रथम श्रेणी के परिवारों में हो सकता है, मध्य श्रेणी (वर्ग) में उत्पन्न कन्या का विवाह प्रथम और मध्यम श्रेणी (वर्ग) में हो सकता है, लेकिन



तृतीय श्रेणी (वर्ग) में उत्पन्न कन्या का विवाह किसी भी श्रेणी (वर्ग) में हो सकता था।<sup>154</sup>

इस तरह निम्न कुलोत्पन्न कन्या को तो स्वीकार किया जा सकता था लेकिन उच्च कुलोत्पन्न कन्या का विवाह निम्न वर्ग में उत्पन्न वर से नहीं हो सकता था। इस तरह का विचार एक जातक<sup>155</sup> में देखने को मिलता है, 'लिच्छवि कन्या पर एक नापित पुत्र के आसक्त होने पर उसका पिता उसे समझाता है, 'पुत्र, तुम हीन जन्मा नापित पुत्र हो, और अनुरक्त हो गए हो, जाति संपन्ना क्षत्रिय दुहिता लिच्छवि कुमारी पर। यह तुम्हारे लिए उचित नहीं है, मैं तुम्हारे लिए सजातीय तथा सगोत्र कन्या का प्रबंध करूंगा।' बुद्ध भी इस कथा को सुनकर 'शृगाल को शेरनी पर आसक्त होने की कथा शिष्यों को सुनाकर' नापित पुत्र का उपहास करते हैं।<sup>156</sup> कच्छप जातक की एक गाथा से भी यही अर्थ झलकता है कि प्रायः असगोत्र विवाह को मान्यता नहीं मिलती थी।<sup>157</sup> लेकिन कहीं-कहीं इसका अपवाद भी हमें देखने को मिलता है जैसे काटाहक जातक और कलंडुक जातक में उच्च घराने की कन्याओं के विवाह निम्न कुलीन दास पुत्रों से होने की चर्चा पाई जाती है जो दास के साथ घर से भागकर देश की सीमा पार कर स्वतंत्र जीवन आरंभ करती दिखाई गई हैं।

लिच्छवि स्वस्थ यौन संबंध का काफी सम्मान करते थे। शक्ति द्वारा नारी या कन्या पर प्रभाव डालने की अनुमति नहीं थी।<sup>158</sup> रक्त शुद्धता के लिए लिच्छवियों ने दो विशेष अधिनियम बनाए थे। प्रथम यह कि किसी कन्या का विवाह उससे नहीं हो सकता जो वैशाली का नागरिक नहीं है।<sup>159</sup> चौरवस्तु में दी गई कहानी के अनुसार विवसार का विवाह सिंह सेनापति की छोटी पुत्री से न होकर इसी कारण बड़ी पुत्री से संपन्न हुआ, क्योंकि बड़ी पुत्री का जन्म वैशाली में नहीं हुआ था।<sup>160</sup> द्वितीय अधिनियम 'स्त्री रत्न' से संबंधित था।<sup>161</sup> इस अधिनियम के अनुसार 'स्त्री रत्न' को वैवाहिक जीवन भोग करने की अनुमति नहीं थी। वह समाज को अलंकृत करने या खुश करने के लिए होती थी, उसे 'नगर शोभिनी' की उपाधि से विभूषित किया जाता था। वह राष्ट्र की सबसे मूल्यवान निधियों में से एक होती थी जो किसी एक विशेष व्यक्ति की संपत्ति नहीं हो सकती थी, उसे एक उच्च सामाजिक पद या वैभव में रखा जाता था। वह संपूर्ण गण से संबंधित होती थी। लोगों में एकता और देश की स्वतंत्रता सुरक्षित रखना उसका पुनीत कर्तव्य माना जाता था।<sup>162</sup> लिच्छवियों को विश्वास था कि 'नगर शोभिनी' अपने सौंदर्य की मोहिनी शक्ति द्वारा लोगों में यह भावना बाह्य आक्रमण के संकट काल में भी बनाए रख सकेगी। मातृभूमि की रक्षा के लिए उससे व्यक्तिगत इच्छा की त्याग की आशा की जाती थी। संभवतः इस महान त्याग के कारण ही नगर शोभिनी 'अंबपाली' बुद्ध द्वारा भी घृणा नहीं पाती है जबकि दूसरी ओर उनकी धारणा थी कि एक भिक्षु के लिए नारी संपर्क चीते के मुख में जाने के समान है।<sup>163</sup>

‘स्त्री रत्न’ जैसे अधिनियम बनाने के पीछे क्या उद्देश्य या कारण था, स्पष्ट नहीं कहा जा सकता है। प्रगतिशील विचारों के लिच्छवियों के समाज में इस तरह के नियम का होना, कलंक ही कहा जा सकता है। प्राचीन भारत के अन्य किसी भी समाज में इस तरह के नियम या परंपरा का उल्लेख हम नहीं पाते हैं। इस नियम के कारण अति सुंदर कन्याओं के माता-पिता का दुःखी होना स्वाभाविक है, जो अपनी पुत्री को विवाहित देखने की इच्छा रखते थे। इस तरह हम अंबपाली के पिता महानाम को चिंताग्रस्त पाते हैं।<sup>164</sup> अपने पिता को हर समय सोच में डूबा देखकर एक दिन अंबपाली ने पिता की चिंता का कारण जानना चाहा तो उदासमना महानाम ने उसे परिस्थितियों से अवगत कराते हुए बताया, ‘पुत्री, गणों ने एक अधिनियम बना रखा है कि वैशाली की अति सुंदर कन्याएं गणों द्वारा मनोरंजन करने योग्य ही हैं, और तुम उस तरह की कन्याओं में से एक हो।’<sup>165</sup>

वैशालियों के समाज में एक पत्नीत्व को सर्वोत्तम माना जाता था। लेकिन समृद्ध और शौकीन समाज में बहुपत्नीत्व के उदाहरण भी मिलते हैं। अंगुत्तर निकाय में चार सुंदर पत्नियों वाले एक सुखी सम्पन्न गृहस्थ का वर्णन मिलता है।<sup>166</sup> वज्जियों के देश के हस्ति ग्राम के श्रेष्ठ उगग गृहपति की चार सुंदर पत्नियां थीं।<sup>167</sup> इसी कथा में उगग गृहपति के द्वारा गृह त्याग कर भगवान बुद्ध की शरण जाने पर उसकी चौथी पत्नी को पुनर्विवाह करते पाते हैं जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि लिच्छवियों ने नारी को विशेष परिस्थिति में पुनर्विवाह करने का अधिकार दे रखा था<sup>168</sup> परंतु सामान्य तौर पर इसे आदर्श नहीं माना जाता था।

पालि पिटकों से ज्ञात होता है कि विवाह संबंध निर्धारण में मध्यस्थता तथा पारस्परिक वार्ता का आश्रय लिया जाता था, जिसका उपक्रम होता था वर के अभिवाहक द्वारा। वर के माता-पिता अपने पुत्र के लिए उपयुक्त कन्या की तलाश में अपने आदमियों को भेजा करते थे।<sup>169</sup> इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि वर स्वयं कन्या को पसंद करता था।<sup>170</sup> किंतु कई बार उपयुक्त कन्या न मिलने पर लिच्छवि कुमार लिच्छवि गणों को उसके लिए अनुकूल पत्नी चुनाव करने के लिए अनुरोध भी करते थे, उन्हीं के माध्यम से विवाह संबंध बनते थे।<sup>171</sup> प्रेम विवाह का भी उदाहरण लिच्छवियों में देखने को मिलता है।<sup>172</sup> चुल्लक सेट्टि जातक (4) में श्रेष्ठ कन्या अपने दास के साथ भागकर प्रेम विवाह कर लेती है। दासी अपने मालिक के लिए पुत्र उत्पन्न करती पाई जाती है, लेकिन इन दासियों के बच्चे स्वतंत्रता नहीं पा सकते थे।<sup>173</sup> बाद में इस विषय पर कौटिल्य ने अपना मत रखा कि यदि किसी दासी पुत्री को अपने स्वामी से गर्भ रह जाए तो उस अवस्था में वह अपनी दासता से मुक्त मानी जाएगी।<sup>174</sup> इस विधान से प्रतीत होता है कि संभवतः दासी कन्या अपने स्वामी की पत्नी बन जाती होगी।

लिच्छवियों में भाई-बहन के परस्पर विवाह करने की प्रथा प्रचलित थी या नहीं



यह विवादास्पद है। बौद्ध ग्रंथों में वर्णन मिलता है कि शाक्यवंशियों ने वंश रक्षा के लिए अपनी भगिनियों (बहनों) से विवाह किया,<sup>175</sup> परंतु यह आपत्कालीन व्यवस्था थी, कोई मान्य चलन नहीं। लिच्छवियों की उत्पत्ति कथा, जो अड्डकथा के परमथज्योतिका कथा<sup>176</sup> में वर्णित है, में भाई-बहन का विवाह हुआ है। हित नारायण झा ने इससे निष्कर्ष निकाला है कि उनमें भी यह प्रथा प्रचलित थी।<sup>177</sup> लेकिन हमें उत्पत्ति कथा के आधार पर यह निष्कर्ष निकालने में कठिनाई होती है। इस तरह का उदाहरण ऋग्वेद में यम और यमी के आख्यान में भी मिलता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी विवाह की दार्शनिक व्याख्या दी गई है, आरंभ में पुरुष एक था। तत्पश्चात् उसने अपने को दो भागों में विभाजित किया। इस प्रकार नर-नारी की सृष्टि का प्रारंभ हुआ।<sup>178</sup> क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वैदिक समाज में भाई-बहन में विवाह होने की प्रथा थी? कतिपय जातकों में भाई-बहन में विवाह के उदाहरण दिए गए हैं।<sup>179a</sup> परंतु ये उदाहरण केवल राजकुलों के हैं और संबंधित भाई-बहन न तो एक पिता के संतान हैं और न एक माता की। एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता जिसमें एक ही माता-पिता से उत्पन्न भाई-बहन में विवाह हुआ हो। अतः इस विषय में यही कहा जा सकता है कि सभ्य लिच्छवि समाज ने इस प्रथा को कभी प्रश्रय नहीं दिया होगा। प्राचीन भारत में यदि भाई-बहन के रिश्ते में विवाह करने की अनुमति दी गई तो मात्र मातुल दुहिता के साथ। बौद्ध लेखक तथा ब्राह्मण धर्म शास्त्रों के लेखक दोनों मातुल दुहिता का पाणिग्रहण करने की कथा का उल्लेख करते हैं। भगवान महावीर के अग्रज नंदि वर्द्धन ने अपनी मातुल दुहिता लिच्छवि राजा चेटक की पुत्री ज्येष्ठा के साथ विवाह किया था।<sup>179b</sup> जातक कथाओं<sup>180</sup> में मातुल दुहिता के संग विवाह के प्रसंगों के कई उदाहरण देखने में आते हैं। इससे केवल यही निष्कर्ष निकलता है कि लिच्छवियों में भी अधिक से अधिक दुहिता के संग विवाह होने की प्रथा रही होगी।

लिच्छवियों में बाल-विवाह का एक भी उदाहरण नहीं मिलता, लेकिन बेमेल विवाह के उदाहरण मिलते हैं। वृद्ध बिंबसार का विवाह सिंह सेनापति की बड़ी पुत्री से संपन्न होता हम देखते हैं।<sup>181</sup> लेकिन यह राजकुल की बात थी। सामान्य जन में ऐसे विवाह को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था, बेस्संतर जातक (547) में एक नवयुवती से गांव की महिलाओं ने कहा 'निःसंदेह तुम्हारे माता-पिता तुम्हारे शत्रु थे, तभी तो उन्होंने तुम्हें वृद्ध के लगे बांध दिया।' इससे प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में बेमेल विवाह का उपहास किया जाता था। सुत्त निपात में भी वृद्ध विवाह का निषेध किया गया है।<sup>182</sup>

लड़कियों के विवाह की सर्वोत्तम आयु 16 वर्ष मानी जाती थी। थेरी गाथा के अनुसार इसिदासी का पूर्व जन्म में सोलह वर्ष की आयु में विवाह हुआ था।<sup>183</sup> पुनः धम्मदिन्ना, कुण्डलकेश आदि भिक्षुणियों के कुंवारी अवस्था में प्रव्रज्या ग्रहण करने के



उल्लेख मिलते हैं।<sup>184</sup> ये भिक्षुणियां लगभग 16 वर्ष अथवा विवेक बुद्धि के उदय होने की वय तक अविवाहित रही होंगी। ऐसा अनुमान लगाना अनुचित नहीं होगा। जातकों में कहीं वर की आयु भी 16 वर्ष बतलाई गई है।<sup>185</sup>

इसी तरह लिच्छवियों के समाज में नारी के सतीत्व पर बड़ी कठोरता से ध्यान रखा जाता था। सतीत्व का उल्लंघन करने पर पति द्वारा कठोरतम दण्ड तथा मौत का भी प्रावधान था।<sup>186</sup> इसका यह अर्थ नहीं कि सतीत्व का उल्लंघन होता ही नहीं था। उनमें भी व्यभिचार के उदाहरण देखने को मिलते हैं। संभवतः इस दोष को एक सीमा तक बांधने के प्रयत्न में लिच्छवि लोग वेश्यागमन तथा मनोरंजन को बुरा नहीं मानते थे। युवा लिच्छवि खुलेआम उत्सवों की रात्रि को बागों में गणिकाओं के साथ मनोरंजन करते थे।<sup>187</sup> लेकिन ऐसी स्थिति में यह कैसे आशा की जा सकती है कि उनकी युवा पत्नियां घर में व्यर्थ बैठी रहती हों। पतियों द्वारा इस प्रकार की उपेक्षा के प्रतिकार में नारियां कभी-कभी अपने लिए अवैध प्रेमी की तलाश कर उसके साथ रंग-रेलियां मनाती देखी जाती हैं।<sup>188</sup> इस प्रकार की एक लिच्छवि पत्नी, पति द्वारा बार-बार चेतावनी देने पर भी सैकड़ों बार व्यभिचार कराना स्वीकारती है।<sup>189</sup> पुरुष सत्तात्मक लिच्छवि समाज ने इस दोष को रोकने के लिए जांच का अधिकार पुरुषों को दे रखा था।<sup>190</sup> इस जांच से बचने के लिए दुष्ट चरित्रा नारी कभी-कभी प्रवज्या लेकर भिक्षुणी बन जाती थी। ऐसी ही एक दुष्ट चरित्रा पत्नी को जान से मार डालने की अनुमति गण से पाने का प्रयत्न एक व्यक्ति करता है, तब पत्नी घर से भागकर प्रवज्या ग्रहण कर स्वयं को बचा लेती है।<sup>191</sup> संभवतः ऐसी ही स्त्रियों के प्रति भिक्षुणियों के मन में विरक्ति पैदा करने के लिए बौद्ध लेखकों ने धर्मग्रंथों व अधिकांश जातक कथाओं में नारियों का वर्णन दुराचारिणी के रूप में किया है। एक जातक कथा में वर्णित है कि स्त्री स्वभाव को समझ पाना असंभव है, उनका चित्त चंचल होता है, जैसा कि वानर का।<sup>192</sup> पति के दुश्चरित्र होने पर या पत्नी के दुश्चरित्र होने पर परिवार में कलह पैदा हो जाती थी तो ऐसी स्थिति में दोनों ओर से संबंध विच्छेद करने का प्रावधान बौद्ध तथा ब्राह्मण दोनों व्यवस्थाकारों ने किया है। वशिष्ठ<sup>193</sup> ने चरित्रहीन पति को त्यागकर स्त्री को पुनर्विवाह करने की अनुमति प्रदान की है। कौटिल्य<sup>191</sup> ने पति-पत्नी में निरंतर वैमनस्य रहने पर दोनों पक्षों की सहमति से विवाह विच्छेद का विधान किया है। लेकिन अक्सर संभ्रांत परिवारों में पति-पत्नी में कटुता होने या दुश्चरित्र का पता लग जाने पर भी जल्दी संबंध विच्छेद नहीं होता था।<sup>195</sup>

## गणिकाएं

वेश्यावृत्ति लिच्छवि समाज में एक वैध संस्था थी, जैसा कि ऊपर के विवरण से आभास मिलता है। वेश्या गमन को हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था। महान

नैतिकता वादी भगवान बुद्ध ने भी वैशाली की प्रसिद्ध गणिका अंबपाली का आतिथ्य स्वीकार करते हुए अनादर भाव नहीं उपजा।<sup>196</sup> गणिकाएं सर्वदा बराबरी के आधार पर लोगों से मिलती थीं।<sup>197</sup> वैशाली वासी अपने नगर की गणिका के सौंदर्य पर गर्व करते थे।<sup>198</sup> गणिकाओं के माध्यम से जनमानस का सौंदर्यानुराग प्रबुद्ध एवं परितुष्ट होता था। वे महोत्सवों पर राजप्रासाद में लोकरंजनार्थ संगीत-नृत्य के हृदयग्राही प्रदर्शन करती थीं। अंबपाली को प्रति रात्रि पचास कार्पापण की आय होती थी जो इतनी अधिक थी कि वह ठाट-बाट से जीवन व्यतीत कर सकती थी।<sup>199</sup> अपने वैभव का प्रदर्शन करने के लिए अंबपाली अपने प्रशंसकों के साथ गाना-बजाना करते शोभा यात्रा में निकलती थी।<sup>200</sup> उसने कभी अनुभव नहीं किया कि वह किसी की दासी या रखैल है। विवाहित न होते हुए भी वह सामान्य नारी से बढ़कर सम्मानजनक जीवन व्यतीत करती थी। मगध का राजा बिंबसार उसके रूप सौंदर्य पर इतना मुग्ध हो गया था कि लिच्छवियों से चल रहे युद्ध को बीच में छोड़कर एक रात चुपके से अंबपाली से मिलने चला गया, जहां उसने सात दिन तक गुप्त वास किया। उसी समय के संसर्ग से अंबपाली से बाद में एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम अभय था।<sup>201</sup>

लेकिन यह चित्र एक राज गणिका का है जिसे समाज में इतना आदर और यश मिला। क्या यही बात एक सामान्य गणिका के विषय में कही जा सकती है? प्रायः समाज चांदी-सोने के थोड़े से टुकड़ों के बदले शरीर-विक्रय के कर्म को हेय दृष्टि से देखता था। इसे नीच कर्म की संज्ञा दी गई।<sup>202</sup> नीच घर अथवा गणिका घर<sup>203</sup> और दुरित्य कुंभदासी<sup>204</sup> सदृश शब्दों से यही अर्थ प्रतिभासित होता है कि वेश्या को भद्र समाज नहीं मिलता था।

## शिक्षा

लिच्छवि शिक्षा में काफी रुचि रखते थे। युवा लिच्छवियों को काफी दूरस्थ स्थानों पर भी पढ़ने के लिए भेजा जाता था। महालि<sup>205</sup> नामक लिच्छवि तक्षशिला<sup>206</sup> जैसे विश्व प्रसिद्ध शिक्षा केंद्र में शिक्षा ग्रहण करने गया था। शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत वैशाली लौटकर उसने पांच सौ लिच्छवियों को शिक्षा दी। फिर ये पांच सौ लिच्छवि शिक्षा प्राप्त कर पुनः देश के विभिन्न भागों में पढ़ाने के लिए गए।<sup>207</sup> शिक्षा का प्रचार सारे देश में था। वैशाली भी उनमें से एक प्रमुख शिक्षा का केंद्र था।<sup>208</sup> लिच्छवि लोग विहारों तथा संघारामों में भगवान बुद्ध का प्रवचन सुनने के लिए एकत्र होते थे।<sup>209</sup>

लिच्छवि धर्म और दर्शन पर बहस करने में इतना अधिक दिलचस्पी लेते थे कि उन्होंने भगवान बुद्ध के लिए कूटागार ही बनवा दी थी।<sup>210</sup> बौद्ध सिद्धि विहारिक साधारणतया विनय, गाथाओं, जातक कथाओं, प्रार्थनाओं, मूलतत्त्वों और बौद्ध दर्शन में



प्रवीण होते थे, और इस पर भगवान बुद्ध से तर्क करते थे। हेनत्सांग ने भी लिच्छवियों की शिक्षा में गहरी रुचि लेने की प्रशंसा की है।<sup>211</sup>

नारी भी शिक्षा क्षेत्र में पीछे नहीं रही। नाच-गाना<sup>212</sup> उनमें काफी उच्चकोटि का था। गणिकाएं उनमें विशेष रुचि लेती थीं। चित्रकला<sup>213</sup> उनका दूसरा प्रिय विषय था।

लिच्छवियों में शिल्प ज्ञान भी काफी विकसित था।<sup>214</sup> भिक्षु भी भवन निर्माण का निरीक्षण कार्य संभालते थे जो कि भवन निर्माण में विशिष्ट ज्ञान प्राप्त किए बिना संभव नहीं था। उनमें से कुछ अपने को श्रेष्ठ अभियंता समझते थे। वैशाली के सुंदर भवनों का जातकों में विवरण पढ़कर सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि लिच्छवियों में कितने श्रेष्ठ भवन निर्माणकर्ता थे। उन्होंने न केवल विशाल, सुंदर भवन, स्तंभ, चैत्य, विहार व मंदिरों<sup>215</sup> आदि से नगर को सजाया, बल्कि खूबसूरत पार्कों व बगीचों<sup>216</sup> तथा तालाबों<sup>217</sup> से भी वैशाली नगरी को सजाया था। सात हजार सात सौ सात राजाओं में प्रत्येक के पास एक-एक भवन<sup>218</sup> के साथ खूबसूरत पार्क व बगीचा तथा कमल के सरोवर<sup>219</sup> थे। इस तरह लिच्छवि न सिर्फ योद्धा ही थे बल्कि वे बहुत अच्छे शिल्पकार भी थे।

शौकीन प्रवृत्ति के लिच्छवियों के भड़कीले सुंदर वस्त्रों<sup>220</sup> के लिए वैशाली में निपुण दर्जियों का होना आवश्यक था। स्वर्ण, मणि, तथा बहुमूल्य पत्थरों<sup>221</sup> का बड़े पैमाने पर उपयोग करने की इच्छा रखने वाले लिच्छवियों की इच्छा पूर्ति करने के लिए अनुभवी स्वर्णकारों और जौहरियों का वैशाली में होना आवश्यक था। वे लोगों के लिए न केवल आभूषण तैयार करते थे, बल्कि रथों, हाथियों, भवनों तथा पालकियों की साज-सज्जा के लिए भी आवश्यक वस्तुएं तैयार करते थे।<sup>222</sup>

इसी तरह लिच्छवि धनुर्विद्या<sup>223</sup> सीखने में भी रुचि लेते थे जिसका प्रयोग युद्ध में शत्रुओं से लड़ने तथा आखेट करने में होता था। वे श्रेष्ठ आखेटक<sup>224</sup> थे और साधारण कुत्तों<sup>225</sup> की सहायता से महावन में आखेट करते थे। हाथियों को अभ्यास कराना निम्नकोटि के कार्यों में गिना जाता था। वज्जि पुत्रों का एक बहुत विलक्षण परिवार वैशाली में इस कार्य में लगा था।<sup>226</sup> सुंदर बैलगाड़ियों, पालकियों, धनुष तथा तीरों आदि को बनाने के लिए दक्ष और अनुभवी शिल्पियों की मांग रही होगी जो बिना किसी उचित प्रशिक्षण के संभव नहीं था।

ललित विस्तर से ज्ञात होता है कि बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा देने वाली छोटी पाठशाला को 'लिपिशाला' कहते थे। इनके दारकाचार्य बालकों को लिखना व गिनती गिनना सिखाते थे। उनमें कन्याएं भी शिक्षा पाती थीं।

महावग्ग में दो प्रकार के अध्यापकों का उल्लेख है : उपाध्याय और आचार्य<sup>227</sup>। बुद्ध घोष की टीकानुसार 'उपाध्याय' वे अध्यापक कहलाते थे जो 10 वर्ष या इससे अधिक काल से भिक्षु रहे हों और 'आचार्य' वे जो 6 वर्ष या उससे अधिक



काल से भिक्षु रहे हों। उपाध्याय विद्यार्थियों को कर्म-ग्रंथ पढ़ाते थे और आचार्य उनके जीवन और आचरण की देखभाल करते थे। उन्हें 'कार्माचार्य' भी कहा जाता था। ख्याति प्राप्त आचार्यों को 'दिशा प्रमुख आचार्य' कहा जाता था। दिशा प्रमुख आचार्यों की समाज में बड़ी प्रतिष्ठा थी और उनकी पाद सेवा सैकड़ों शिष्य करते थे। वाराणसी और तक्षशिला के प्रमुख आचार्यों की कीर्ति दूर-दूर तक थी। वैशाली के कूटागार तथा आम्रवन में बौद्ध शिक्षा दी जाती थी।<sup>228</sup> इन बौद्ध विहारों में भिक्षुओं को आध्यात्मिक ज्ञान के साथ-साथ लौकिक विषयों तथा शिल्पों की शिक्षा प्रदान करने की भी व्यवस्था थी।<sup>229</sup>

समाज में अध्यापकों को उनकी सेवा के लिए उच्च सम्मान मिलता था। उन्हें अच्छा शुल्क भी मिलता था। समृद्ध परिवारों से संबद्ध विद्यार्थी साधारणतया अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् एक हजार कर्पापण शुल्क के रूप में देते थे।<sup>230</sup>

### खानपान

इस क्षेत्र में कई प्रकार के चावल, दाल, खाने वाले तेल, सब्जियां और फल की उपज होती थी। अतः यही उस युग में पूर्व भारत के लोगों का मुख्य भोजन था। बौद्ध युग में धान की अनेक किस्मों की खेती पूर्व भारत में होती थी। पालि पिटक में सालि (शालि), व्रीहि (व्रीहि) तथा तुंडुल किस्मों के धान के उल्लेख मिलते हैं,<sup>231</sup> पर गृहसूत्रों में मात्र व्रीहि का।<sup>232</sup> पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी में शालि, व्रीहि और महा व्रीहि का उल्लेख किया है।<sup>233</sup> इससे प्रतीत होता है कि व्रीहि की दो उप किस्में थीं, एक तो वह जिसका उपभोग उच्चवर्ण के लोग करते थे, और दूसरी वह जिसका उपभोग जनसाधारण करता था। पंतजलि<sup>234</sup> ने शालि की बड़ी प्रशंसा की है और सुश्रुत<sup>235</sup> ने महाशालि की। शालि में रक्तशालि, कमलशालि, महाशालि और गंधशालि आदि किस्मों के चावल होते थे।<sup>236</sup> ह्येनत्सांग को संभवतः शालि अथवा महाशालि चावल का भात नालंदा में खाने को मिला था। उनमें सुगंधि थी। इस चावल को प्रायः धनी मानी व्यक्ति ही खाया करते थे।<sup>237</sup> आज भी नालंदा क्षेत्र का बासमती चावल काफी प्रसिद्ध है। पाणिनि ने हायन, षष्टिका और नीवार का भी उल्लेख किया है जो संभवतः धान की ही उप किस्में थीं। पाणिनि ने गोधूम और गवेधूका का भी उल्लेख किया है।<sup>238</sup>

दाल की जातियों में कलायं (मटर), मुग (मूंग), मास (मसूर) व कोलत्थि (कुलथी—घोड़ या चना) आदि प्रमुख थीं।<sup>239</sup> तेलों में सरसों, अलसी व तिल का प्रयोग होता था।<sup>240</sup> सब्जियों में कमल ककड़ी, लौकी, कोहड़ा (सीताफल), बैंगन, ककड़ी, खीरा, मूली आदि मुख्य थीं।<sup>241</sup> फल व दूध भी मनुष्य का प्रमुख आहार था। आम, केला, जामुन, आमलक, बेदाना आदि का प्रयोग होता था।<sup>242</sup> बौद्ध साहित्य में दूध के साथ दही, मक्खन तथा घी का उल्लेख प्रिय आहारों के रूप में मिलता है।<sup>243</sup>

भात के लिए पालि में भत्त अथवा भक्त शब्द मिलते हैं।<sup>244</sup> पाणिनि ने इसे ओदन की भी संज्ञा दी है।<sup>245</sup> सामान्यतः यह दाल और सब्जी के साथ खाया जाता था।<sup>246</sup> इस काल में यवागु-भात बहुत ही प्रिय भोजन था।<sup>247</sup> इसे यव अथवा भात से बनाया जाता था। भारत के पूर्वी इलाकों में आज भी यवागु-भात निर्धन जनता का आहार है। यवागु-भात तैयार करने के लिए रात्रि में भात और पानी मिलाकर रख दिया जाता है जिसे प्रातः सरसों का तेल, इमली, मिर्च और नमक मिलाकर खाया जाता है।

गरीब जनता का प्रमुख आहार सत्तू भगवान् बुद्ध के समय बहुत खाया जाता था।<sup>248</sup> पाणिनि के अनुसार लोग सत्तू को पानी में मिलाकर खाते थे।<sup>249</sup> उदमन्थ या उदकमन्थ शब्द ने विशेष प्रकार के सत्तू का बोध होता है जिसे भुने हुए चावल से बनाया जाता है।<sup>250</sup> आजकल इसे भुजिया का सत्तू कहते हैं। 'तिलोदक' खाद्य पदार्थ<sup>251</sup> को लोग बड़े चाव से खाते थे। तिल-चावल को एक साथ पकाकर इसे बनाते थे। मसाले का भी प्रयोग होता था। तेल नमक के साथ पिप्पली नामक मसाला प्रयोग में लाया जाता था।<sup>252</sup>

'खाजा' के लिए पिट्टखज्जक शब्द मिलता है। सारिपुत्र को खाजा अत्यधिक प्रिय था, पर उन्होंने इसे न खाने का प्रण कर लिया, क्योंकि खाजा उनकी जिह्वा-लोलुपता को जाग्रत कर देता था।<sup>253</sup> ब्राह्मण जातक (336) में वर्णन मिलता है कि राजा ने एक तपस्वी का सत्कार यवागु और पिट्टखज्जक से किया। पाणिनि ने पलल नामक सुस्वादु मिष्ठान का उल्लेख किया है, जिसे तिल के चूर्ण और चीनी अथवा गुड़ का मिश्रण से बनाया जाता था।<sup>254</sup> इसका आधुनिक रूप तिलकूट है। पाणिनि ने पिष्टक का उल्लेख किया है।<sup>255</sup> पिष्टक चावल की लपसी से बनता था और आज भी पूर्वी भारत की ग्रामीण जनता इसे पीठा के नाम से पुकारती है।

प्रागैतिहासिक युग का मनुष्य मांसाहारी था। वैदिक युग में भी आर्य मांसाहारी थे। बुद्ध के समय भी मांसाहारी का प्रचलन काफी अधिक था। वैशाली में बहुसंख्या में तालाब व नदियों से मछली, गांवों व महावन से जानवर<sup>256</sup> व चिड़ियां मिलती थीं। लिच्छवियों में शाकाहारी व मांसाहारी के बीच विभाजन रेखा खींचना कठिन है। बौद्ध भिक्षु भी गृहस्थों द्वारा प्रदत्त मांस स्वीकार कर लेते थे।<sup>257</sup> भगवान् बुद्ध भी मांस स्वीकार कर लेते थे।

एक बार जैन साधुओं ने इस बात का घोर विरोध किया। सिंह सेनापति<sup>258</sup> ने भगवान् बुद्ध को भोजन के लिए न्योता दिया और मांस सहित भोजन कराया। जैन साधुओं ने इसका घोर विरोध यह कहकर किया कि तथागत जानबूझ कर अपने लिए बनाए मांस को खाते हैं। बौद्ध ग्रंथों में भी मांस मछली का भोजन निषिद्ध नहीं था।<sup>259</sup> केवल कुछ आदमी इससे घृणा करते थे। लेकिन मांसाहारी व्यक्ति से नहीं।<sup>260</sup> किसी समय जैनी लोग भी इसे खाते रहे थे।<sup>261</sup> ब्राह्मण लोगों में भी मांस



के साथ चावल खाने का विशेष मोह था।<sup>262</sup> मछली भात बहुत स्वादिष्ट माना जाता था।<sup>263</sup> पालि निकाय में गोघातक, मेघघातक, अजघातक, शूकरघातक, मृगलुब्धक, शाकुनिक तथा हत्यागृहों के उल्लेख<sup>264</sup> से हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि उस समय मांसाहार के व्यापक प्रचार के फलस्वरूप ही अनेक पेशेवर जातियों का प्रादुर्भाव हुआ जो पशु-पक्षियों को पकड़ने, मारने तथा मांस विक्रय के द्वारा अपना जीविकोपार्जन करते थे।

वे निगम तथा नगर के बाजार में विक्रय के लिए शकटों में भरकर मांस ले जाते थे।<sup>265</sup> मृग मांस भी खूब खाया जाता था। मृग का आखेट करने वाले लोग मृग लुब्धक<sup>266</sup> कहलाते थे। शूकर मांस खाने वालों की संख्या न्यून नहीं जान पड़ती। पालि निकाय में शूकरिक अथवा शूकर घातक का उल्लेख है।<sup>267</sup> शूकर मांस की गणना उत्तम दक्षिणा सामग्री में की गई है।<sup>268</sup> महापरिनिब्बान सुत्त के अनुसार भगवान बुद्ध ने पावा में चुंद कर्मार पुत्र के घर शूकर मार्व खाया।<sup>269</sup> 'शूकर मार्व' का अर्थ सूअर का मांस है, इस पर विद्वान एक मत नहीं हैं। बौद्ध धर्म के अनुयायी इसे विशेष प्रकार का 'खाद्य पदार्थ' कहते हैं, जिसमें किसी भी जानवर का मांस नहीं मिलाया जाता था। जातक कथाओं के अनुसार लोग कबूतर, हंस, कौंक, मयूर, काका तथा मुर्गे का भी मांस खाते थे।<sup>270</sup> जातक कथाओं से यह भी विदित होता है कि गोध तथा सर्पों को भी मारकर लोग खाते थे।<sup>271</sup> यद्यपि ये धर्मशास्त्र में भक्ष्य नहीं माने गए हैं।

लिच्छवियों के समाज में मद्यपान भी बुरा नहीं माना जाता था। जातकों में मधुशाला के वर्णन उपलब्ध हैं जहां पीने वालों की भीड़ लगी रहती थी।<sup>272</sup> लिच्छवि लोग गणिकाओं के साथ रंगेलियां मनाते हुए सुरा<sup>273</sup>, मैरय (मेरय)<sup>274</sup>, वारुणी<sup>275</sup>, शिधु<sup>276</sup>, सतय<sup>277</sup> तथा अन्य प्रकार<sup>278</sup> के मादक पेय का उपभोग खुलकर करते थे। अगर जातकों<sup>279</sup> पर विश्वास किया जाए तो औरतें और तपस्वी भी इन मादक पेयों को लेकते हुए हर्ष अनुभव करते थे। कभी-कभी इसे उचित मात्रा से अधिक पीकर लड़खड़ाते थे।<sup>280</sup> सुरापान के लिए मधुशाला में सपत्नीक भी जाते थे।<sup>281</sup> पालि तथा जैन ग्रंथों से ज्ञात होता है कि लोग उत्सव के दिन जी भरकर खाते-पीते और आनंदोल्लास मनाते, जिसमें मद्यपान का प्रमुख स्थान होता था।

एक उत्सव का नाम ही सुरानक्षत्र (सुरानक्खत) था, जिसकी विशेषता थी : अनियंत्रित सुरापान, भोजन तथा नृत्य संगीत।<sup>282</sup> सुरानक्षत्र में सर्वसाधारण का तो कहना ही क्या, तापस लोग भी अपना नियंत्रण खोकर सुरापान करते थे।<sup>283</sup> बौद्ध और जैन तथा ब्राह्मण लेखकों ने यद्यपि समान रूप से पुरोहित वर्ग के लिए इस व्यसन का निषेध किया। विनय के नियमानुसार श्रमण तथा भिक्षु के लिए सुरापान वर्जित था।<sup>284</sup> महासुत सोम जातक के अनुसार ब्राह्मण मद्यपान को दुष्कर्म मानते थे।<sup>285</sup> धर्म शास्त्र में ब्राह्मण के लिए सुरापान का सर्वथा निषेध किया गया<sup>286</sup>, परंतु क्षत्रिय और वैश्य के लिए



नहीं।<sup>287</sup> इस तरह ब्राह्मण, श्रमण, निर्गन्ध तथा अन्य तापस और सभी वर्ग के ब्रह्मचारी मद्यपान से दूर रहते रहे, फिर भी यह साधिकार नहीं कहा जा सकता कि ब्राह्मण समुदाय इस व्यसन से सर्वथा मुक्त था।

उपर्युक्त उदाहरणों ने यह कहना स्वाभाविक लगता है कि तत्कालीन समाज में मद्यपान का वही स्थान था जो पाश्चात्य देशों तथा महानगरीय समाज में है।

## सामाजिक जीवन

लिच्छवि देखने में अति सुंदर, स्वस्थ और बुद्धिमान होते थे। विभिन्न रंगों में खूबसूरत चमकीले कपड़े पहनने के शौकीन थे।<sup>288</sup> विभिन्न अवसरों, मेलों या किसी अतिथि के आगमन पर ही नहीं उन्हें नित्य चमकीले कपड़े पहनने का शौक था।<sup>289</sup> सांसारिक मोह माया से विमुख भगवान बुद्ध भी उनको इन सुंदर रंगीन वस्त्रों में देखकर टकटकी लगाकर देखते थे और उनके सौंदर्य की तुलना तावतिस (तैंतिस) देवताओं से करते थे।<sup>290</sup> प्रत्येक कुल अपनी पृथक् पहचान के लिए प्रतीकात्मक रंगविशेष प्रयोग में लाता था। बौद्ध साहित्य में हमें एक ऐसा ही विवरण उपलब्ध है, 'लिच्छवि युवकों का रथ, अश्व, लगाम, चाबुक, वस्त्र, अलंकार, पगड़ी, छत्र, तलवार, मणि और जूते सभी नीले रंग के हैं।' इसी तरह दूसरे कुलों के लिच्छवियों के वस्त्र एवं उनकी साज-सज्जा पीला, लाल, हरा तथा रंग-बिरंगे ढंग की होती थी।<sup>292</sup> उनमें बड़ी एकता थी।<sup>293</sup> यही एकता उनकी शक्ति का मूल स्रोत थी जिससे तात्कालिक साम्राज्यवादी शक्तियां भयग्रस्त रहती थीं। अजातशत्रु, जो अपनी साम्राज्यवादी आक्रामकता के लिए अत्यंत प्रसिद्ध था, लिच्छवियों से खुले मैदान में युद्ध करने का साहस नहीं कर सका।<sup>294</sup> उसे लिच्छवियों को पराजित करने के लिए कई हथकंडों का सहारा लेना पड़ा। उनके एकताप्रिय चरित्र से पुनः यह सिद्ध होता है कि लिच्छवि लोग प्रायः ऐसे समारोहों का आयोजन किया करते थे जिसमें एक ही कुल के लोग एकत्र हुआ करते<sup>295</sup> थे। ऐसे समारोहों में कुल के बाहर के प्रतिष्ठित व्यक्ति भी आमंत्रित किये जाते थे। जिन्हें समुदाय हार्दिक धन्यवाद देकर सम्मान प्रदर्शित करता था।<sup>296</sup> किसी के यहां कोई बीमार होता था तो लिच्छवि उसके यहां सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए जाना पुनीत कर्तव्य मानते थे और बीमार के लिए कोई कार्य करने में हिचकते नहीं थे।<sup>297</sup>

लिच्छवि अत्यधिक धनी और संपन्न थे। उनके पास स्वर्णमणि तथा अन्य बहुमूल्य पत्थर इतना था कि रथ, घोड़े, हाथी और पालकी को भी इनसे सजाकर रखते थे।<sup>298</sup> लेकिन इस संपन्नता के होते भी वे विलासी जीवन नहीं व्यतीत करते थे। उन्हें केवल इन वस्तुओं से प्रेम नहीं था बल्कि शारीरिक श्रम से भी प्रेम था। उनकी वाणी में स्वाभाविकता रहती थी और पूर्णरूप से विश्वास करने के योग्य थे।<sup>299</sup> लिच्छवियों के कठिन परिश्रम को देखकर भगवान बुद्ध उनकी बार-बार प्रशंसा किया करते थे, 'ओ

भिक्षुओ उस ओर देखो, लिच्छवि लोग कैसे लकड़ी के कुंदों का सिरहाना बनाकर सो रहे हैं। वे उत्साही और परिश्रमी हैं तथा धनुर्विद्या में सक्रिय हैं। वैदेहिपुत्र मगधराज अजातशत्रु उनकी इच्छा के विरुद्ध कार्यवाही करने का न कोई कारण खोज सकता है और न ही उन्हें पराजित कर सकता है। लेकिन भिक्षुओ, एक समय आया जब लिच्छवि लोग बहुत सुकुमार होना चाहेंगे जिससे उनके पैरों व अस्त्र-शस्त्रों में भी कोमलता आ जाएगी, वे सुंदर कीमती वस्त्रों पर आरामदायक सिरहाना लगाकर सूर्य उदित होने के बाद तक सोना चाहेंगे, तब मगधराज अजातशत्रु इनके विरुद्ध आसानी से युद्ध का कारण खोजकर पराजित कर सकेगा।<sup>300</sup> इनकी प्रबल शक्ति को देखकर कौटिल्य<sup>301</sup> चंद्रगुप्त मौर्य को परामर्श देता है कि सैनिक शक्ति का प्रयोग करने की अपेक्षा इन्हें अपना मित्र बनाकर रखना श्रेयस्कर होगा।

लिच्छवियों के चरित्र निर्माण में भगवान बुद्ध का भी प्रभावशाली योगदान रहा। एकपण्ण जातक के अनुसार लिच्छवि कुमारों में एक बहुत ही निर्दयी और कामुक लिच्छवि कुमार था। उसकी आदत सुधारने में जब उसके माता-पिता तथा सगे-संवंधी सफल नहीं हुए तो अंततः वे उसे भगवान बुद्ध के पास ले गए। भगवान बुद्ध के उपदेश से उसका हृदय परिवर्तन हो गया।<sup>302</sup> लिच्छवि अपनी भूल स्वीकार करने के लिए सर्वदा नैतिक रूप से तैयार रहते थे। कभी-कभी लिच्छवियों में अभद्रता एवं अशालीनता के भी प्रमाण मिलते हैं। वयोवृद्ध महानाम नामक लिच्छवि यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि संपन्न घराने के लड़के जो नगर में अपनी धृष्टता और मनमर्जी करने के लिए कुप्रसिद्ध थे, भगवान बुद्ध के प्रति बहुत सम्मान प्रदर्शित कर रहे हैं। महानाम ने यह देखकर टिप्पणी की, 'प्रभु! ये लिच्छवि लड़के इतने धृष्ट और अभद्र हैं कि जो कुछ गन्ना, बेर, रोटी, मिष्ठान या चीनी से तैयार किया अन्य खाद्य पदार्थ परिवारों से उपहार स्वरूप भेजे जाते हैं, उसे लूट का माल समझकर खा जाते हैं। संभ्रांत परिवार की लड़कियों तथा महिलाओं पर राह चलते धूल फेंक देते हैं। ऐसे लड़के अधोमुख होकर निर्विकार भाव से आपको करबद्ध प्रणाम कर रहे हैं, आश्चर्य है प्रभु।'<sup>303</sup>

लिच्छवि समाज का एक महत्वपूर्ण चित्र था, आर्थिक क्षेत्र या संभवतः प्रशासनिक क्षेत्र में उनकी दृढ़ स्थिति, जिसके अनुसार वे तीन वर्गों या श्रेणियों में विभक्त थे। तिब्बती दुल्ब<sup>304</sup> के अनुसार वैशाली तीन स्कंधों में विभाजित था। प्रथम सात हजार स्वर्ण कलश वाले गृह, मध्यनगर में 14 हजार गृह रजत कलश वाले तथा अंतिम में 21 हजार गृह कांस्य कलश वाले थे। इन गृहों में सामाजिक स्थिति के अनुसार उच्च, मध्य व निम्न श्रेणी (या वर्ग) के लोग रहते थे। इस विवरण से प्रतीत होता है कि यह विभाजन उनके पदानुसार था। प्रथम लिच्छवि प्रमुखों, द्वितीय उच्च श्रेणी के पदाधिकारी गण जैसे सेनापति, भण्डागारिक आदि के लिए तथा तृतीय अन्य लोगों के लिए थे। इस तरह यह विभाजन आनुवंशिक नहीं प्रतीत होता। खण्ड बाहर से वैशाली में शरणार्थी होकर आया



था, उसके पदानुसार उसकी श्रेणी में परिवर्तन किया गया।<sup>305</sup> लेकिन अन्य प्रदेशों की भांति लिच्छवियों में उच्च सामाजिक भेद तथा वर्ग विशिष्टता का निर्वाह था। एक जातक कथा<sup>306</sup> के अनुसार एक नापित पुत्र एक लिच्छवि कन्या के सौंदर्य को देखकर मुग्ध हो गया और पिता से उसे पाने की इच्छा व्यक्त की। उसके पिता ने कहा, 'पुत्र, तुम हीन जन्मा नापित पुत्र हो और अनुरक्त हो गए जाति संपन्न, क्षत्रिय दुहिता लिच्छवि कुमारी पर, यह तुम्हारे उपयुक्त नहीं है, अतः उसे भूल जाओ। मैं तुम्हारे लिए सजातीय तथा सगोत्र कन्या का प्रबंध करूंगा।' यद्यपि महात्मा बुद्ध जातिवाद समाप्त करने के लिए अपने जीवन भर भरसक प्रयास करते रहे,<sup>307</sup> लेकिन संभवतः उनके उपदेश भिक्षु संघ के बाहर समाज में प्रभावशाली नहीं हो सके। समाज का वर्ग विभाजन यथावत बना रहा।

लिच्छवि अपने मृतक की अंत्येष्टि क्रिया पृथ्वी में गाड़कर और खुले में शव को छोड़कर करते थे जिसे जंगली जानवर व गिद्ध खा जाते थे।<sup>308</sup>

विनय पिटक<sup>309</sup> के एक उल्लेख से पता चलता है कि लिच्छवियों में चोरी के मामले होते ही नहीं थे। राइस डेविड<sup>310</sup> ने लिखा है, 'बौद्ध कालीन गांवों में हमें अपराध की एक भी घटना नहीं सुनाई पड़ी। गांवों में छोटा-सा स्वशासित लोकतंत्र था।' धान के खेतों के चारों ओर गांव बसे होते थे। पशु किनारे के जंगलों में चरा करते थे। इन जंगलों पर गांव वालों का समान अधिकार रहता था।<sup>311</sup> सबसे विचित्र बात यह थी कि अपने खेत पर स्वयं कार्य करना लोग गौरव मानते थे, नौकर रखना भारी कलंक तथा नौकरों के द्वारा खेती कराना निंदा की बात मानी जाती थी।<sup>312</sup> दूसरे के खेतों में मजदूरी करने को बाध्य होना दुर्भाग्य माना जाता था तथा इसे सामाजिक पतन समझा जाता था। इस प्रणाली की निन्दा की गई है।<sup>314</sup>

## लोक महोत्सव और मनोरंजन

लिच्छवि समाज में निरंतर पर्वों का दौर चला करता था जिससे उनका जीवन हर्षोल्लास से परिपूर्ण रहता था।<sup>315</sup> 'कन' और 'सम्बर-त्तिवारो'<sup>316</sup> दो महत्वपूर्ण पर्व थे जिसमें लिच्छवि समुदाय सारी रात्रि उत्सव में सम्मिलित होता था।<sup>317</sup> सभी सदस्य नाच-गाने में रुचि लेते थे। गणिकाएं भी इसमें सम्मिलित होती थीं।<sup>318</sup> भ्रमण करने वाले नर्तक व संगीतकार<sup>319</sup> अपनी कला का प्रदर्शन करके लोगों में अतिरिक्त आनंद का संचार करते थे। ढोलकिया व शंखनाद करने वाले<sup>320</sup> उनका मनोरंजन करते थे। इसी तरह जादूगर<sup>321</sup> व अहिगुंठिका<sup>322</sup> (सपेरा) अपने अभिनय से उनको विशेष हर्ष प्रदान करते थे। भड़कीले वस्त्र पहनकर शोभायात्रा आदि में निकलना समाज में एक आवश्यक गुण माना जाता था। वैशाली की नगर शोभिनी अंबपाली भी अपने वैभव का प्रदर्शन और जनता का मनोरंजन करने के लिए अपने कुछ विशिष्ट प्रशंसकों को साथ लेकर गाना-बजाना करते शोभायात्रा में निकलती थी।<sup>323</sup>



वैशाली भर में फैले विविध प्रकार के सुगंधित फूल-फलों से परिपूर्ण तरह-तरह के बाग व बगीचे लोगों को संवेदनशील बनाते थे।<sup>324</sup> इस खूबसूरत स्थलों का भ्रमण करते हुए आदमी आनंदविभोर हो उठते, नई कलियों को खिलता देख उसका भी जीवन मधुर मुस्कान से भर जाता था। चिड़ियों<sup>325</sup> की चीं-चीं से संगीतमय होते बगीचे, सरोवर<sup>326</sup> में खिले हुए कमल लोगों को घंटों अपने आंचल में खड़े रहने को विवश कर देते थे। वैशाली में बड़ी संख्या में सरोवरों<sup>327</sup> तथा नदी की सुविधा होने के कारण नाव खेना तथा तैरना भी युवा लिच्छवियों का एक शौक रहा होगा। पास में विशाल प्राकृतिक वन 'महावन'<sup>328</sup> के होने से लिच्छवि लोग जानवरों व चिड़ियों का आखेट<sup>329</sup> करने में विशेष रुचि लेते थे। हाथी-घोड़े की सवारी तथा गाड़ी हांकना<sup>330</sup> जहां उनके लड़ाकू प्रवृत्ति का परिचायक था वहां एक सीमा तक उन्हें आनंदित भी करता था।

धनुर्विद्या<sup>331</sup> के वे बहुत अधिक शौकीन थे। धनुर्धारियों के एक बड़े समूह में आदमी बर्बर जानवरों के घने वन में भी मनोरंजन कर ही लेते हैं। चित्रकला<sup>332</sup> और बेलबूटे<sup>333</sup> बनाना एक शौक तथा आय का साधन था। लिच्छवि लोग ऐसे समारोहों का प्रायः आयोजन किया करते थे जिसमें विद्वानों तथा धर्मोपदेशकों को आमंत्रित किया जाता था, ऐसा करने में उन्हें हार्दिक प्रसन्नता तथा मानसिक शांति मिलती थी।<sup>334</sup>

पालि निकाय से ज्ञात होता है कि उन दिनों महोत्सवों का स्वरूप कई दिनों तक चलने वाले मेलों जैसा होता था। दीघ निकाय के अनुसार दर्शकों को मनोरंजन के अनेक कार्यक्रमों को देखने का सौभाग्य प्राप्त होता था, जैसे नृत्य, गीत, बाजा, नाटक, लीला, ताली, ताल देना, घड़ों पर तबला बजाना, समूहगान, लोहे की गोली का खेल, बांस का खेल, धोपन, हस्ति युद्ध, अश्व युद्ध, महिष युद्ध, वृषभ युद्ध, बकरों का युद्ध, भेड़ों का युद्ध, मुर्गों की लड़ाई, लाठी के खेल, मुष्टियुद्ध, कुश्ती, मार-पीट के खेल, सेना और युद्ध की चालें इत्यादि।<sup>335</sup> मेले में नट और इंद्रजालिकों के नृत्य तथा खेल हुआ करते थे। लोग हंसते-हंसते लोटपोट हो जाते थे।<sup>336</sup> शंख फूंकने वाले (शंख धूमक)<sup>337</sup> तथा भैरी वादक<sup>338</sup> वातावरण को संगीतमय बना देते थे।

कभी-कभी राजांगण में जनता के मनोरंजनार्थ 'समाज' का आयोजन किया जाता था।<sup>339</sup> इस अवसर पर वहां मुख्य रूप से मल्ल युद्ध होता था।<sup>340</sup> धनुर्वेद, हस्ति व्यायाम, घुड़दौड़, नाटक, संगीत प्रतियोगिताएं आदि भी उत्सव में हुआ करते थे।<sup>341</sup>

कौमुदी महोत्सव उन दिनों एक बहुत ही लोकप्रिय पर्व था। जातकों में कौमुदी अथवा कत्तिका का विस्तृत वर्णन मिलता है। यही एक पर्व था जिसे धनी, निर्धन, वृद्ध, युवा, स्त्री, पुरुष सभी समान उमंग के साथ मनाते थे। यह कार्तिक पूर्णिमा के दिन मनाया जाता था। रात में लोग नगर शोभा के अवलोकनार्थ तथा अन्य प्रकार के लिए

निकलते थे।<sup>342</sup> आज भी इस क्षेत्र में सोनपुर का प्रसिद्ध मेला कार्तिक मास में लगता है तथा पूर्णिमा को हरिहर क्षेत्र में लोग स्नान करते हैं, यह कौमुदी महोत्सव का नया रूप है।

अन्य महोत्सव में शाल भंजिका का नाम आता है। इस उत्सव में लोग शाल वन में जाते थे, और शाल पुष्पों को तोड़कर अन्य प्रकार की क्रीड़ा करते हुए खुशियां मनाते थे। वैशाली क्षेत्र के आसपास बहुतायत संख्या में शाल वन थे।<sup>343</sup> अतः यह उत्सव लिच्छवियों में बहुत लोकप्रिय रहा होगा। डॉ. वॉंगले का मत है कि मगध तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्र में ही शाल भंजिकोत्सव विशेष रूप से मनाया जाता था।<sup>344</sup>

जातकों में सुरानक्षत्र नामक उत्सव का भी वर्णन मिलता है। इसमें जी भरकर लोगों के मद्यपान करने के कारण इस उत्सव का नाम सुरानक्षत्र पड़ा।<sup>345</sup>

हस्ति मंगल नामक एक और समारोह का आयोजन राजप्रासाद के प्रांगण में किया जाता था।<sup>346</sup> यह राजवैभव का द्योतक था। इसमें मुख्यतः हाथियों की शोभा अथवा व्यायाम होता था।

## संदर्भ तथा टिप्पणियां

1. ऋग्वेद, x, 10; i, 13, 16; 8, 35, 16-18; 10, 90, 120.
2. ब. सै. बु. ई., 22, पृ. 218-21 : महावीर स्वामी के ब्राह्मणी गर्भ से क्षत्राणी गर्भ में जाने की कथा है; जातक, 5, पृ. 257 : एक राजा पुरोहित पुत्र सोनक से जाति श्रेष्ठता की तुलना करते हुए कहता है, 'यह ब्राह्मण तो हीन जन्मा है, और मैं हूँ पवित्र क्षत्रिय कुलोत्पन्न'.
3. बौद्ध पिटकों में अनेक ब्राह्मण ग्रामों का उल्लेख मिलता है, जैसे खाणुमत (दीघ निकाय 1, पृ. 127); भम्बसण (दीघ निकाय, 2, पृ. 263-2-64); एक नाल (बुक् आफ किङ्गड सेइंग्स, 1, पृ. 216); सालिन्दि (जातक, 3, पृ. 292, 4, पृ. 276) इत्यादि.
4. ब. अभि. ग्रं., पृ. 85-86.
5. वही.
6. जातक, 2, पृ. 36; 4, पृ. 413; 6, पृ. 71
7. जातक, 4, पृ. 200, 376, 390; महावंश, 4/41
8. सूत्रकृतांग, सै. बु. ई. 45, पृ. 339; योगेन्द्र मिश्र, वैशाली, पृ. 113; पो. हिस्ट्री, पृ. 118, 120
9. ब्यूलर, द ला आफ मनु (आक्सफोर्ड, 1886)x.20-22 : एक ही मां-बाप से उत्पन्न वे पुत्र जो वैदिक कार्यों (संस्कारों) को नहीं करते तथा सावित्री सिद्धांत पर नहीं चलते, वे 'वात्य' के अन्तर्गत आते हैं; संपूर्णानंद आर्यों का आदि देश, पृ. 218, परिशिष्ट (क)
10. मदनमोहन सिंह, बुद्ध कालीन समाज और धर्म (पटना, 1972), पृ. 12.
11. दीघ निकाय, (श्रीमती राइस डेविड्स द्वारा संपा.) 1, पृ. 111.
12. मदनमोहन सिंह, वही, पृ. 19.
13. वही, पृ. 20.
14. जातक, 2, पृ. 213; 6, पृ. 181.

15. जातक, 2, पृ. 165; 3, पृ. 162-163; 293; 4, पृ. 276; 5, पृ. 68
16. जातक, 2, पृ. 15; 4, पृ. 15-21; 5, पृ. 22.
17. जातक, 4, पृ. 207
18. जातक, 3, पृ. 401.
19. जातक, 3, पृ. 219; 5, पृ. 127
20. जातक, 2, पृ. 200; 6, पृ. 170, 182.
21. मनोरथपूर्णा (अंगुत्तर टीका), 2, पृ. 751.
22. व्यूलर, द ला आफ मनु (आक्सफोर्ड, 1886)x.20-22.
23. मज्झिम निकाय, (ट्रेंकनर और चामर्स द्वारा संपा.) 2, पृ. 97-99 : महात्मा बुद्ध के मुख से ये वचन निकलते हैं, हे राजन् ! क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण हैं, इनमें दो वर्ण (क्षत्रिय, ब्राह्मण) अभिवादन, प्रणामांजीलि, अग्रासन तथा सेवा के अधिकारी हैं. यहां महात्मा बुद्ध द्वारा स्वीकार किया गया है कि क्षत्रियों तथा ब्राह्मणों का स्थान समाज में सर्वोपरि है, अन्य जातियों का स्थान उनसे निम्न है.
24. जातक, 2, पृ. 5.
25. आपस्तंब धर्मसूत्र (व्यूलर द्वारा संपा.) (बम्बई संस्कृत सीरीज, (1932) 2/10/26/5).
26. अंगुत्तर निकाय (मॉरिस व हार्डी द्वारा संपा.), पा. डे. सो. (लण्डन) 3, पृ. 37-38; 4, पृ. 277, अष्टाध्यायी, 1/3/36; 3/2/22.
27. जातक, 3, पृ. 326
28. कील हार्न (संपा.), पतंजलि महाभाष्य (बंबई), 1/3/72.
29. कौटिल्य अर्थशास्त्र (अनुदित शाम शास्त्री), 2/34.
30. जातक, 1, पृ. 475.
31. सै. बु. ई. 13, पृ. 28; दीघ निकाय (राइस डेविड्स व कारपेंटर द्वारा संपा.), 1, पृ. 51; जातक, 4, पृ. 475
32. राहुल साकृत्यायन (संपा.), धम्मपद, 80; जातक, 159.
33. जातक, 6, पृ. 189, 437; वा. श. अग्रवाल, इंडिया एज़ नोनट्र पाणिनि, पृ. 234.
34. राइस डेविड्स व कारपेंटर (संपा.), दीघ निकाय, 1, पृ. 78; ट्रेंकनर चामर्स (संपा.), मज्झिम निकाय, 2, पृ. 18; फाउसबौल (संपा.), जातक, 2, पृ. 197.
35. ट्रेंकनर व चामर्स (संपा.), वही, 2, पृ. 18, 46; 3, पृ. 118; जातक, 2, पृ. 79; 3, पृ. 376
36. जातक, 3, पृ. 405.
37. जातक, 4, पृ. 161.
38. जातक, 3, पृ. 281.
39. उवास गदसाव, 7/184 के अनुसार पलासपुर नगर के निकट पांच सौ की आबादी का एक कुंभकार ग्राम था.
40. जातक, 3, पृ. 281.
41. जातक, 2, पृ. 18, 405; 4, पृ. 159, 207.
42. विनय टेक्स (अन.), 2, 170-72; 2, 67, 4, 47.
43. को, लाइफ, पृ. 232.
44. जातक, 2, पृ. 167; 3, पृ. 61, 507.
45. जातक, 1, पृ. 43.
46. जातक 4, पृ. 495.



47. जातक, 1, पृ. 370; 2, पृ. 267, 429; 3, पृ. 198, 348.
48. जातक, 4, पृ. 389.
49. जातक, 2, पृ. 249.
50. जातक, 1, पृ. 283.
51. जातक, 1, पृ. 284.
52. जातक, 1, पृ. 310.
53. ज. ए. सो. बे., 1921, भाग 17, 266-67.
54. जातक, 1, पृ. 283.
55. जातक, 1, पृ. 284.
56. जातक, 2, पृ. 167.
57. जातक, 2, पृ. 248.
58. जातक, 5, पृ. 417; ट्रैकनर व चामर्स (संपा.) मज्झिम निकाय, 1, पृ. 79.
59. ट्रैकनर व चामर्स (संपा.), मज्झिम निकाय, 2, पृ. 152, 183-84; 3, पृ. 169; मॉरिस व हाडॉ (संपा.) अंगुत्तर निकाय, 2, पृ. 85; 3, पृ. 385.
60. जातक, 4, पृ. 200, 376, 390.
61. जातक, 4, पृ. 390.
62. जातक, 3, पृ. 233.
63. जातक, 4, पृ. 276.
64. जातक, 4, पृ. 390-92.
65. ब्युलर (संपा.), आपस्तंब धर्म सूत्र, 2/1/2/8
66. मनुस्मृति, 3/29.
67. मनु, 10/51-52.
68. मनु, 10/55.
69. जातक, 4, पृ. 383, 390; 5, पृ. 429
70. जातक, 3, पृ. 41, 179.
71. मनु, 10/56.
72. जातक, 6, पृ. 156.
73. जातक, 4, पृ. 379.
74. जातक, 6, पृ. 156.
75. मॉरिस व हाडॉ (संपा.), अंगुत्तर निकाय, 4, पृ. 376
76. एंडरसन और स्मिथ (संपा.), सूत्र निपात, 1/7/22-23.
77. जातक, 3, पृ. 233-35.
78. जातक, 4, पृ. 201.
79. जातक, 5, पृ. 110, 337.
80. पाठक (संपा.), मनु, 10/48.
81. फिक्, सोसल आर्गिनाइजेशन इन नार्थ ईस्टर्न इंडिया इन बुद्ध-टाइम, पृ. 322.
82. झा, लिच्छवि, पृ. 19; वैशाली इक्वेेशन, पृ. 1
83. जातक, 3, पृ. 194-5; 4, पृ. 205-303.
84. मनु, 10/18.
85. जातक, 3, पृ. 195; फिक्, वही, पृ. 321.

86. जातक, 4, पृ. 251
87. वही.
88. जातक, 1, पृ. 356.
89. जातक, 3, पृ. 452.
90. जातक, 1, पृ. 310.
91. जातक, 4, पृ. 40.
92. जातक, 1, पृ. 292.
93. जातक, 3, पृ. 230.
94. मॉरिस व हाडी (संपा.); अंगुत्तर निकाय, 2, पृ. 207.
95. जातक 1, पृ. 121; 5, पृ. 290-92.
96. जातक, 1, पॉ. 137.
97. जातक, 2, पृ. 5; जातक 1, पृ. 138.
98. डी. आर चानना, स्लेवरी इन एंशिअंट इंडिया (बंबई, 1960), पृ. 15-18; महाभारत, सभाषर्व, 52/4/4-46 में उल्लेख है कि युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ में नियुक्त 88000 ब्राह्मण स्मांतकों को 30-30 दासियों का दान दिया।
99. मनुस्मृति (8/413) : मनु कहते हैं कि दास बनाने के लिए शूद्रों का क्रय करना चाहिए।
100. घोपाल, स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एंड कल्चर, पृ. 461-67; इको. लाइफ. पृ. 294-98.
101. इको. लाइफ. पृ. 297.
102. जातक नं., 39.
103. वही, 402.
104. वक ब्रह्म जातक; अरण्य जातक.
105. विदुर पंडित जातक.
106. वैस्संतर जातक.
107. मज्झिम निकाय.
108. विदुर पंडित जातक.
109. मनस्मृति (8/415) :  
ध्वाजाहुतो भक्तदासो गृहजः क्रीत दन्निमड ।  
पैतृको दंडदासो सपैत दास्यो न यः ॥
110. नारद स्मृति, 5, 25-28.
111. अर्थशास्त्र, 3, 13.
112. नारद स्मृति, 5, 25-28.
113. वही.
114. जातक, 4, 200.
115. जातक, 382.
116. जातक, 421.
117. जातक, 354.
118. जातक, 39.
119. जातक, 289.
120. सत्त सोम जातक.
121. अर्थशास्त्र, 3, 13.

122. जातक, 1, पृ. 156-57.
123. काटाहक और कलहुक जातक में भी उच्च घराने की पुत्री दास के साथ भागकर विवाह करती है.
124. जातक, 97.
125. जातक, 402; घोषाल, वही, पृ. 464 : घोषाल की राय है कि दास को कोड़े से पीटा और बेड़ी से बांधा जा सकता था; बंधोपाध्याय (इको. लाइफ, 295) टिप्पणी करते हैं कि उनके साथ हिंसा का व्यवहार असांविधानिक नहीं था.
126. ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास (मैकमिलन, दिल्ली, 1975), पृ. 120.
127. दीघ निकाय, पा. टे. सो. (लण्डन), पृ. 60-61; जातक 532.
128. इको. लाइफ, पृ. 297.
129. (ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का इतिहास), पृ. 121.
130. ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, (मैकमिलन, 1975), पृ. 121.
131. नारद स्मृति viii, 11, 13 : कभी-कभी दासियाँ दूसरों के यौनसुख के लिए उधार दी जाती थीं. अगर एक व्यक्ति बिना उसके स्वामी से पूछे दासी कन्या के साथ विषय भोग कर लेता तो उसे पहले स्वामी को एक दिन के लिए दो पण जुर्माना देना पड़ता था (वही); एस. के. मैती (इको. ला, पृ. 145) ठीक टिप्पणी करते हैं कि दासी और वेश्या में कोई स्पष्ट भेद करना बहुत कठिन था.
132. इको. लाइफ, पृ. 297.
133. फिक्, पृ. 311; नंद जातक (39) में एक स्वामी अपने एक दास को कोष संबंधी सभी सूचनाएं देते हुए विश्वास व्यक्त करता था. इसी तरह नानकच्छंद जातक (289) में ब्राह्मण स्वामी राजा से क्या वर मांगे, इस विषय पर पन्ना दासी की राय पूछता है.
134. सुल्लवग, 4/47; 6/4/1.
135. जातक, 5, पृ. 284.
136. जातक, 1, पृ. 453.
137. जातक, 1, पृ. 484.
138. सामंत पासदिक, 1/215; डी. आर. चानन, स्लेवरी इन ए इंडिया, पृ. 70.
139. खुद्क निकाय, 1, पृ. 139, जातक, 1, पृ. 468.
140. चानन, वही, पृ. 70-72.
141. जातक, 3, पृ. 163.
142. जातक, 1, पृ. 453.
143. अर्थशास्त्र, 3/13.
144. दीघ निकाय, पा. टे. सो. (लण्डन), 1949) 1, पृ. 60-61.
145. जातक (532).
146. जातक, 6, पृ. 546-47.
147. अर्थशास्त्र, 3/13.
148. मज्झिम निकाय, ट्रेकनर व चामर्स द्वारा संपा, पी. टी. एस. (लण्डन, 1950-51), 2, पृ. 62; स्धुनार्थसिंह, बुद्ध कथा, पृ. 324.
149. नारद स्मृति (संपा.), सै. ब. इ. जिल्द-33, 5/29-34-जल से भरे मिट्टी के एक घड़े को दास के कंधे से उतारकर स्वामी तोड़ डालता था. उसके बाद अन्न एवं फूल मिले हुए जल को दास के सिर पर छिड़कता और तीन बार उसके स्वाधीन होने की घोषणा करता था.
150. जातक, 3, 162; 4, पृ. 22.
151. साम आफ सिस्टर्स, पृ. 42.



152. जातक, 2, पृ. 225.
153. साम आफ सिस्टर्स, पृ. 42.
154. राक्विल, वही, पृ. 62; इ. हिस्ट्री क्वा, भाग 23, मार्च, 1947, पृ. 58; घोषाल, वही, पृ. 389.
155. जातक, 2, पृ. 5.
156. जातक, 2, पृ. 5.
157. जातक, 2, पृ. 360.
158. रिस डेविड्स (अनु.), सै. बु. ई. (आक्सफोर्ड, 1900), भाग ii, पृ. 3-4; डायलाग्स, पार्ट 2, पृ. 80; मलालसेकर, भाग 1, पृ. 779.
159. राक्विल, वही, पृ. 62; इ. क्वा (मार्च, 1947), भाग 23, पृ. 58; घोषाल, वही, पृ. 389.
160. इ. हि. क्वा (1947), भाग 23-1, पृ. 58-61; योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 121.
161. वि. च. ला. इंडोलॉजिकल स्टडीज़, (1950), पार्ट 1, पृ. 102; इ. हि. क्वा, (मार्च, 1947), भाग 23, पृ. 59; दिवाकर, वही, पृ. 173.
162. रिस डेविड्स, वही, पृ. 3; डायलाग्स, पार्ट 2, पृ. 80; वि. च. ला. ए. हिस्ट्री आफ पालि लिटेरेचर (लण्डन, 1933), भाग 1, पृ. 100 झा, क्षत्रियक्लॉन, पृ. 109.
163. मिथिला, पृ. 133.
164. इ. हा. क्वा. भाग 23 पृ. 59 टिप्पणी घोषाल, वही, पृ. 389
165. वही.
166. द बुक आफ ग्रेडुअल सेइंग, 1, पृ. 120.
167. रघुनाथसिंह, बुद्ध कथा, (वाराणसी, 1969), पृ. 505-09.
168. वही.
169. जातक, 3, पृ. 93.
170. जातक, 4, पृ. 219.
171. भिक्खुनीविभंग संघादिसेस, 1, पृ. 225
172. कटाहक जातक.
173. इको. लाइफ, पृ. 297.
174. अर्शाशास्त्र, 3/13.
175. डायलाग्स, 2, पृ. 115; जातक, पृ. 413.
176. वि. च. ला. क्षत्रियक्लॉन, पृ. 17-21; इसी तरह की एक कहानी एक सिलोनी पुस्तक 'पूजावालि' में भी है. (स्पेन हार्डी, मैनुअल आफ बुद्धिज्म, द्वितीय सं. 1880, पृ. 242-43.
177. हितनारायण झा, लिच्छवि, पृ. 27.
178. बृहदारण्यक उपनिषद्, 1/4/3.
- 179 अ. उदय जातक (458) तथा दसरथ जातक (361).
- 179 ब. वै. अभि. ग्रं. पृ. 92 (आवश्यकचूर्ण, पूर्वभाग, पत्र 245 में लिखा है कि महावीर की माँ चेटक की बहन और भाभी चेटक की पुत्री थी.)
180. जातक (फाउसवोल द्वारा संपा.), 2, पृ. 119.
181. इ. हि. क्वा, (1947), भाग 23-1, पृ. 58-61 वैशाली, पृ. 121.
182. सुत्त निपात (एंडरसन व स्मिथ द्वारा संपा.), पा. टे. सो. लण्डन, 1948.
183. रिस डेविड्स पा. टे. सो. (लण्डन, 1909), 445.
184. वही, 12, 46 तथा धेरीगाथा अष्टकथा
185. जातक, 1, पृ. 456; 6, पृ. 72, 486.

186. भिक्खुनीविभंगसंघादिसेस, ii, पृ. 225.
187. ज. प्रो. ए. सो. ब. (1921), भाग 17, पृ. 267.
188. अंड भूत जातक (62); कोसिय जातक (130); गृहपति जातक (119); उच्छिदूभत जातक (212); गामणिचंड जातक (257) आदि.
189. भिक्खुनीविभंग संघादिसेस, ii, पृ. 225.
190. वही, ii, पृ. 225; पेठावत्थुअट्टकथा (सिमहेलेस ऐडीसन), 1, पृ. (124-56); मलालसेकर, पृ. 780.
191. भिक्खुनीविभंगसंघादिसेस, ii, पृ. 225.
192. जातक, 5, पृ. 446.
193. वशिष्ठ धर्मसूत्र, 17/20.
194. अर्थ, 3/3.
195. जातक, 4, पृ. 25; 3, पृ. 351.
196. ओल्डलवर्ग, बुद्ध (लण्डन, 1882), पृ. 118; वाशम, द वण्डर हैट वाज़ इंडिया, (लण्डन, 1954), पृ. 184; दिवाकर, वही, पृ. 173;.
197. बाशम, वही, पृ. 184.
198. वही; ओल्डनवर्ग, वही, पृ. 148; इको. लाइफ, पृ. 266.
199. दिवाकर, वही, पृ. 173; इको. लाइफ, पृ. 266.
200. दिवाकर, वही, पृ. 173.
201. राविहल, वही, पृ. 64.
202. जातक, ३, पृ. 60.
203. वही, 3, पृ. 61; 4, पृ. 249.
204. वही, 6, पृ. 228.
205. धम्मपद (पुराण संस्करण), पृ. 211.
206. अल्लेकर, एज़ुकेशन इन एनशिऑट इंडिया (वाराणसी, 1957), पृ. 106, 113 : 'तक्षशिला रावलपिंडी से बीस मील की दूरी पर स्थित था। यहां के दिशा प्रमुख आचार्यों की ख्याति बहुत दूर-दूर तक थी। भगवान बुद्ध के समय यह शिल्प ज्ञान का एक बहुत महत्वपूर्ण केंद्र था। भरत के पुत्र तक्ष इसके संस्थापक थे। यह आज के विश्वविद्यालय की तरह नहीं था। देश के सभी भागों से लड़के यहां शिक्षा प्राप्त करने आते थे। जबकि उस समय आने-जाने के साधन काफी कम और जोखिम भरे थे। विद्यार्थी गण विद्वान आचार्यों के पांव के समीप भीड़ लगाए रहते थे। यहां तीनों वेद व्याकरण, दर्शन और 18 विषयों (शिल्पों) की विशिष्ट शिक्षा दी जाती थी। ये 18 विषय निम्नलिखित थे। वाद्य, गीत, नृत्य, चित्रकला, नक्षत्र कर्म, अर्थशास्त्र, वास्तुकला, तक्षण, वार्ता, पशुपालन, व्यापार, आर्युवेद, राजस्व परिचालन, कानूनी शासन, युद्धकला और धनुर्वेद, इंद्रजाल, क्रीडा, मणिरागाकर आदि संपन्न माता-पिता भोजन तथा आवास शुल्क के साथ शिक्षा शुल्क भी देते थे। परंतु निर्धन छात्र शुल्क देने में असमर्थ होने के कारण श्रम के रूप में गुरु-दक्षिणा चुकाते थे। शुल्क देने वाले छात्रों को दिन में शिक्षा और शुल्क न चुकाने वाले छात्रों को रात्रि में शिक्षा दी जाती थी। इस तरह निर्धनता के कारण कोई मेधावी छात्र शिक्षा प्राप्त करने से वंचित नहीं रह पाता था ?; फाउसबोल, महावग्ग (6,22) से ज्ञात होता है कि तक्षशिला उस समय आयुर्वेद की शिक्षा के लिए बहुत प्रसिद्ध था। मगध सम्राट बिम्बिसार के राजवैद्य जीवक ने भी यहीं 7 वर्ष तक रहकर विशिष्ट ज्ञान अर्जित किया था। परीक्षा उत्तीर्ण होने के पूर्व उसे इस विश्वविद्यालय के चर्चों ओर एक योजन (चार या दो कोस) तक जितनी वनस्पतियां उगी थीं, उन सबकी पहचान करनी पड़ी थी; तक्षशिला उच्च शिक्षा केंद्र था, अतः वहां अध्ययनार्थ जाने वाले छात्रों की उम्र 16 वर्ष बताई गई है। (मदनमोहन : बुद्ध कालीन समाज और

- धर्म, पृ. 93).
207. फाउसबोल, धम्मपद (पुराना संस्करण), पृ. 211.
  208. सुल्लकालिंग जातक, क्रम 301; मिथिला, पृ. 137.
  209. अंगुत्तर निकाय पा. टे. सो., भाग 2, पृ. 190-4; भाग 3, पृ. 75-78; 167-68; संयुक्त निकाय भाग 3, पृ. 389-90.
  210. रिस डेविड्स (संपा.), सुमंगल विलासिनी, पा. टे. सो. (लण्डन, 1887), पार्ट 1, पृ. 309; लेज़ रिकार्ड आफ द बुद्ध किंगडम (चीनी यात्री फाह्यान का यात्रा विवरण) आक्सफोर्ड, 1886), पृ. 72.
  211. बील, ट्रैवेल आफ हेनत्यांग (कलकत्ता, 1953) भाग 3, पृ. 308.
  212. फाउसबोल, धम्म पद (पुराना संस्करण), पृ. 391.
  213. बुद्धिष्ट इंडिया, पृ. 41.
  214. ललित विस्तर (वि. इ. सी.), अध्याय 3, पृ. 33.
  215. सुमंगल विलासिनी (बर्मी संस्करण), पृ. 103-5; डायलाग्स, भाग 2, पृ. 80; विनयटेक्स, पार्ट 2, पृ. 171; ज. ए. सो. ब. (1921), पृ. 267.
  216. विनय टेक्स, पार्ट 2, पृ. 1; ज. ए. सो. ब. (1921), पृ. 367.
  217. वैशाली इक्वेशन, 1950, पृ. 1; विनय टेक्स, पार्ट 2, पृ. 171.
  218. विनय टेक्स, पार्ट 2, पृ. 171.
  219. वही.
  220. से. बु. ई., भाग 10, पृ. 31; अंगुत्तर निकाय, पा. टे. सो., भाग 3, पृ. 239.
  221. ललित विस्तर (संपा. लेफ्टमैन), भाग 1, पृ. 21; रोमांटिक लीजेंड आफ शाक्य बुद्ध (बील द्वारा अनु.), पृ. 28.
  222. वि. च. ला., क्षत्रिय क्लान (1992), पृ. 63.
  223. अंगुत्तर निकाय, पा. टे. सो., भाग 3, पृ. 76; मलालसेकर, पृ. 780; ज. ए. सो. ब. (1921), भाग 17, पृ. 268; मुकजी, हिंदू सिक्लाइजेशन, बंबई (1957), पार्ट 2, पृ. 243.
  224. अंगुत्तर निकाय, पा. टे. सो., भाग 3, पृ. 76; ज. प्रो. ए. सो. ब. (1921), भाग 17, पृ. 267; मलालसेकर, पृ. 779-80.
  225. अंगुत्तर निकाय, वही; ज. ए. सो. ब. (1921), भाग 17, पृ. 268.
  226. श्रीमती रिस डेविड्स (अनु.), सांम आफ द ब्रदरन, पृ. 106.
  227. महावग्ग; (फाउसबोल), 5, 4, 2.
  228. राधाकुमुद मुकजी, एंशिअंट इंडियन ऐजुकेशन, पृ. 443.
  229. वही.
  230. एको. लाइफ, पृ. 265.
  231. मज्झिम निकाय (संपा.), ट्रेंकर और चामर्स), पा. टे. सो. (लण्डन, 1921), भाग 1, पृ. 57; 3, पृ. 90; अंगुत्तर निकाय (संपा.—मारिस तथा हाडी), पा. टे. सो. (लण्डन, 1888-1900), भाग 5, पृ. 213; जातक, 1, पृ. 429, 484; 2, पृ. 110, 135, 378; 4, पृ. 276; 6, पृ. 367; इको. लाइफ, पृ. 237 ओमप्रकाश, फूड एंड ड्रिंक इन एंशिअंट इंडिया (दिल्ली, 1961), पृ. 58-60.
  232. आश्वलायन-गुह्य सूत्र, (से. ब. ई., 29), 1/17/2; सांख्यायन-गुह्य सूत्र, 1/24/3; 1/28/6.
  233. अष्टध्यायी, 5/2/2; 6/2/38.
  234. महाभाष्य (संपा.) कील हार्न, बंबई, (1892-1909), 1/19.
  235. सूत निपात, 46/7.
  236. फूड एंड ड्रिंक इन एंशिअंट इंडिया (1961), पृ. 38-60.



237. बील्, लाइफ आफ ह्वेनत्सांग, पृ. 109.
238. अष्टाध्यायी, 3/1/48; 3/3/48; 5/1/90; 4/3/136.
239. मज्झिम निकाय (ट्रै संपा), 1, पृ. 57, 80; 3, पृ. 90; अं. निकाय (संपा. मारिस व हार्डी), 4, पृ. 108; सूत निपात (संपा. एंडरसन और स्मिथ), 3/10; जातक, 1, पृ. 429; 2, पृ. 74; इको, लाइफ, पृ. 237;
240. ओमप्रकाश, वही, पृ. 71.
241. इको लाइफ, पृ. 237; अष्टाध्यायी, 4/1/45; 4/3/165, 8/4/5; जातक, 5, पृ. 37.
242. इको. लाइफ, पृ. 237; ओमप्रकाश, वही, पृ. 71.
243. अंगुत्तर निकाय (संपा. मारिस व हार्डी) 2, पृ. 95 अपटध्यायी; 2/4/14; 4/3/160; 4/2/18.
244. तकल जातक; अष्टाध्यायी, 4/4/100.
245. अष्टाध्यायी, 4/4/100.
246. जातक, 6, पृ. 372.
247. विसवंत जातक, 69.
248. सनुभस्त जातक, (402).
249. अष्टाध्यायी, 6/3/59.
250. वही, 6/3/60.
251. कच्चानिक जातक, 417.
252. गोध जातक, 417.
253. विसवंत जातक, 69.
254. अष्टाध्यायी, 6/2/128.
255. वही, 4/3/14.
256. जातक, 12, 21, 51, 142, 144, 196, 199, 254, 277, 362, 402, 420.
257. महावग्ग, 6/23/10-15.
258. तेलोवाद जातक, 246.
259. विनय, 1, 80; सूत निपात, ii.2. 3-9; विनय 4, 93; जातक, 331, 418, 436.
260. वही
261. ओमप्रकाश, वही, पृ. 65.
262. जातक, 545; मत्तरभंत जातक, 19.
263. जातक, 292.
264. मज्झिम निकाय, 1, पृ. 364, 2, पृ. 192; द बुक आफ किट्टेडसेइंग 2, पृ. 171; द बुक आफ ग्रेडुअल सेइंग, 1, 229.
265. मंस जातक (315).
266. जातक, 3, पृ. 49.
267. संयुक्त निकाय (संपा. मिसेज राइस डेविड्स) पा. टे. सो. (लण्डन, 1884-1904), 2, पृ. 257; अंगुत्तर निकाय (संपा. मारिस व हार्डी), पृ. 207; 3, पृ. 303 जातक, 6, पृ. 111.
268. अंगुत्तर निकाय (संपा. मारिस व हार्डी), 3, पृ. 4.
269. दीघ निकाय (संपा. राइस डेविड व कार्पेटर), 2, पृ. 127 इसका उल्लेख उदान (8/5) में भी मिलता है.
270. पुण्णन्दि जातक, 214; रोमक जातक, 277 तथा जातक 2, पृ. 412.
271. गोध जातक, 138; संखपाल जातक, 524.
272. वारुणि जातक, 47; इत्लीस जातक, 78.

273. भम्पद (पूना, 1934), 247; जातक, 466; पाति मोकल, मै. बु. ई. (आक्सफोर्ड, 1881), पृ. 21; इको लाइफ, पृ. 245; ओमप्रकाश वही, पृ. 75 : सुरा सभी प्रकार के मादक पेय के साथ उपभोग किया जाता था. यह अन्न से तैयार किया जाता था.
274. जातक 466; इको. लाइफ, पृ. 245; ओमप्रकाश वही, पृ. 75; मेरय लोकप्रिय मसालेदार मदिरा थी, जो शाक (सब्जी) से बनती थी.
275. इको. लाइफ, पृ. 245; ओमप्रकाश, वही, पृ. 75 : वारुणी मधुक फूल से तैयार की जाती थी। यह एक तेज मादक पेय था.
276. ओमप्रकाश, वही, पृ. 75 : शिधु पेय गन्ने के रस से तैयार किया जाता था.
277. वही, पृ. 76 : सतय एक बहुत तेज मादक पेय था जिसमें सौ बार पानी मिलाने पर भी उसका तेजपन कम नहीं होता था.
278. इको. लाइफ, पृ. 245; ओमप्रकाश, वही, पृ. 75 पाद टिप्पणी : तालवक और कादंबरी भी एक लोकप्रिय मादक पेय था. यह ताड़ के फल तथा पके कदंब फल से क्रमशः बनाया जाता था.
279. जातक, 81 व 512; (वायु, 58, 43; मतस्य, 120-31) तथा अजंता की पेंटिंग (ओमप्रकाश, वही, पृ. 185) भी नारियों द्वारा मद्यपान करना प्रामाणित करती है.
280. जातक, 81 व 512.
281. जातक, 4, पृ. 114.
282. जातक, 1, पृ. 362, 489.
283. वही, 1, पृ. 362.
284. सै. बु. ई., 13. पृ. 211, 215.
285. जातक, 5, पृ. 467.
286. आपस्तंब धर्मसूत्र, 1/5/17/21; गौतम धर्मसूत्र 2/26.
287. विष्णु धर्मसूत्र, 21/84.
288. जोन्स, द महावस्तु, बुद्धि सी. (लण्डन, 1949), भाग 1, पृ. 315-16; वाटर, आन ह्वेनत्सांग ट्रेवल, लण्डन 1905), भाग 2, पृ. 79; ज. ए. सो. बं. (1921), भाग 17, पृ. 266; मलालसेकर पृ. 779; अंगुत्तर निकाय, पा. टे. सो. भाग 3, पृ. 239; डायलाग्स, पृ. 103; ला, वही, पृ. 70-78.
289. अंगुत्तर निकाय, पा. टे. सो., भाग 3, पृ. 239; ला, क्षत्रिय क्लान (1922), पृ. 60-63.
290. महावग्ग, बुद्धि सी., भाग 2, पृ. 107; डायलाग्स, भाग 2, पृ. 103; ओल्डनबर्ग, बुद्ध (लण्डन, 1882), पृ. 148; वाटर, वही, पृ. 79; कारपोरेटेड लाइफ, पृ. 92, मलालसेकर, पृ. 779.
291. ला, वही, पृ. 63.
292. अंगुत्तर निकाय, पा. टे. सो., भाग 3, पृ. 239; दीघ निकाय, भाग 2, पृ. 96; ला, इंडोलॉजिकल स्टडीज, (कलकत्ता, 1950), पार्ट 1, पृ. 112; मलालसेकर, पृ. 779.
293. महावग्ग, बुद्धि सी., भाग 2, पृ. 106; ज. ए. सो. बं. (दिसंबर 1838) 5, पृ. 992; ला, ए हिस्ट्री आफ पालि लिट्रेचर (लण्डन, 1933), भाग 1, पृ. 100; मलालसेकर पृ. 779.
294. रॉकहिल, द लाइफ आफ बुद्ध (लण्डन, 1907), पृ. 123-25; हार्डी, मैनुअल आफ बुद्धिज्म (द्वितीय संस्करण लण्डन, 1880), पृ. 243; घोष, अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया (इलाहाबाद, 1939), पृ. 112-13; वि. चरण ला (संपा.), बुद्धिस्ट स्टडीज (कलकत्ता, 1931) 199-200; दिवाकर (संपा.) बिहार धू द ऐज (1959), पृ. 103.
295. सुमंगल विलासिनी (बर्मी संस्करण), पृ. 103-05; मलालसेकर पृ. 779.
296. वही; चौधरी, हिस्ट्री आफ बिहार (पटना, 1958), पृ. 13.
297. मलालसेकर, पृ. 779; ला, क्षत्रिय क्लान (कलकत्ता एंड शिमला, 1922), पृ. 60.
298. रॉकहिल, वही, पृ. 123-125; वि. च. ला, वही, पृ. 63.

299. ज. ए. सो. बं. (1921), 17, पृ. 267-68; वाटर, वही, पृ. 79; घोष, वही, पृ. 102, चौधुरी, वही, पृ. 13; मलालसेकर, पृ. 780.
300. संयुक्त निकाय, पा. टे. सो., भाग 2, पृ. 267-68; रॉकहिल, वही, पृ. 123-25; राधा कुमुद मुकर्जी, हिंदू सिवलाइजेशन (बंबई, 1957) पार्ट ii, पृ. 243.
301. कांग्ले (संपा.) द कौटिल्य अर्थशास्त्र (1960), पार्ट 1, पृ. 244; संघलाभी दंडमित्र लाभा नामुत्तः
302. कावेल (संपा.) द जातक, भाग i, पृ. 316; ला, वही, पृ. 96-98.
303. अंगुत्तर निकाय, पा. टे. सो., भाग 3, पृ. 76; ज. ए. सो. बं. (1921), भाग 17, पृ. 268.
304. उवासगदसाव, बि. इ. सी., (कलकत्ता, 1888), भाग 2, पृ. 6; रॉकहिल वही, पृ. 62; रैप्सन (संपा.), कैब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, (दिल्ली, 1955), भाग 1, मिथिला, पृ. 130.
305. मिथिला, पृ. 62, 71, 139, दत्त (संपा.), गिलगित मैनुस्क्रिप्ट (श्रीनगर, 1942), वाल्यूम 3, पार्ट 2, पृ. 134 : खण्ड विदेह राज के पांच सौ अमात्यों का प्रमुख था जो दूसरे मंत्रियों के द्वेष और षड्यंत्र से खिन्न होकर वैशाली चला आया, जहां वह प्रथम श्रेणी के लिच्छवियों में सम्मिलित किया गया और अंततः सेनापति का पद प्राप्त किया; इ. हि. व्यू. (मार्च, 1947), भाग 23, पृ. 59; घोषाल, स्टडीज़ इन इंडियन हिस्ट्री ऑफ कल्चरल (कलकत्ता, 1957), पृ. 389-90.
306. दीघ निकाय (श्रीमती राइस डेविड द्वारा संपा.) 1, पृ. 88, 1 20, मज्झिम निकाय (ट्रेकर और चामर्स द्वारा संपा.), पृ. 133-34; अंगुत्तर निकाय, 3, पृ. 223; सुत्त निपात, 3/7.
307. सुत्त निपात, 2, पृ. 150 : मनुष्य न तो जन्मना चांडाल होता है और न ब्राह्मण ही, अंततोगत्वा मानव मात्र में समता है, विभेद तो बाह्य एवं कृत्रिम है, विमानवत्सु में भगवान बुद्ध तर्क देते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी तो अजर-अमर नहीं है, सभी का अंत एक ही है, फिर हम क्यों किसी को जन्मना श्रेष्ठ मानें और दूसरे को हेय दृष्टि से देखें ? (5/13/15); पेतवत्सु (2/6/12) चुल्लवग्ग में एक जगह भिक्षु संघ को संबोधित करते हुए कहा—‘हे भिक्षुओ, जिस प्रकार महान नदियां सागर में मिलकर एकाकार हो जाती हैं, उसी प्रकार चारों वर्णों के सदस्य तथागत द्वारा प्रतिपादित धर्म के अनुसार प्रवर्जित होकर यह भूल जाते हैं कि हमारा अमुक वर्ण था, अमुक वंश था, उनको एक मात्र संज्ञा रह जाती है श्रमण’ (9/1/4)। उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध ने कम से कम बौद्ध संघों में जातिवाद को पनपने नहीं दिया, यही कारण था कि नापित पुत्र होने पर भी उपालि बुद्ध के प्रिय शिष्यों में थे और भगवान बुद्ध के निर्वाण प्राप्ति के पश्चात् संघ के प्रधान होने का श्रेय भी प्राप्त कर सके।
308. चौधुरी, वही, पृ. 13; इ. ए. भाग 32, पृ. 233-36; बील, रोमांटिक लिजेन्ड आफ शाक्य बुद्ध (लण्डन, 1875), पृ. 159-60.
309. विनय, 4, पृ. 225-26.
310. बु. इंडिया (प्रथम संस्करण), पृ. 15.
311. वही, पृ. 14.
312. विनय, 2, 207-07.
313. दीघ, 31.
314. बुद्धिष्ट इंडिया (प्रथम संस्करण), पृ. 15.
315. रॉकहिल, द लाइफ आफ द बुद्ध (लण्डन, 1907), पृ. 62; ज. ए. सो. बं. (1921), 17, पृ. 266.
316. ज. ए. सो. बं. (1921), भाग 17, पृ. 266-67.
317. वही; दिवाकर बिहार व्यू द ऐज़ज़ (1959), पृ. 163.
318. ज. ए. सो. बं. (1921), भाग 17, पृ. 267.
319. फिक्, वही, पृ. 286.



320. वही, पृ. 297.
321. वही, पृ. 294, 296 : प्राचीन भारत में जादूगरी का खेल बहुत उच्च कोटि में पहुँच गया था
322. वही, पृ. 296.
323. दिवाकर, वही, पृ. 173.
324. महावस्तु, भाग 1, बुद्धि सी. पृ. 248-49; ज. ए. सो. बं., (1921), भाग 21, पृ. 297; ओल्डन वर्ग, बुद्ध (लण्डन, 1882), पृ. 148; मलालसेकेर, पृ. 943; रॉकहिल, वही, पृ. 63; बील, बुद्धि ट रिकार्ड (लण्डन, 1884), भाग 2, पृ. 77.
325. रॉकहिल, वही, पृ. 73.
326. मलालसेकेर, पृ. 943; मुकर्जी, हिंदू सिविलाइजेशन, (बंबई, 1927), पार्ट ii, पृ. 239; विनय टेक्स, सी. बु. ई., पार्ट ii, पृ. 171.
327. वैशाली इक्वेशन, 1950, पृ. 1.
328. लेग्ग, फाह्यान, आक्सफोर्ड, 1886, पृ. 72; सुमंगल विलासिनी, पा. टे. सो., भाग 1, पृ. 309; अंगुत्तर निकाय, पा. टे. सो., भाग 3, पृ. 76.
329. ज. ए. सो. (1921), भाग 17, पृ. 268, अंगुत्तर निकाय, पा. टे. सो., भाग 3, पृ. 76.
330. ज. ए. सो. बं. (1921), भाग 17, पृ. 268; दिव्यावदान (संपा. कावेल व नेल), पृ. 136 : चंद्र मास के आठवें; चौदहवें व पंद्रहवें दिन जानवरों का वध किया जाता था ला, क्षत्रिय (कलकत्ता और शिमला 1922), पृ. 73.
331. महावस्तु, बुद्धि सी. भाग 1, पृ. 215-16; मलालसेकेर, पृ. 779.
332. अंगुत्तर निकाय, पा. टे. सो., भाग 3, पृ. 76; मलालसेकेर, पृ. 780; मुकर्जी, वही, पृ. 243.
333. इको. लाइफ, पृ. 241; सुमंगल विलासिनी (बरमेल एडिशन), पृ. 103-05; चौधरी, हिस्ट्री आफ बिहार पटना, 1958), पृ. 13.
334. वही, पृ. 13.
335. ब्रह्मजाल सत्त.
336. जातक, 4, पृ. 324.
337. जातक, 1, पृ. 430.
338. वही, 2, पृ. 267, 3, पृ. 198.
339. वही, 2, पृ. 253.
340. वही, 3, पृ. 160; 4, पृ. 81-82; 6, पृ. 277.
341. वही, 3, पृ. 46-49, 253; 5, पृ. 282; 6, पृ. 275.
342. वही, 1, पृ. 499.
343. जैन सिद्धांत भाष्य भाग 3, पृ. 50, टिप्पणी 2.
344. द वूमन एंड ट्री या सलभनिजिक इन इंडियन लिटरेचर एंड आर्ट, एकर ओरियंटलिया 6, पृ. 201.
345. जातक, 1, पृ. 489 : ये भुभ्यंन सुरं पिबंति सुराळणो येव किर सो.
346. जातक 2, पृ. 46-49, 4, पृ. 91; 5, पृ. 286.

## धार्मिक दशा

भारतीय संस्कृति आदि काल से ही धर्म प्रधान रही है। ऋग्वेदकालीन धर्म व्यवहार में सरल होते हुए भी उत्कृष्ट था। वैदिक आर्यों ने प्रकृति की संजीवनी शक्ति से संपन्न वैभवों की आराधना की। सूर्य, पवन, जल, अग्नि, पृथ्वी आदि ही तो मानव जीवन के आधार हैं, अतः उन्होंने सभी को देवपद प्रदान किया। उत्तर वैदिक काल में आराध्य देवताओं की संख्या में वृद्धि हो गई। अनेक यम, भूत, प्रेत आदि भी पूजा के पात्र बन गए। अथर्ववेद में अनेक ऐसे धार्मिक विचारों तथा व्यवहारों को मान्यता मिली जो पूर्व काल में अमान्य थे। उत्तर वैदिक युग में अशिक्षित जनता वैदिक वाङ्मय से दूर होने लगी, ब्राह्मण धर्म के व्यवहार पक्ष में जटिलता आने लगी और वैदिक संस्कृत तथा पुरोहित समुदाय के धार्मिक अनुष्ठान जनता के लिए दुर्बोध हो गए।<sup>1</sup>

इस प्रकार जहां एक ओर तो समाज के निम्न वर्ग के धार्मिक व्यवहार को मान्यता देकर धर्म को व्यापक रूप प्रदान किया गया, वहीं ब्राह्मण धर्म में जटिलता को प्रश्रय मिलने के फलस्वरूप समाज में एक संकुचित विचारधारा पनपने लगी। उपनिषद् काल में अध्यात्मवाद पर विशेष चिंतन हुआ और धीरे-धीरे यह विचार प्रबल हो चला कि मोक्ष का मार्ग केवल वैदिक यज्ञों तथा धार्मिक अनुष्ठानों द्वारा ही प्रशस्त नहीं होता है, इसके लिए अन्य साधन भी अपनाए जा सकते हैं। इस युग के आध्यात्मिक चिंतन का ही यह सुफल था कि भविष्य में अनेक धार्मिक मतों का जन्म हुआ।

प्राचीन पालि सूत्र में भगवान बुद्ध के आविर्भाव के समय प्रचलित दर्शन के तिरसठ वादों का उल्लेख किया गया है, जिनमें अनेक ब्राह्मण विरोधी थे।<sup>2</sup> पालि सूत्रों में बुद्ध के समकालीन प्रमुख वादों का उल्लेख है। इस युग के धर्म प्रवर्तकों में प्रमुख थे, गौतम बुद्ध, महावीर और मक्खलि गोसाल। इन तीनों में नैसर्गिक प्रतिस्पर्धा थी। इनके अनुयायी आपस में प्रायः झगड़ा कर बैठते थे। इन तीनों का प्रभाव वैशाली के निवासियों पर काफी अधिक था, लेकिन इनमें भगवान बुद्ध का व्यक्तित्व अपने विरोधियों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली था। उनके सामने सभी नतमस्तक हो गए

और उनके प्रभाव से अन्य मतों के अनुयायी अपने धर्म को छोड़कर बौद्ध संघ में सम्मिलित हो जाते थे जिससे बौद्ध अनुयायियों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई।

वैशाली के लिच्छवि प्रायः सभी धर्मों का सम्मान करते थे, लेकिन भगवान बुद्ध के प्रति उनकी सर्वाधिक श्रद्धा थी। पहले से चले आ रहे ब्राह्मण धर्म की जटिलता को त्यागकर लोग प्रगतिशील धर्मों के अनुयायी बनने लगे। यज्ञ, सावित्री सिद्धांतों को प्रमुखता देना बंद कर दिया, उसकी जगह सहज धर्म के अनुसरण को मोक्ष प्राप्ति का साधन बनाया। प्राचीन चैत्यों आदि को बौद्ध विहारों में परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार वैशाली प्रगतिशील विचारों का प्रचार केंद्र बन गया। लेकिन साथ ही लिच्छवि प्राचीन धार्मिक मान्यताओं को आदर की दृष्टि से देखते थे जिसके लिए भगवान बुद्ध उनकी प्रशंसा करते थे।<sup>3</sup>

### ब्राह्मण मत

बुद्ध के आविर्भाव के पूर्व तथा उसके समय में जो विवरण मिलता है उसके अनुसार ब्राह्मण मत के मानने वाले लोग वैशाली में रहते थे। ईसवी 635 में भारत-भ्रमण के लिए आया चीनी यात्री ह्वेनत्सांग के विवरण से प्रतीत होता है कि वैशाली के लोग धार्मिक प्रवृत्ति के थे। यहां बौद्ध एवं बौद्धतर धर्मों के लोग आपस में मिलकर रहते थे। उसने वैशाली में कई संघाराम देखे जिनमें से अधिकांश खण्डहर की स्थिति में थे। केवल तीन पांच अभी ठीक अवस्था में थे, कुछ में पुजारी रहते थे। उसने दस-बीस देवताओं के मंदिर भी देखे जिनमें अनेक मतानुयायी उपासना करते थे। निर्यथ के अनुयायियों की भी संख्या बहुत अधिक थी।<sup>4</sup>

वैशाली में वैदिक देवता तथा ब्रह्मा या प्रजापति के अतिरिक्त यक्ष की पूजा होती थी।<sup>5</sup> कुछ लोग ब्राह्मण मत के देवी-देवताओं में विश्वास करते थे। देवी-देवता की पूजा, यज्ञ तथा तपस्या आदि प्रथाएं विद्यमान थीं।<sup>6</sup> वैशाली में ही ब्राह्मणों का एक गांव था मोहल्ला था जिसे ब्राह्मण कुण्डपुर के नाम से जाना जाता था।<sup>7</sup> बौद्ध साहित्य में बहुत से साधु समाजों का विवरण मिलता है जो वैदिक परंपरा के अनुसार यज्ञ तथा अग्निहोत्र करते थे।<sup>8</sup> बौद्ध साहित्य में हमें अनेक ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने बाद में ब्राह्मण मत को त्यागकर बौद्ध धर्म में अपनी आस्था प्रगट की। लेकिन उनके अतिरिक्त अन्य बहुत से लोग ब्राह्मण मत के अनुयायी रहे होंगे जिनका उल्लेख बौद्ध साहित्य में नहीं हुआ। लिच्छवि गणराज्य की एक प्रथा के अनुसार लिच्छवि राजाओं का 'मंगल पोक्खरिणी' में स्नान कराकर अभिषेक<sup>9</sup> किया जाता था, इस कार्य को संभवतः ब्राह्मण के द्वारा कराया जाता था।

इसी प्रकार आलार कालम नामक एक आचार्य का आश्रम, जिनसे भगवान बुद्ध ने गृह त्यागने के पश्चात् सर्वप्रथम दीक्षा ली थी, ललितविस्तर के अनुसार वैशाली में था।



आलार कालाम सांख्य दर्शन के आचार्य थे जिनके 300 शिष्य वैशाली के आश्रम में ही रहते थे।<sup>10</sup> सुमंगल विलासिनी के अनुसार लिच्छवि अपने प्राचीन धार्मिक कृत्यों को बहुत सम्मान से करते थे।<sup>11</sup> इसके अतिरिक्त और भी उदाहरण मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि ब्राह्मण मत के कई देवी-देवताओं की पूजा लिच्छवि करते थे। वैशाली में एक बार भयंकर अकाल पड़ा जिससे लोगों में त्राहि-त्राहि मच गई। संपूर्ण वज्जि प्रदेश में महामारी फैल गई जिससे छुटकारा पाने के लिए लिच्छवियों ने कई देवी-देवताओं की पूजा की।<sup>12</sup> वैशाली क्षेत्र में ही गंडक नदी के ऊपरी भाग में वह प्रसिद्ध पूजनीय शालग्रामी तथा नारायणी पत्थर पाया जाता है जिसकी विष्णु के रूप में पूजा ब्राह्मण मतावलंबी लोग करते हैं। संभव है इन पवित्र पत्थरों की भी पूजा लिच्छवि करते रहे हों।<sup>13</sup>

वैशाली में कई प्राचीन चैत्य थे। इनमें उदेन चैत्य, चापालचैत्य, गौतमक चैत्य, साम्बक (सप्ताम्रक) चैत्य, बहुपुत्तक चैत्य, सारन्दद चैत्य आदि का विशेष रूप से बौद्ध ग्रंथों में उल्लेख हुआ है।<sup>14</sup> इन चैत्यों में किसकी पूजा होती थी, इस पर विद्वानों में मतभेद है। बुद्धघोष<sup>15</sup> का मत है कि इन चैत्यों में यक्षों की पूजा होती थी। लेकिन संभवतः सभी चैत्यों में यक्ष-पूजा नहीं होती थी। कुछ विद्वानों का मत है कि इसमें वृक्ष और हेंगी (मिट्टी का ढेला तोड़ने वाला लकड़ी का पाटा) की पूजा होती थी।<sup>16</sup> जैन ग्रंथों के अनुसार चैत्य वह पवित्र स्थल होता था जिसमें बाग, उद्यान और सेवकों के गृह होते थे।<sup>17</sup> राहुल सांकृत्यायन के अनुसार यह उद्यान पुष्करिणी सहित देव स्थान होते थे।<sup>18</sup> नलिनाक्षदत्त के अनुसार वैशाली के आसपास के चैत्यों में देवियों की मूर्तियां रखी होती थीं जिनकी नियमित रूप से पूजा लिच्छवि करते थे।<sup>19</sup>

इस प्रकार कहा जा सकता है कि संभवतः वृक्षों में देवता, अप्सरा, नाग, प्रेतात्मा, यक्ष आदि का निवास स्थान मानकर संतान, पशु, धन आदि की अभिलाषा के लिए वैशाली निवासी अनेक प्रकार के खाद्य एवं पेय लेकर इन पवित्र स्थलों में पूजा के लिए आते थे। गांवों में आज भी महिलाएं पीपल तथा नीम के वृक्ष की पूजा करती हैं। वैशाली के चारों दिशाओं में चौमुखी महादेव के चार मंदिर बाद में कभी बनाए गए थे। जिनमें से दो उत्खनन में मिल चुके हैं। राहुल सांकृत्यायन<sup>20</sup> का मत है कि ये मंदिर चैत्यों पर ही बनाए गए थे।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैशाली में ब्राह्मण मत के मानने वालों की संख्या कम नहीं रही होगी। बौद्ध साहित्य में वैशाली के ऐसे अनेक ब्राह्मणों का उल्लेख मिलता है। वैशाली में कारणपाली<sup>21</sup> नामक एक ब्राह्मण था जो लिच्छवियों के धार्मिक कृत्यों को पूर्ण करवाता था। एक दिन सुबह ही सुबह कारणपाली को पिंगियानी ने आकर बताया कि उसने भगवान बुद्ध को देख लिया है। कारणपाली पिंगियानी के मुख से भगवान बुद्ध की प्रशंसा सुनकर अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसने भूमि पर घुटने टेककर भगवान बुद्ध के प्रति सम्मान व्यक्त किया।<sup>22</sup> पिंगियानी

ब्राह्मण भी वैशाली का ही रहने वाला था। एक अन्य अवसर पर भगवान बुद्ध को सम्मान देने के लिए पांच सौ लिच्छवि भगवान बुद्ध के पास कूटागार पहुंचे। पिंगियानी भी उन लिच्छवियों के मध्य बैठे थे। उसने भगवान बुद्ध की प्रशंसा की गाथा गीत में सुनाई जिसे सुनकर पांच सौ लिच्छवियों ने पिंगियानी को पांच सौ उत्तरीय वस्त्र भेंट किए। पिंगियानी ने इन वस्त्रों को भगवान बुद्ध को अर्पित कर दिया।<sup>23</sup>

इस प्रकार वल्लिय थेर भी वैशाली के ब्राह्मण परिवार से संबंध रखता था। भगवान बुद्ध के वैशाली आगमन पर उनसे प्रभावित होकर वह महा कच्चायन के नेतृत्व में बौद्ध संघ में सम्मिलित हो गया।<sup>24</sup> वैशाली का दासक थेर नामक ब्राह्मण विद्वान भी बौद्ध दर्शन का अध्ययन करने के लिए बौद्ध संघ में सम्मिलित हो गया था।<sup>25</sup> इसी भांति पंचशील समादानिय थेरा भी वैशाली के महाशाल ब्राह्मण के परिवार से संबंधित था।<sup>26</sup> यह पांच वर्ष की अवस्था में ही अर्हंत हो गया था। रोहिणी थेरी भी वैशाली के एक सम्पन्न ब्राह्मण की पुत्री थी।<sup>27</sup> भगवान बुद्ध के वैशाली आने पर उसने उनका प्रवचन सुना जिससे प्रभावित होकर बौद्ध संघ में सम्मिलित हो गई।<sup>28</sup> इस प्रकार अनेक ब्राह्मण अपना प्राचीन मत छोड़कर बौद्ध मत के अनुयायी हो गए थे। इससे आभास मिलता है कि भगवान बुद्ध के आर्विभाव के पूर्व वैशाली में ब्राह्मण मत के अनुयायी काफी संख्या में विद्यमान थे।

वैशाली के अतिरिक्त वैशाली क्षेत्र के आस-पास अनेक धार्मिक संप्रदायों के साधु रहते थे। अंगुत्तर निकाय<sup>29</sup> के विवरण से ज्ञात होता है कि भगवान बुद्ध के समय आजीविक, निग्रंठ, मुण्डसावक, जटिल, परिव्राजक, मार्गदिक, तेदण्डिक, अविर्दुदक, देवधम्मिक, गोतमक आदि धार्मिक संप्रदाय के साधु वैशाली क्षेत्र के आसपास क्षेत्रों (मगध तथा उत्तरी बिहार) में रहते थे।<sup>30</sup> कुछ विद्वानों के मत में इसमें से आजीविक, निग्रंठ तथा मुण्डसावक को छोड़कर शेष सभी ब्राह्मण समुदाय के थे।<sup>31</sup> इनमें परिव्राजकों का संबंध वैशाली से अवश्य रहा था।<sup>32</sup> परिव्राजकों के संभवतः दो वर्ग थे : ब्राह्मण और अन्य तैर्थिक परिव्राजक। जातक कथाओं में तापसों तथा परिव्राजकों के जो विवरण उपलब्ध हैं उसके आधार पर उन्हें संन्यासी एवं वानप्रस्थी माना जाता था।<sup>33</sup> तापस आचार्य का एक आश्रम उरुवेला (बोधगया) में था जिसमें उरुवेला काश्यप के 500 तथा उनके दो भ्राताओं नदी काश्यप तथा गया काश्यप के क्रमशः 300 व 200 शिष्य थे।<sup>34</sup> जटाधारी होने के कारण इन्हें जटिल भी कहा गया है। इसी तरह राजगृह के निकट संजय परिव्राजक अपने 250 शिष्यों के साथ रहते थे। उन्हीं में सारिपुत्र व मोद्गलायन भी थे। भगवान बुद्ध के प्रभाव में आकर संजय के अतिरिक्त अन्य सभी परिव्राजक बौद्ध संघ में सम्मिलित हो गए।<sup>35</sup> वैशाली में परिव्राजकों के कुछ सभी महत्वपूर्ण स्थलों का विवरण मिलता है।

1. एकपुंडरीक : यह वच्छगोत नामक परिव्राजक का निवास स्तल था जो



महावन के समीप स्थित था। एक बार भगवान बुद्ध वच्छगोत्त देखने गए और इस अवसर पर तेविज्जवच्छ गोत्त सुत्त का प्रवचन किया।<sup>36</sup> मूलरूप से वच्छगोत्त राजगृह का रहने वाला था, परन्तु अधिकतर वह भ्रमणशील रहता था। बुद्ध को वह वैशाली, श्रावस्ती, नातिका तथा राजगृह में मिला था।<sup>37</sup> बुद्ध घोष का मत है कि सफेद आम्रवृक्ष (सेतंब रुक्ख) से घिरे होने के कारण इस स्थान को पुंडरीक नाम दिया गया था।<sup>38</sup>

2. पाटिकाराम : पाटिक का पुत्र इसका उपयोग अपने रहने के लिए करता था। यह विचारकों के वादविवाद (तर्क-वितर्क) का केंद्र था।<sup>39</sup>

3. तिन्दुक्खान परिव्राजकाराम : यह पाटिक पुत्र तथा अन्य परिव्राजकों का निवास स्थल था। जालिय नामक संन्यासी वैशाली में भगवान बुद्ध तथा पाटिक पुत्र के मध्य वाद-विवाद का आयोजन करने के लिए इस स्थान को चुना था।<sup>40</sup>

इसके अतिरिक्त परिव्राजकों ने वज्जि क्षेत्र के अन्य कई स्थलों का उपयोग अपने लिए किया। संयुक्त निकाय में एक वादविवाद का विवरण मिलता है। यह वाद-विवाद भगवान बुद्ध के निर्माण के पश्चात् भगवान बुद्ध के अस्तित्व को लेकर परिव्राजक सभिय कच्चान और वच्छगोत्त के मध्य नातिका में हुआ था।<sup>41</sup> सामंदक उक्काचेला नामक स्थान पर सारिपुत्र से एक परिव्राजक 'निर्वाण' पर प्रश्न किया था।<sup>42</sup> एक जातक में चार लिच्छवि बहन सच्चा, लोला, अववादका और पटाचारी की कहानी मिलती है इन लिच्छवि बहनों ने परिव्राजक जीवन ग्रहण किया था। एक बार ये चारों श्रावस्ती में सारिपुत्र ने वाद-विवाद में पराजित हुई थीं।<sup>43</sup>

जटिल तपस्वी भी वज्जि क्षेत्र में थे। वैशाली के समीप कपिनच्चना में एक कप्पिटक थेर रहता था।<sup>44</sup> जो पहले एक जटिल था।<sup>45</sup> इस प्रकार कहा जा सकता है कि वैशाली में ब्राह्मण मत के अनुयायियों तथा परिव्राजकों की संख्या काफी अधिक थीं। यद्यपि इनमें से एक बड़ी संख्या बौद्ध मत के अनुयायी हो गई।<sup>46</sup> लेकिन इस पर भी वैशाली में ब्राह्मण मत के अनुयायियों की संख्या में कोई विशेष कमी नहीं हुई। ब्राह्मण मत के अनुयायी भगवान बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् भी थे जिसका आभास ह्येनत्सांग के विवरण से मिलता है।<sup>47</sup>

## जैन मत

जैन मत का वैशाली से बहुत निकट का संबंध था, क्योंकि चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर का जन्म वैशाली के कुण्डपुर<sup>48</sup> में हुआ था। कुछ दिगंबरी विद्वान कुण्डपुर की पहचान नालंदा ने दो किलोपीटर दूर स्थित 'कुण्डलपुर' से करते हैं,<sup>49</sup> लेकिन यह समीचीन नहीं है, क्योंकि 'महापरिनिब्बान' में दिए गए भगवान बुद्ध की अंतिम यात्रा के विवरण में जो स्थान क्रम से आता है उसके अनुसार कुण्डपुर (कुण्डग्राम) वज्जिदेश के अंतर्गत वैशाली और कोटिग्राम (चेचर) के बीच यह स्थान था।<sup>50</sup>



महापरिनिब्बान सूत के चीनी संस्करण के अनुसार वैशाली से कुण्डपुर 7 ली पर स्थित था।<sup>51</sup> कनिंघम के अनुसार कुण्डपुर वैशाली से 12/5 मील पर स्थित होना चाहिए।<sup>52</sup> अतः आज का वासुकुण्ड ही वर्धमान महावीर स्वामी का जन्म स्थान था।<sup>53</sup> महावीर के जन्म स्थान की तरह उनकी तिथि<sup>54</sup> को भी लेकर पर्याप्त मतभेद हैं। हम यहां उनका विस्तृत विवरण देना उचित नहीं समझते हैं, वे भगवान बुद्ध के समकालीन थे, यह सभी विद्वान स्वीकार करते हैं।

मज्झिमनिकाय<sup>55</sup> के अनुसार निर्ग्रंथ नातपुत्र (भगवान महावीर स्वामी) की मृत्यु की सूचना चुंदकर्मापुत्र ने आनंद को दी, जिसे भगवान बुद्ध तक पहुंचाया गया। इसी तरह के संवाद का विवरण दीघ निकाय (पासादिकसुत्त, 3/6) तथा (संगतिपरियायसुत्त, 3/1) में मिलता है।<sup>56</sup> तीनों प्रकरणों का मूल आत्मा एक है, केवल ऊपर का ढांचा कुछ भिन्न है। प्रथम प्रकरण में भगवान बुद्ध इस संवाद श्रमण के पश्चात् आनंद को उपदेश देते हैं और दूसरे में चुंद को तथा तीसरे प्रकरण में सारिपुत्र पावा में भिक्षुओं को महावीर स्वामी के निर्माण की बात कहकर उपदेश देते हैं।

अतः यह निश्चित हो जाता है कि महावीर स्वामी का निर्वाण भगवान बुद्ध से पूर्व पावा<sup>57</sup> में हुआ था। लेकिन ये प्रकरण या घटना भगवान बुद्ध के निर्वाण-समय के कितने निकट है, कहीं स्पष्ट सूचना नहीं मिलती। के. पी. जायसवाल तथा अन्य विद्वानों ने इसे भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण से दो वर्ष पूर्व के लगभग की घटना मानते हैं।<sup>58</sup> इस आधार पर महावीर स्वामी का निर्वाण 483 ई. पू. से दो वर्ष पूर्व अर्थात् 485 ई. पू. में हुआ होगा। भगवान महावीर स्वामी 72 वर्ष की आयु में निर्वाण को प्राप्त हुए थे। इस प्रकार उनका जन्म 557 ई. पू. में हुआ होगा।

महावीर स्वामी ने भगवान बुद्ध की तरह सांसारिक सुख वैभव को त्यागकर 30 वर्ष<sup>59</sup> की उम्र में प्रव्रज्या ग्रहण की थी। संसार का त्याग कर वे कठोर तपश्चर्या करने लगे जिसका विस्तृत वर्णन आचारंग सूत्र में मिलता है।<sup>60</sup> उन्हें 13वें वर्ष में कैवल्य की उपलब्धि हुई, अर्थात् इस समय उनकी आयु बयालीस वर्ष की थी।<sup>61</sup> जिनत्व प्राप्त कर महावीर निगण्ठ संप्रदाय के प्रमुख हो गए। उन्होंने जैन संघ को सुसंगठित किया। कहा जाता है कि उनके अनुयायियों में प्रमुख थे चौदह हजार जैन मुनि।<sup>62</sup> कल्पसूत्र के अनुसार उनके अनुयायियों के प्रमुख कार्यक्षेत्र थे—राजगृह, नालन्दा, वैशाली, पावा और श्रावस्ती।<sup>64</sup>

वैशाली में भगवान महावीर स्वामी का प्रचार तथा उनके अनुयायियों के संबंध पर कुछ विशद विचार आवश्यक हैं। महावीर स्वामी का कुल 'ज्ञातृक' वज्जि संघ में सम्मिलित घटक<sup>65</sup> होने के कारण यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि उनका प्रभाव लिच्छवियों पर काफी अधिक रहा होगा। इसके अतिरिक्त महावीर स्वामी की मां लिच्छवि राजा चेटक की बहन थीं<sup>66</sup>, इससे भी लिच्छवि लोग इन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते होंगे, ऐसा अनुमान लगाया जाता है। भगवान महावीर स्वामी ने अपने श्रमण

काल के बयालीस वर्ष में से बारह वर्षात्रतु वैशाली तथा वाणिज्य गाम में व्यतीत किया था।<sup>67</sup> इससे भी अनुमान लगा सकते हैं कि वैशाली में जैन अनुयायी काफी संख्या में थे। वैशाली के दो प्रमुख व्यक्ति राजा चेटक<sup>68</sup> तथा लिच्छवि सेनापति सिंह<sup>69</sup> महावीर स्वामी के अनुयायी थे।

इन प्रभावशाली व्यक्तियों के कारण महावीर को अपने मत के प्रचार में काफी सफलता तथा सुविधा मिली होगी। सिंह सेनापति बाद में भगवान बुद्ध का उपासक बन गया।<sup>70</sup> वैशाली में अन्य महत्वपूर्ण व्यक्ति निर्गन्ध सच्चक था जिसके 500 लिच्छवि अनुयायी थे। वह दो बार भगवान बुद्ध से वाद-विवाद करने के लिए गया जिसे भगवान बुद्ध ने चूलसच्चक तथा महासच्चक सुत्त का उपदेश दिया।<sup>71</sup> सच्चक जब पहली बार 500 लिच्छवि अनुयायियों के साथ भगवान बुद्ध को महावन में देखने गया तो भगवान बुद्ध को विशेष आदर भाव प्रदर्शित किए बिना उनमें से अधिकांश चुपचाप बैठ गए।<sup>72</sup> भगवान महावीर स्वामी का वैशाली में पर्याप्त प्रभाव था, यह इससे भी अनुमान लगाया जा सकता है कि भगवान महावीर स्वामी पर शोक प्रकट करने के लिए पावा में 9 लिच्छवि, 9 मल्ल तथा काशी कोशल के 18 गण राजाओं ने एकत्र होकर यह प्रस्ताव पास किया कि हमारे बीच से ज्ञान का प्रकाश चला गया। अब हमें उनके आदर्शों तथा जीवन मूल्यों को स्थायी बनाने के लिए दीपसज्जा करनी चाहिए।<sup>73</sup>

### आजीविक तथा अन्य वेद विरुद्ध मत

जैन धर्म के समान ही आजीविक मत बौद्ध धर्म से अधिक प्राचीन प्रतीत होता है, परंतु इनका भगवान बुद्ध के समय के पूर्व का इतिहास अज्ञात है।<sup>74</sup> इस मत के प्रमुख प्रचारक मक्खलि गोसाल, भगवान बुद्ध तथा महावीर स्वामी के समकालीन थे, और उन दिनों उनको भी समाज में आदर प्राप्त था।<sup>75a</sup> वे प्रायः श्रावस्ती में वास करते थे, पर अपने मत के प्रचार के लिए भ्रमण किया करते थे।<sup>75b</sup> वैशाली भी संभवतः आजीविकों के प्रचार का महत्वपूर्ण केंद्र था। यहां ये नग्न तपस्वी, मुक्त रूप से अपने मत की व्याख्या किया करते थे। यदि इन्हें मूलतः आजीविक मत के सदस्य या मक्खलि गोसाल का अनुयायी न भी स्वीकार करें तो भी यह कहना उचित ही होगा कि इन्होंने आजीविक मत के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।<sup>76</sup>

मक्खलि गोसाल के पूर्ववर्ती अज्जुण गोयम पुत्र, जो अपने वैशिष्ट्य के लिए अपने नाम के साथ गोत्र या पितृनाम भी लगाते थे, बाशम महोदय<sup>77</sup> के अनुसार वे एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे, जो गोसाल के लगभग समकालीन तथा अपने युग में प्रसिद्ध भी थे। भगवती सूत्र<sup>78</sup> के अनुसार एक उपदेश अपने शरीर से निकलकर वैशाली के बाहर कौडियायन चैत्य के निकट, अर्जुण गोयम पुत्र के शरीर में प्रविष्ट कर गया तथा उस शरीर में वह आत्मा 97 वर्ष तक रही, तत्पश्चात् वह आजीविक धर्म



के संस्थापक गोसाल मक्खलि पुत्र के शरीर में प्रविष्ट कर गई जहां 16 वर्ष तक रही। बाशम महोदय अर्जुण गोयम पुत्र का समीकरण कपिलवस्तु के अर्जुन से करते हैं जिनका उल्लेख ललितविस्तर<sup>79</sup> में भावी बुद्ध के गुरु के रूप में किया गया है।<sup>80</sup> यह शाक्य गुरु, जो संभवतः गौतम गोत्र<sup>81</sup> के थे, तथा बौद्ध परंपरा के अनुसार भगवान बुद्ध के पूर्ववर्ती थे, इस प्रकार मक्खलि गोसाल के भी पूर्ववर्ती हुए।<sup>82</sup> संभवतः यह शाक्य गुरु घुमक्कड़ प्रवृत्ति के तपस्वी थे, जो अपने मत के प्रचार में वैशाली आए, जहां वे युवा गोसाल के संपर्क में आए और अपने विचारों से प्रभावित किया।<sup>83</sup>

यह भी हो सकता है कि काशी, कोशल, मगध, विदेह (वैशाली सहित) तथा चंपा का क्षेत्र गोसाल के समानधर्मी विचारकों का केंद्र रहा हो जहां वे जनसमूह का समर्थन प्राप्त करने के लिए घूमा करते थे, और समर्थन प्रायः मिला भी।<sup>84</sup> एक जातक में गुणकस्सप नामक आजीविक का उल्लेख मिलता है जो अपनी शिष्य मंडली के साथ मिथिला से थोड़ी दूर मृगवन में निवास करता था। वहां की जनता उनका बड़ा सम्मान करती थी। एक दिन उन्होंने विदेहराज अंगीति को अपने सिद्धांतों का उपदेश देते हुए कहा, 'हे राजन्, धर्म के आचरण से कोई भला बुरा अथवा फल नहीं मिलता है, परलोक नाम की कोई वस्तु नहीं है, कौन व्यक्ति वहां से लौटकर यहां आया है? सभी जीव समान हैं, न किसी से सत्कार लेना चाहिए, न किसी को देना चाहिए। शक्ति या साहस नाम की कोई चीज नहीं है, शौर्य अथवा वीर्य हो ही कैसे सकता है जबकि सभी नियति के वश में हैं, जैसे कि नाव में रस्सी। सभी प्राणियों को जो मिलना चाहिए वह मिल जाता है, फिर दान से क्या लाभ? दान से कुछ लाभ नहीं होता—दाता असहाय तथा दुर्बल होता है, जो दाता है वह मूर्ख है, दान लेने वाला ही चतुर है।'<sup>85</sup> भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण की सूचना महाकस्सप को एक आजीविक द्वारा मिली थी।<sup>86</sup>

विनय पिटक<sup>87</sup> की एक कहानी से वैशाली में आजीविकों का अस्तित्व सिद्ध होता है। एक दिन भगवान बुद्ध के शिष्यों को वैशाली में आवश्यकता से अधिक भोजन भिक्षा में मिल गया। उन्होंने अतिरिक्त भिक्षा उन तपस्वियों को दे दी जो छोड़ा भोजन स्वीकार करते थे। वह आजीविक यह घटना जब अपने एक आजीविक साथी को सुना रहा था तो एक भिक्षु ने उन दोनों की बात सुन ली। उसने भगवान बुद्ध के पास जाकर इस बात की सूचना दी। इस पर भगवान बुद्ध ने एक नियम प्रतिपादित कर भिक्षा में मिले अतिरिक्त भोजन को दूसरे मत के तपस्वियों को देने पर रोक लगा दी। इस घटना से प्रतीत होता है कि आजीविकों तथा बौद्धों के आपसी संबंधों में कटुता पैदा होने लगी थी।<sup>88</sup>

दीघ निकाय के पाटिक सुत्त<sup>89</sup> में उल्लेख है कि कंदरमसुक और पाटिकपुत्त नामक दो नग्न तपस्वी वैशाली में रहते थे। कंदरमसुक सात आजीवन व्रत का पालन करता था जिसमें से प्रथम व्रत संगठित आजीविक समुदाय से लिया गया था। यह प्रथम



व्रत था, 'जब तक मैं जीवित रहूंगा, नग्न रहूंगा और वस्त्र नहीं धारण करूंगा' (यावज्जीवन अचेलको) ! यावज्जीवन सूत्र, जो सात व्रतों में प्रथम है, बाशम<sup>90</sup> की राय में अभिव्यंजक है। उनकी राय में आजीविक शब्द संभवतः यावज्जीवन (जीवन-पर्यन्त) शब्द से बना है।

इसी तरह पूरण कस्सप मक्खलि गोसाल के नियतिवाद के समर्थक थे।<sup>91</sup> इनका भी प्रभाव वैशाली में काफी था। लिच्छवि अभय<sup>92</sup> और महालि<sup>93</sup> तथा विचरण करने वाले वच्छगोत्र<sup>94</sup> उनसे परामर्श लिया करते थे।

## बौद्ध मत

भगवान बुद्ध के प्रारंभिक काल में वैशाली क्षेत्र में ब्राह्मण, जैन, आजीविक आदि सभी मतों का प्रभुत्व था, लेकिन भगवान बुद्ध के वैशाली आगमन से उनके व्यक्तित्व तथा अत्यंत व्यावहारिक एवं प्रगतिशील मत के कारण लिच्छवि उनकी ओर आकृष्ट हुए, और अपने पूर्व धर्म को त्यागकर भगवान बुद्ध के अनुयायी होने लगे।<sup>95</sup> स्थिति यह हो गई कि वैशाली में भगवान बुद्ध की उपस्थिति अन्य मतों के प्रचारकों के लिए ईर्ष्या का विषय बन गई।<sup>96</sup> अन्य मतों के अनुयायियों व तपस्वियों को भिक्षा तक मिलने में कठिनाई होने लगी।<sup>97</sup> वैशाली का वैभव तथा लिच्छवियों का स्नेह देखकर बुद्ध का मन वैशाली छोड़ने का नहीं होता था।<sup>98</sup> अंतिम बार वैशाली छोड़ते समय बीमार होते हुए भी भगवान बुद्ध ने वैशाली के सुंदर चैत्यों का विहार किया।<sup>99</sup>

भगवान बुद्ध का कई बार आगमन हुआ था।<sup>100</sup> प्रथम बार वैशाली आगमन तब हुआ, जब वैशाली में महामारी फैली थी जिससे वैशाली के निवासी बुरी तरह त्रस्त थे।<sup>101</sup> इस भयंकर विपत्ति से मुक्ति पाने के लिए लिच्छवियों की सभा में भगवान बुद्ध को वैशाली आमंत्रित करने का निर्णय लिया गया। इस कार्य हेतु महालि नामक लिच्छवि, जो मगधराज बिंबसार का मित्र था, को राजगृह भेजा, जहां भगवान बुद्ध गिद्धकूट पर्वत पर विहार कर रहे थे। भगवान बुद्ध ने महालि का निमंत्रण बिंबसार के अनुरोध पर स्वीकार किया और 500 भिक्षुओं के साथ वैशाली के लिए प्रस्थान किया। मगधराज बिंबसार स्वयं भगवान बुद्ध को गंगा तट तक छोड़ने गया। गंगा के उस पार लिच्छवि भगवान बुद्ध के स्वागत हेतु उपस्थित थे। उस पार उतरने पर लिच्छवियों ने उनका अपूर्व स्वागत किया। गंगा से लेकर वैशाली नगर तक का मार्ग तोरणद्वारों से सुसज्जित किया गया था। भिक्षुओं की सुविधा के लिए मार्ग में विशेष प्रबंध किया गया था। नाव से उतरकर जैसे ही भगवान बुद्ध ने वज्जि भूमि पर पदार्पण किया, आकाश में जोर की गर्जना हुई और मूसलाधार वर्षा होने लगी।

भगवान बुद्ध के वैशाली नगर के निकट पहुंचते ही वज्जि क्षेत्र से प्रेतात्माएं भय से भाग गईं और संपूर्ण प्रदेश से महामारी विदूरित हो गई। वैशाली नगरी में

सायंकाल भगवान बुद्ध ने 'रतनसुत्त' का मुक्तकंठ से उच्चारण किया। इसी 'रतनसुत्त' का उच्चारण करते हुए आनंद ने अन्य लिच्छवि कुमारों के साथ नगर की चारों दिशाओं में भ्रमण किया। 'रतनसुत्त' के पाठ से वैशाली नगरी से भी प्रेतात्माएं तथा महामारी का प्रभाव समाप्त हो गया। इसके पश्चात् वैशाली के निवासी भगवान बुद्ध के दर्शन हेतु संथागार में एकत्रित हुए। महावस्तु की कथा के अनुसार भगवान बुद्ध ने 84000 की विशाल भीड़ में 'रतनसुत्त' का प्रवचन किया।<sup>102</sup> यह सुत्त 'गंगारोहण सुत्त' के रूप में भी जाना जाता है।<sup>103</sup> यह सुत्त महावस्तु<sup>104</sup> में 'स्वस्थयन गाथा' के रूप में वर्णित है। कहा जाता है<sup>105</sup> कि भगवान बुद्ध लगातार सात दिन तक सुत्त का प्रवचन करते हुए दो सप्ताह वैशाली में ठहरे थे। प्रतिदिन 84000 लोग<sup>106</sup> सत्य का अनुभव करते थे। इसके बाद भगवान बुद्ध वैशाली से राजगृह लौट आए। राजगृह लौटने पर बिंबसार ने विशाल उत्सव का आयोजन किया। भगवान बुद्ध ने इस यात्रा में प्राप्त सम्मान का वर्णन करने के लिए शंखजातक का पाठ भिक्षुओं के समक्ष किया।<sup>107</sup>

भगवान बुद्ध के इस प्रथम वैशाली दर्शन की निश्चित तिथि ज्ञात नहीं है। बुद्ध वंस अट्ठ कथा<sup>108</sup> के अनुसार भगवान बुद्ध बोधि प्राप्ति के पांचवें वर्ष वैशाली गए थे और वर्षाकाल व्यतीत किया था। लेकिन उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि भगवान बुद्ध शीघ्र ही राजगृह लौट आए थे। संभवतः बुद्धवंस अट्ठकथा में वर्णित वैशाली दर्शन के पूर्व बोधि प्राप्ति के पश्चात् तीसरे वर्ष उक्त प्रथम वैशाली दर्शन किया था।<sup>109</sup> डिक्शनरी आफ पाली प्रापरनेक्स<sup>110</sup> के रचयिता का मत है कि यह घटना उस वर्ष की है जब बिंबसार ने भगवान बुद्ध को वेणुवन दान में दिया था। भगवान बुद्ध वहां दो माह ठहरे थे। वर्षाकाल के प्रारंभ में लिच्छवियों के अनुरोध पर वैशाली दर्शन को गए और रतनसुत्त का प्रवचन किया। इसका अर्थ यह हुआ कि बोधि प्राप्ति के प्रथम वर्ष की यह घटना है। लेकिन यह सोचना अनुचित नहीं होगा कि भगवान बुद्ध को बोधि प्राप्ति के पश्चात् लोकप्रिय होने में कुछ समय अवश्य लगा होगा, जिसके पश्चात् लिच्छवि उनसे प्रभावित हुए होंगे।<sup>111</sup>

इस प्रकार भगवान बुद्ध के प्रथम वैशाली दर्शन में ही लिच्छवि उनसे बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। उनका प्रवचन सुनने के लिए अपार जनसमूह संथागार में इकट्ठा होता था। भगवान बुद्ध के पदार्पण करते ही वैशाली क्षेत्र में वर्षा हुई तथा अकाल के कारण फैली महामारी समाप्त हो गई, इससे लिच्छवियों को भगवान बुद्ध के व्यक्तित्व में तेज दिखाई पड़ा होगा जिससे वे उनके प्रशंसक बन गए। भगवान बुद्ध भी लिच्छवियों की संपन्नता, सौंदर्य तथा गणतांत्रिक मूल्यों में दृढ़ आस्था आदि के कारण बहुत अधिक प्रेम करते थे तथा सर्वथा उन्नति की कामना रखते थे। लिच्छवियों की तुलना वे तवांतिस (तैतिस) देवता से करते थे तथा उनके कल्याण के लिए सर्वथा सोचते रहते थे।<sup>112</sup> एक बार वैशाली के सारनंद चैत्य पर विहार करते हुए वज्जियों के



सात अपरिहानिया धम्मा' का उल्लेख करते हुए भगवान बुद्ध ने कहा कि वज्जि लोग जब तक इन 'सात अपरिहानिया धम्मा' का पालन करते रहेंगे, उनका अपकर्ष नहीं होगा।

लिच्छवियों की इन्हीं सात महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को भगवान बुद्ध ने बौद्ध संघ के भिक्खुओं को संघ की निरंतर प्रगति के लिए आवश्यक बताया। भगवान बुद्ध लिच्छवियों के कठिन परिश्रम को देखकर उनकी प्रशंसा किया करते थे।<sup>113</sup> भगवान बुद्ध का लिच्छवियों पर इतना अधिक प्रभाव हो गया था कि टुष्ट तथा अनुत्तरदायी चरित्र के लिच्छवि युवक भी बुद्ध के समक्ष श्रद्धा से खड़े रहते थे। एक बार भगवान बुद्ध वैशाली के निकट महावन में एक वृक्ष के नीचे ध्यान मुद्रा में (पद्मासन में) बैठे थे। कुछ उच्छृंखल लिच्छवि युवक हाथ में धनुष लिए आखेट करते हुए उधर से निकले। भगवान बुद्ध को देखते ही उन युवकों ने अपने धनुष फेंक दिए और कुत्तों के झुंड को दूर भेजकर भगवान बुद्ध के समीप चुपचाप हाथ जोड़कर बैठ गए। महानाम भगवान बुद्ध का प्रभाव देखकर आश्चर्यचकित रह गया।<sup>114</sup> भगवान बुद्ध का लिच्छवियों के प्रति अत्यधिक स्नेह था, इसका आभास इससे मिलता है कि जब भगवान बुद्ध अंतिम बार वैशाली छोड़ने लगे तो उन्होंने अपना प्रिय भिक्षापात्र स्मृति के रूप में लिच्छवियों को भेंट कर दिया।<sup>115</sup>

लिच्छवि वैसे तो सभी धर्मों को आदर की दृष्टि से देखते तथा उनके प्रचारकों के प्रवचन सुनते थे।<sup>116</sup> लेकिन भगवान बुद्ध जब वैशाली में होते तो अन्य धर्म के विचारकों के प्रवचन तथा तपस्वियों की उपेक्षा करके भगवान बुद्ध के पास प्रवचन सुनने के लिए एकत्र होते थे। बौद्ध भिक्खुओं को ही अधिकांश लिच्छवि भिक्षा देते थे। इससे कभी-कभी अन्य मतों के प्रचारक क्षुब्ध होकर लिच्छवियों को भड़काने के लिए भगवान बुद्ध के विरुद्ध झूठे प्रचार भी करने लगते थे। लेकिन उनका कोई विशेष प्रभाव नहीं होता था। इस तरह का उदाहरण सिंह सेनापति के संबंध में देखते हैं जो जैन अनुयायी था। बाद में उसके बौद्ध उपासक बन जाने पर निगंथ नातपुत्र के प्रचारक भगवान बुद्ध के विरुद्ध अफवाहें गढ़कर प्रचार करने लगे।<sup>117</sup> इसी तरह अन्य बहुत से विरोधी उनके विरुद्ध प्रचार<sup>118</sup> करते घूमा करते और भगवान बुद्ध को वाद-विवाद करने के लिए चुनौती दिया करते थे। लेकिन भगवान बुद्ध के व्यक्तित्व तथा विद्वतापूर्ण तर्क के समक्ष नतमस्तक होकर बहुत से विरोधी उनके अनुयायी बन गए। इस तरह का उदाहरण हम निगंथ पुत्र सच्चक के संबंध में देखते हैं जिसने 500 लिच्छवियों की एक सभा में भगवान बुद्ध को तर्क-वितर्क करने के लिए चुनौती दी, और तर्क में पराजित होने पर वह भगवान बुद्ध का शिष्य बन गया।<sup>119</sup>

इस प्रकार भगवान बुद्ध वैशाली में रहते हुए अनेक प्रवचन—महालि सुत्त, महासीहनाद सुत्त, चुल्लसच्चक सुत्त, महासच्चक सुत्त, तेविज्ज सुत्त, वच्छगोत्त सुत्त, सुनक्खत्त सुत्त तथा रत्तन सुत्त किए।<sup>120</sup> परिणामस्वरूप वैशाली के बहुत से निवासी



बौद्ध अनुयायी बनने लगे। जिज्ञासु लिच्छवि भगवान बुद्ध से प्रायः दर्शन संबंधी प्रश्न करते जैसे, निर्वाण,<sup>121</sup> निर्वाण प्राप्त करने का अर्थ,<sup>122</sup> दोस, मोह, अदोस, अमोह,<sup>123</sup> तथा शील, तप<sup>124</sup> आदि की शुद्धता के प्रभाव पर प्रश्न करते और हृदय पर प्रभाव डालने वाला उत्तर पाकर बौद्ध धर्म के अनुयायी बन जाते थे। एक बार भगवान बुद्ध जब सारंदद चैत्य पर विहार कर रहे थे तो 500 लिच्छवि उनके दर्शन के लिए आए। उन्होंने भगवान बुद्ध से दर्शन संबंधी पांच प्रकार के दुर्लभ बहुमूल्य रत्न—हत्थि रतन, अस्स रतन, मणि रतन, इत्थि रतन तथा गहपति रतन पर प्रश्न किया। भगवान बुद्ध ने इन पांच दुर्लभ रत्नों पर बोलते हुए अप्रत्याशित ढंग से उनकी समस्या का समाधान किया।<sup>125</sup> एक अन्य अवसर पर विभिन्न रंग के वस्त्र, आभूषण तथा साज-सम्मान से सुज्जित अश्वों के साथ 500 लिच्छवियों ने भगवान बुद्ध की पूजा करने के लिए आए। इन्हीं लिच्छवियों के बीच में पिंगयानी नामक ब्राह्मण भी बैठा था। उसने भगवान बुद्ध की प्रशंसा की गाथा सुनाई जिससे प्रभावित होकर पांच सौ लिच्छवियों ने उसे पांच सौ उत्तरीय वस्त्र उपहार में दिए। पिंगयानी ने इसे भगवान बुद्ध को अर्पित कर दिया। भगवान बुद्ध इस उपहार को स्वीकार कर पांच दुर्लभ रत्नों पर प्रवचन किए।<sup>126</sup>

भगवान बुद्ध लिच्छवियों के चरित्र निर्माण में भी सहयोग दिया करते थे। एक निर्दयी क्रूर तथा दुष्ट लिच्छवि कुमार जब अपने सगे-संबंधी-मित्र के समझाने पर सही रास्ते पर नहीं आया तो वे उसे भगवान बुद्ध के पास ले गए। भगवान बुद्ध का उपदेश सुनकर उसका हृदय-परिवर्तन हो गया।<sup>127</sup>

बौद्ध धर्म के इतिहास में एक महत्वपूर्ण संशोधन भी वैशाली में हुआ था। वह था, नारी को संघप्रदेश की अनुमति और भिक्षुणी संघ की स्थापना। यह घटना भगवान बुद्ध के बोधिप्राप्ति के पांचवें वर्ष की है। भगवान बुद्ध कपिलवस्तु से वैशाली आकर महावन के कूटागार में विहार कर रहे थे। एक दिन भगवान बुद्ध की सौतेली मां महाप्रजापति गोतमी 500 शाक्य नारियों के साथ कपिलवस्तु से वैशाली आई और बौद्ध संघ में सम्मिलित होने की इच्छा व्यक्त की। भगवान बुद्ध बौद्ध संघ में नारी प्रवेश को उचित नहीं मानते थे, लेकिन अपने प्रिय शिष्य आनंद के अनुरोध पर उन्होंने नारियों को संघ प्रवेश की अनुमति प्रदान कर दी लेकिन इसके साथ ही भिक्षु नारियों को आठ कठिन शर्तों (अट्ठ गरुधम्मा) का पालन करने का आदेश दिया।<sup>128</sup> वैशाली में ही विनय पिटक के अनेक प्रकार के नए नियमों का निर्माण तथा पूर्व नियमों में संशोधन हुआ।<sup>129</sup> यह उस समय के पांच प्रमुख नगरों श्रावस्ती, राजगृह, कौशांबी, वैशाली तथा कपिलवस्तु में एक था जहां विनय के नियम बनाए गये थे।<sup>130</sup>

बौद्ध ग्रंथों में बौद्ध मत के माननेवाले प्रमुख लिच्छवियों के नाम मिलते हैं। इनसे भी लिच्छवियों पर भगवान बुद्ध के प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है।

इनमें पुरुष-स्त्री दोनों थे।<sup>131</sup> इनके नाम इस प्रकार हैं—नंदक (लिच्छवियों का महामात्य), अजित (लिच्छवि सेनापति), सीहा (लिच्छवियों का सेनापति सिंह), दुम्मुख (लिच्छवि प्रमुख), महालि, महानाम (अंबपाली का पिता), भृक्षि, अम्बसक्खर (लिच्छवि प्रमुख), साल्ह, अभय, पंडितकुमारक, अंजन वनिय थेर (वज्जि पुत्र), रमणीय कुटिकथेर (वैशाली निवासी), पियंजह थेर (वैशाली का नागरिक), वसभथेर (लिच्छवि राजा के परिवार का सदस्य), वज्जि पुत्र थेर (वैशाली के अमात्य परिवार से संबंधित), वज्जि पुत्र थेर (वज्जि का पुत्र, लिच्छवि परिवार ने संबंधित), कुटि विहारी थेर (वज्जि क्षेत्र का निवासी), वड्ढमान थेर (वैशाली के लिच्छवि राजा के परिवार से संबंधित), विमल कौण्डिन्य थेर (बिंबसार से उत्पन्न अंबपाली का पुत्र), सीवाली थेर (महालि का भाई), अंबपाली (राजगणिका), सीहा थेरी (सिंह सेनापति की बहन), वासिद्धी थेरी, जयंती, सुप्पवासा कोलिय धीता (महालि की पत्नी) सच्चा, लोला, अववादका, पटाचारा (सच्चक की बहनें), उग्ग (वैशाली का गृहपति), किरपटिक (वैशाली गृहपति), कोसल बिहारी थेर (वैशाली निवासी), वल्लिय थेर (वैशाली के ब्राह्मण परिवार से संबंधित), सुयाम थेर (वैशाली के ब्राह्मण परिवार से संबंधित), रोहिणी थेरी (वैशाली के ब्राह्मण की पुत्री), विमला थेरी (संभवतः अंबपाली की पुत्री), थेरिका (वैशाली के एक परिवार से संबंधित) आदि।<sup>132</sup>

### वैशाली क्षेत्र के प्रसिद्ध बौद्ध स्थल

वैशाली आने पर भगवान बुद्ध जहां ठहरते तथा प्रवचन करते थे वे स्थल कालांतर में पवित्र स्थल के रूप में विख्यात हो गए। इसका उल्लेख बौद्ध ग्रंथों में हुआ है। कुछ स्थानों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

बौद्ध स्थलों में सबसे अधिक प्रसिद्ध वैशाली सीमा से हिमालय तक फैला महावन था।<sup>133</sup> इसी महावन में शिखर युक्त स्तंभों पर बना कूटागार था जिसका मुख उत्तर से दक्षिण की ओर था।<sup>134</sup> फाह्यान ने इसे विमान सदृश दो गलियारे वाला भवन कहा है।<sup>135</sup> कूटागार के समीप मर्कटहृद (बंदर पोखर) सरोवर था<sup>136</sup> जिसकी पहचान आधुनिक उफरौल गांव में स्थित रामकुण्ड सरोवर से की जा चुकी है। मर्कटहृद के समीप अशोक का बनवाया सिंह शीर्ष युक्त स्तंभ है जिसके सन्निकट आनंद के अर्द्धांग अवशेष पर बना स्तूप है।<sup>137</sup> स्तूप से थोड़ी दूर पर वह स्थान है जहां एक बंदर ने भगवान बुद्ध को शहद लाकर दिया था।<sup>138</sup> सरोवर के उत्तरपूर्व कोण पर ह्वेनत्सांग को बंदर की एक आकृति भी मिली थी।<sup>139</sup>

भगवान बुद्ध का दूसरा प्रिय स्थान वैशाली के चारों ओर स्थित चैत्य थे। बौद्ध ग्रंथों में उदेन चैत्य, चापाल, मर्कटहृद चैत्य, गोतमक चैत्य, साप्तांबक चैत्य, बहुपुत्रक चैत्य, सारंदद चैत्य का उल्लेख हुआ है। इन चैत्यों की स्थिति के विषय में अप्रत्यक्ष सूचना बौद्ध ग्रंथों में मिलती है। वैशाली में कंदरमसुक नामक एक नग्न



तपस्वी रहता था, जो सात आजीवन व्रत का पालन करता था, जिनमें से एक व्रत यह भी था कि वह पूर्व में उदेन चैत्य, दक्षिण में गोतमक चैत्य, पश्चिम में साप्तांवक चैत्य तथा उत्तर में बहुपुत्रक चैत्य के आगे कभी नहीं जाएगा।<sup>140</sup> राहुल सांकृत्यायन का मत है कि ये चारों चैत्य वैशाली के चारों दिशा में वहां स्थित थे जहां बाद में चार चौमुखी महादेव मंदिरों का निर्माण किया गया, जिनमें से एक चौमुखी महादेव का मंदिर वाणिज्य ग्राम तथा एक कपनछपरा में प्राप्त हुए हैं।<sup>141</sup> सारंदद तथा चापाल चैत्य संभवतः कूटागार से थोड़ी दूर पर ही कहीं स्थित थे, क्योंकि भगवान बुद्ध कभी-कभी कूटागार से टहलते हुए सारंदद<sup>142</sup> तथा चापाल<sup>143</sup> चैत्य पहुंच जाते थे। इन्हीं दोनों के सन्निकट मर्कटहृद चैत्य भी था जो मर्कटहृद<sup>144</sup> के किनारे स्थित था।

उपरोक्त प्रमुख स्थलों के अतिरिक्त अन्य कुछ महत्वपूर्ण स्थल वैशाली क्षेत्र में थे जिनका संबंध बौद्ध मत से था। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

1. अंबपाली वन : यह अंबपाली द्वारा भगवान बुद्ध को भेंट किया गया आम्रवन था।<sup>145</sup> इस उपवन में भगवान बुद्ध ने कुछ सुत्तों का प्रवचन भी किया था।<sup>146</sup> संयुक्त निकाय में अनिरुद्ध तथा सारिपुत्र के मध्य एक वार्तालाप का उल्लेख मिलता है जो इस वन में हुआ था।<sup>147</sup> फाह्यान के विवरण के अनुसार यह नगर के दक्षिण तीन ली की दूरी पर स्थित था। पाटलिपुत्र से आने वाले मार्ग के पश्चिम में यह पड़ता था।<sup>148</sup>

2. बालिका छवि या बालुकाराम : महावस्तु के अनुसार बौद्ध संघ में सम्मिलित होने वाली महिला के नाम पर इसका नाम बालिका छवि पड़ा।<sup>149</sup> विनय पिटक में इस स्थान का नाम बालिकाराम लिखा है।<sup>150</sup> जिसकी पहचान बालुकाराम से की जा सकती है। यहां भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के सौ वर्ष पश्चात् द्वितीय महासंगीति का आयोजन हुआ था। ह्वेनत्सांग के विवरण के अनुसार महासंगीति के स्थान की याद में अशोक ने एक स्तूप बनवाया, जो सिंह स्तंभ के समीप था।<sup>151</sup>

3. बेलुवगामक : भगवान बुद्ध ने अंतिम वर्षावास इसी गांव में किया था।<sup>152</sup> यह संभवतः वैशाली नगरी के दक्षिण द्वार के समीप था।<sup>153</sup>

4. कोटिग्राम : यह गंगा से लगभग एक गव्यूति की दूरी पर<sup>154</sup> स्थित वज्जियों का गांव था। इसके बारे में पर्याप्त मतभेद है। भगवान बुद्ध की अंतिम यात्रा में यह स्थान गंगा और वैशाली के मध्य प्रथम विश्राम-स्थल था।<sup>155</sup> दूसरा विश्राम-स्थल नादिक था। संभवतः वर्तमान हाजीपुर में या उसके सन्निकट यह स्थान था।<sup>156</sup> भगवान बुद्ध ने यहां वज्जि सुत्त का प्रवचन भी किया था।<sup>157</sup>

5. नादिक (आतिक) : यह कोटिग्राम (हाजीपुर) और वैशाली के मध्य स्थित था।<sup>158</sup> दीघ निकाय की टीका में बुद्ध घोष कहते हैं कि नादिका सरोवर के सन्निकट होने के कारण इसे नादिक कहा जाने लगा।<sup>159</sup> रिस डेविड्स के अनुसार नादिक (या



जातिक जिससे महावीर स्वामी संबंधित थे) कुल के लोगों के रहने के कारण इसका नाम नादिक पड़ा।<sup>160</sup> स्मिथ के अनुसार नादिक गाम लालगंज (हाजीपुर से 18 कि.मी.) के समीप स्थित होना चाहिए।<sup>161</sup> महावीर स्वामी का जन्म कुण्डपुर में हुआ था जो वैशाली के उत्तर में स्थित था, जबकि लालगंज वैशाली के दक्षिण में है। अतः यह सुझाव दिया जा सकता है कि संभवतः कुछ ज्ञातृक क्षत्रियों का परिवार अन्य क्षत्रिय परिवारों के साथ क्षत्रिय कुण्डपुर में भी रहता था। नादिक (जातिक) गांव में केवल ज्ञातृक क्षत्रिय ही रहते थे जिससे इनका नाम नादिक पड़ा।

नादिक (जातिक) में भगवान बुद्ध ने कई सुत्तों का प्रवचन किया था।<sup>162</sup> जातिक (नादिक) में भगवान बुद्ध के कई अनुयायी थे।<sup>163</sup> नादिक के समीप ही गोसिंग साल वन था जहां भगवान बुद्ध ने 'चूल गोसिंग सुत्त' तथा 'महा गोसिंग सुत्त' का प्रवचन किया।<sup>164</sup> संभवतः यह वन वैशाली तक फैला था या महावन का एक भाग था।

उपरोक्त सभी स्थान लिच्छवियों के राज्य में थे। इन स्थानों से वैशाली क्षेत्र में बौद्ध धर्म के प्रभाव का अनुमान लगाया जा सकता है। इन स्थानों के अतिरिक्त वैशाली नगरी के बाहर कुछ गांव भी थे जहां भगवान बुद्ध अंतिम यात्रा में गए थे। भगवान बुद्ध वैशाली नगरी के पश्चिम द्वार<sup>165</sup> से निकलकर यात्रा में जब चले तब क्रमशः भण्ड गाम, हत्थिगाम, अंबगाम, जंबूगाम तथा भोग नगर पड़े थे।<sup>166</sup> आज इस स्थानों की पहचान करना कठिन है। संभवतः यह सभी स्थान वैशाली नगरी के पश्चिम में स्थित थे। इस स्थानों के पश्चात् भगवान बुद्ध पावा पहुंचे थे। पावा की पहचान में भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है।<sup>167</sup>

## वैशाली बौद्ध संगीति

भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के ढाई शताब्दियों के अंदर ही बौद्ध ग्रंथों में तीन बौद्ध संगीतियों के वर्णन मिलते हैं। बौद्ध ग्रंथों को पढ़ने से पता चलता है कि बौद्ध धर्म का जैसे-जैसे विस्तार होता गया उसमें नई-नई समस्याएं जन्म लेने लगीं। बौद्ध संघ में धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले तथा बौद्धमत के विरोधी मतों के अनुयायी भिक्खु बनकर प्रविष्ट हो गए, उन्होंने भगवान बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित नियमों की अवहेलना कर अपनी सुविधानुसार संघ के नियमों को परिवर्तित कर लिया। इस प्रवृत्ति का बहुत ज्यादा विस्तार हो जाने पर बौद्ध भिक्खुओं के दो वर्ग हो गये। इन दो वर्गों के मतभेदों को समाप्त करने के लिए इन बौद्ध संगीतियों का आयोजन किया जाता था। वैशाली में भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात् द्वितीय संगीति का आयोजन इसी प्रकार के दो वर्गों के मतभेद के कारण हुआ था। भिक्खु संघ में ऐसे लोग, जिनमें आध्यात्मिक साधना की सच्ची लगन का अभाव था तथा जो संघ के नियम एवं उसकी आचारसंहिता ने संतुष्ट नहीं थे, भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिपादित नियम

की अवहेलना करनी शुरू कर दी। ऐसे वर्ग के भिक्षुओं ने वैशाली की बौद्ध संगीति में दस निषेधादेशों को रद्द करने का प्रयत्न किया।<sup>168</sup> यह भी कहा जाता है कि कुछ भिक्षु इन निषिद्ध कर्मों का प्रत्यक्ष रूप से आचरण करने लगे। इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि कुछ भिक्षु भगवान बुद्ध द्वारा उपदिष्ट आदर्शों के पालन में असमर्थ रहे। इसके दो प्रमुख कारण प्रतीत होते हैं। प्रथम यह कि सभी भिक्षुओं में चरित्र की दृढ़ता का अभाव, दूसरा धर्मानुयायियों की अतिभक्ति, जिसमें भिक्षुओं को सुख-सुविधा की प्रचुर सामग्री अनायास मिलती रही। चुल्लवग्ग<sup>169</sup> तथा जातकों के विवरण से प्रतीत होता है कि कुछ अर्थलोलुप भिक्षु धन संग्रह करने लगे। मच्छ उदान जातक (288) में एक श्रमण द्वारा अपने उपज्झाय के एक सहस्र कर्षापणों को हड़प लेने का उल्लेख मिलता है। कतिपय भिक्षु ऐश्वर्य सामग्री का उपभोग करने लगे<sup>170</sup> जो भिक्षु जीवन के आदर्शों के विपरीत था। चुल्लवग्ग<sup>171</sup> में उल्लेख मिलता है कि कीटागिरी विहार के भिक्षु पुष्प मालाएं बनाकर दर्शन के लिए प्रतिष्ठित कुलों से आई महिलाओं तथा नवयुवतियों को देते थे। वे कुसमय भोजन तथा मद्यपान करते तथा नृत्य, गीत, वादन, खेलकूद, द्युत, रथ दौड़, तीरंदाजी, हाथी-घोड़े की सवारी, तलवार चलाना, मल्ल युद्ध तथा मुक्केबाजी आदि में भाग लेते थे। इस विहार में नर्तकियों को भी आमंत्रित किया जाता था।

इस प्रकार भिक्षु संघ में एक वर्ग सुख-सुविधाओं को बढ़ाने में व्यस्त रहने लगा। जब सच्चे भाव से बने भिक्षुओं ने इसका विरोध किया तो मतभेद बढ़ा, तब शायद तर्क-वितर्क करने के लिए वैशाली में द्वितीय महासंगीति का आयोजन किया गया होगा।

बौद्ध परंपरानुसार भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के अनंतर सौ वर्षों तक तो बौद्ध धर्म का मूलरूप अपरिवर्तित रहा, परंतु भिक्षुओं के एक वर्ग में निरंतर बढ़ती जा रही अनियमितताओं के कारण बौद्ध धर्म के मूलरूप को परिवर्तित करना पड़ा। चुल्लवग्ग तथा दीपवंश के अनुसार वैशाली में बारह हजार भिक्षुओं ने एकमत होकर घोषित किया कि थेरवाद (धर्म और विनय के नियमों का संग्रह) के दस निषेधों का उल्लंघन धर्म संगत है। इस प्रकार के नियम विरुद्ध आचरण करने की प्रवृत्ति के निवारण हेतु, वैशाली के कूटागार में बड़ी संख्या में एकत्र होकर भिक्षुओं ने नियम भंग करने वाले वज्जिपुत्र भिक्षुओं को संघ ने बहिष्कृत कर दिया। इस पर बहिष्कृत भिक्षुओं ने एक संगीति का आयोजन किया।<sup>172</sup> यह महासंगीति बालुकाराम विहार (बालिका छवि) में हुआ था जिसमें 700 श्रेष्ठ बौद्ध भिक्षु सम्मिलित हुए थे। इस संगीति की संपूर्ण व्यवस्था वैशाली निवासी 'अजित' नामक भिक्षु ने की थी। संगीति की अध्यक्षता भी वैशाली निवासी 'सर्वकामी' नामक भिक्षु ने की थी। इस संगीति में वैशाली के भिक्षुओं ने धर्म साधना और विनय के नियम में इन नई विधियों को लागू करने का प्रयत्न किया। वैशाली के भिक्षुओं ने बहुमत से इन नई विधियों को

प्रतिपादित किया। इस संगीति के पश्चात् बौद्ध संघ में भेद बढ़ता गया और भविष्य में नए मतों का प्रादुर्भाव हुआ। वैचारिक मतभेद की इस प्रवृत्ति का अंत करने के लिए अशोक ने अपने शासन में कड़े कदम उठाए। अशोक ने अपने राज्य काल में पाटलिपुत्र में बौद्धों की तृतीय संगीति का आयोजन किया। संघ भेद को समाप्त करने के उद्देश्य से उसने धम्मलेख के माध्यम से यह राजाज्ञा प्रसारित की कि भिक्खु अथवा भिक्खुणी जिसे संघ भेद का दोषी पाया जाएगा उसे संघ से निष्कासित कर दिया जाएगा।<sup>173</sup>

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि लिच्छवि प्रगतिशील विचारों के थे। उन्होंने प्राचीन काल से चली आ रही रूढ़ियों को त्यागकर नए विचारों को ग्रहण किया। लेकिन इसके साथ ही प्राचीन धर्म के अनुयायियों, साधुओं तथा चैत्यों के प्रति आदर भाव रखा। किसी विशेष मत को मानने के लिए किसी शक्ति अथवा प्रभाव का प्रयोग नहीं किया गया। वैशाली में विभिन्न मतों के अनुयायी प्रेमभाव से मिलते थे तथा साथ-साथ रहते थे। एक भी ऐसी घटना का उल्लेख नहीं मिलता जिससे विदित हो कि दो मतों के अनुयायियों या तपस्वियों के मध्य संघर्ष हुआ हो। लेकिन वे दूसरे मतों के प्रचारकों के दर्शन संबंधी प्रश्न पर तर्क-वितर्क करते थे, और तर्क से पराजित हो जाने पर एक मत से दूसरे मत के संघ में सम्मिलित हो जाते थे। बौद्ध संघ में सम्मिलित होने वालों में एक बड़ी संख्या ऐसे ही लोगों की थी। इसी कारण वैशाली में बौद्ध अनुयायियों की संख्या में अप्रत्याशित ढंग से वृद्धि हुई। वैशाली में द्वितीय बौद्ध संगीति का आयोजन इस बात की पुष्टि करता है।

### संदर्भ तथा टिप्पणियां

1. बर्थ, रिलिजंस आफ इंडिया, पृ. 40-41.
2. कैब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया (कैब्रिज, 1935), भाग 1, पृ. 150; रघुनाथ सिंह, बुद्ध कालीन समाज और धर्म, पृ. 98 और आगे.
3. डायलाग्स, भाग 2, पृ. 79-85.
4. बील्, ट्रेबल आफ ह्वेनत्सांग (कलकत्ता, 1958), भाग 2, पृ. 308.
5. डायलाग्स, पृ. 80; ला, क्षत्रिय क्लान्स (1922), पृ. 81.
6. नलिनाक्ष दत्त, अर्ली हिस्ट्री आफ द स्मैड आफ बुद्धिज्म, पृ. 155.
7. वैशाली, पृ. 243.
8. रघुनाथ सिंह, बुद्ध कथा, पृ. 98.
9. द्रष्टव्य, प्रशासन.
10. रघुनाथ सिंह बुद्ध कथा, पृ. 50 तथा पृ. 53 टिप्पणी; योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 248.
11. सुर्मंगल विलासिनी (बर्मों संस्करण), पृ. 103-105.
12. नलिनाक्ष दत्त, वही, 156.



13. वैशाली, पृ. 245.
14. डायलाग्स, पृ. 110; रघुनाथ सिंह, बुद्ध कथा, पृ. 820.
15. डायलाग्स, पृ. 80, टिप्पणी.
16. वही, पृ. 110, टिप्पणी.
17. सै. बु. ई., भाग 155, पृ. 36, 100; होन्ले, उवासगदसाव, भाग 2, टिप्पणी 4.
18. वै. अभि. ग्रं., 25.
19. नलिनाक्ष दत्त, वही, पृ. 156.
20. वै. अभि. ग्रं., पृ. 25.
21. न. दत्त, वही, पृ. 156.
22. अंगुत्तर निकाय, भाग 3, पृ. 236-239; वैशाली, पृ. 244.
23. वही, पृ. 239-240; दत्त, वही, पृ. 156.
24. थेर गाथा, अट्ट कथा, भाग 1, पृ. 292 और आगे; वैशाली, पृ. 244.
25. महावंश, 5.104 और आगे; दीपवंश; 4.28 और आगे; 5.77 और आगे (विशेष विवरण के लिए देखिए डि. प्रा. ने; भाग 1, पृ. 1076).
26. अपादान, 1, 76 और आगे.
27. थेरी गाथा, श्लोक 271-290.
28. वही.
29. अंगुत्तर निकाय, 3, पृ. 276-277.
30. डायलाग्स, 1, पृ. 220-222; द बुक आफ किंगड्रेड सेइंग, 1, पृ. 285-303.
31. डायलाग्स, 1, पृ. 221.
32. योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 246.
33. म. मो. सिंह, बुद्ध कालीन समाज और धर्म, पृ. 148.
34. महावग्ग, 1/15/1; सै. बु. ई., 13, पृ. 118.
35. महावग्ग, 1/23/1; रघुनाथ सिंह, बुद्ध कथा, पृ. 98.
36. मज्झिम निकाय, 1, पृ. 481-483.
37. योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 247; मज्झिम निकाय 1, पृ. 481, 483, 489; संयुव निकाय 4, पृ. 401.
38. पंचसूदनी (मज्झिम कमेंटरी) 2, पृ. 673.
39. पाटिक सुत्त (डायलाग्स, 3, पृ. 16 और आगे.
40. डाय. i पृ. 159-60 जालिय एक परिवाचक था जिसे बुद्ध ने जालिय सूत्र का उपदेश दिया था.
41. संयुत निकाय, 4, पृ. 401 और आगे.
42. वही, 4, पृ. 261 और आगे.
43. चुल्ल कालिंग जातक (301).
44. पेतवत्थु, 50; पेतवत्थु अट्टकथा, 229.
45. समंतपासादिका, 4, पृ. 937; पेतवत्थु अट्टकथा, 230.
46. द्रष्टव्य, पीछे देखिए.
47. द्रष्टव्य, संदर्भ 4.
48. विजयेन्द्र सूरि, तीर्थंकर महावीर, भाग 1, पृ. 82; ला. सम जैन कैनोनिकल सूत्र (बंबई, 1949), पृ. 101; जे. सी. जैन, लाइफ इन एंशिअंट इंडिया (बंबई, 1947), पृ. 297; राहुल सांकृत्यायन, दर्शन दिग्दर्शन, पृ. 492; आवश्यक नियुक्त, पृ. 43, श्लोक, 304 में स्पष्ट रूप से महावीर स्वामी का जन्म स्थान कुण्डपुर बताया गया है.

49. के. भुजबली शास्त्री, जैन सिद्धांत भास्कर, भाग 10, पृ. 60; दिगंबर जैनियों का आज भी यही मत है। (कुंडलपुर के जैन मंदिर में बहुत सारी पुस्तकें रखी हैं, जो काफी बाद की लिखी हैं।)
50. डि. पा. प्रा. ने., भाग 1, पृ. 976, 723.
51. साइनो इंडियन स्टडोज़, भाग 1, खंड 4, पृ. 195. (तीर्थंकर महावीर, भाग 1, पृ. 85 पर उद्धृत।)
52. एंशिअंट ज्याग्राफी आफ इंडिया, पृ. 658.
53. विजयेन्द्र सूरि, तीर्थंकर महावीर, भाग 1, पृ. 85; अन्य बहुत से भारतीय तथा पाश्चात् विद्वानों का भी यही मत है, विस्तृत विवरण के लिए देखिए, योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 214-235; वासुकुंड में जहां महावीर स्वामी ने चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को जन्म लिया और कुमार काल के 30 वर्ष व्यतीत किए थे तथा वैराग्य उत्पन्न होने पर ज्ञातुवन खंड में प्रव्रज्या धारण की थी, वहां एक शिलाखंड स्वर्गवासी भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा. राजेंद्र प्रसाद द्वारा स्थापित किया गया।
54. विभिन्न विद्वानों के मत के लिए देखिए, मुनिश्री नागराजजी, महावीर और बुद्ध की समसामयिकता (प्रकाशक : आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 1968) तथा योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 194, 212 (द डेट आफ महावीर)।
55. मज्झिम निकाय, सामगाम सुत्त, 3.1.4.
56. मुनिश्री नागराजजी, महावीर स्वामी और बुद्ध की समसामयिकता (दिल्ली, 1968), पृ. 51-54.
57. वही, पृ. 54. महावीर स्वामी के निर्वाण स्थान 'पावा' की पहचान के संबंध में भी पर्याप्त मतभेद हैं। जैनियों की पारंपरिक मान्यता के अनुसार महावीर का निर्वाण पटना जिले के अंतर्गत राजगृह के समीपस्थ पावा में हुआ था। यह दक्षिण बिहार में है, लेकिन राहुल सांकृत्यायन ने इस ओर ध्यान आकृष्ट किया कि 'पावा' उत्तरी बिहार में स्थित होनी चाहिए, क्योंकि कल्पसूत्र, 128 के अनुसार भगवान महावीर के निर्वाण के अवसर पर मल्लों और लिच्छवियों के अठारह गणराजा उपस्थित थे, यदि दक्षिण बिहार की पावा उनका निर्वाण स्थल होता तो यह कैसे संभव होता कि मल्ल और लिच्छवि गणराजा अपने शत्रु प्रदेश में उपस्थित रहते, अतः महावीर स्वामी का निर्वाण स्थल 'पावा' गंगा के उत्तर में होना चाहिए, राहुल सांकृत्यायन के अनुसार वर्तमान गोरखपुर जिले के अंतर्गत 'पपहुर' नामक ग्राम, प्राचीन 'पावा' हो सकता है क्योंकि लिच्छवियों, मल्लों का क्षेत्र उत्तरी बिहार रहा था। जैन लोगों ने प्राचीन परंपरा को भूलकर पटना जिलांतर्गत पावा को मान लिया है। (वही, पृ. 15-16)
58. ज. वि. रि. सो., भाग 13, पृ. 240-246 : राधाकुमुद मुकजी ने भी काल निर्णय में जायसवाल के मत को अक्षरशः अपनाया (हिंदू सभ्यता, पृ. 216, 223, 224), जिसके अनुसार महावीर का निर्वाण काल 546 ई. पू. तथा भगवान बुद्ध का निर्वाण काल 544 ई. पू. माना है। (मुनिश्री नागराज जी, वही, पृ. 30 पर उद्धृत।)
59. द्रष्टव्य, टिप्पणी, 53.
60. सै. बु. ई., भाग 22, पृ. 79-87.
61. वही, पृ. 263.
62. मदनमोहनसिंह, वही, पृ. 112.
63. सै. बु. ई., भाग 22, पृ. 264.
64. ला. महावीर : हिज़ लाईफ एंड टीचिंग, पृ. 7.
65. द्रष्टव्य, प्रारंभिक इतिहास का अध्ययन : सुत्रकृतांग, 1.13.10. (सै. बु. ई., 45, पृ. 321) में वैशाली क्षेत्र में 6 क्षत्रिय कुलों का उल्लेख हुआ है जिनसे ज्ञातृक भी एक था।
66. वैशाली, पृ. 238.
67. ला. सम जैन कनोनिकल सूत्र (बंबई, 1949), पृ. 102; वैशाली, पृ. 239 : बुद्ध ने केवल दो वर्षात्रतु

- वैशाली में व्यतीत किए थे।
68. बौद्ध चेटक के बारे में कुछ नहीं सोचते थे क्योंकि उनका प्रभाव महावीर स्वामी के हित में प्रयोग किया जाता था (जैकोबी, सै. बु. ई. भाग 22, पृ. 13).
  69. रिस डेविड्स एंड ओल्डनबर्ग, विनय टेक्स (अनु.), सै. बु. ई. भाग 17, पृ. 108 और आगे.
  70. जैकोबी, जैन सूत्र, पृ. 11.
  71. मज्झिम निकाय, 1, पृ. 227-251.
  72. वही.
  73. कल्पसूत्र, 128 (सै. बु. ई. भाग 22, पृ. 266).
  74. शाह, सी. जे., जैनज्म इन नार्दन इंडिया, पृ. 2-3.
  75. अ. मदन मोहन सिंह, बुद्धकालीन समाज और धर्म, पृ. 118.
  - ब. वही, पृ. 118; बाशम, हिस्ट्री एंड डाक्ट्रिन आफ द आजीविक्स, पृ. 95.
  76. योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 241; बाशम, आजीविकाज़ (लंदन, 1951), पृ. 103, 107.
  77. योगेंद्र मिश्र, वही, पृ. 241; बाशम, वही, पृ. 23-33.
  78. भगवती सूत्र, 15, 550 तथा 674.
  79. लुफौन (संपा.), ललितविस्तर, पृ. 146.
  80. बाशम, वही, पृ. 23-33.
  81. डि. पा. प्रा. नेम, एस. बी. गौतम.
  82. योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 242.
  83. बाशम, द आजीविकाज़, पृ. 38 तथा 44.
  84. वही, पृ. 95.
  85. जातक, 6, पृ. 222-225.
  86. चुल्लवग्ग, 11/1/1.
  87. विनय पिटक, 4, पृ. 91.
  88. आजीविकाज़, पृ. 137.
  89. डायलाग्स, 3, पृ. 14 और आगे.
  90. आजीविकाज़, पृ. 103.
  91. दीघ निकाय, 1, पृ. 52-53 (समंगफल सुत्त); मदनमोहन सिंह, वही, पृ. 120 : तमिल-साहित्य में इनका संबंध आजीविक मत से बतलाया गया है.
  92. संयुत निकाय, 5, पृ. 126.
  93. वही, 3, पृ. 68.
  94. वही, 4, पृ. 398.
  95. खुनाथसिंह, बुद्ध कालीन समाज और धर्म, पृ. 95, 103, 105.
  96. इस तरह का उदाहरण हम सिंह सेनापति के संबंध में देखते हैं जो पहले जैन मत का अनुयायी था, बाद में जब भगवान बुद्ध का अनुयायी हो गया तो निगंठ नातपुत्त के अनुयायी भगवान बुद्ध के विरुद्ध झूठे प्रचार करने लगे (दत्त, अर्ली हिस्ट्री आफ द स्प्रेड आफ बुद्धिज्म, पृ. 158) : विनय टेक्स, सै. बु. ई. भाग 17, पृ. 116.
  97. इस तरह का उदाहरण एक आजीविक भिक्षु के संबंध में मिलता है जिसे आवश्यकतानुसार भिक्षा न मिलने पर बौद्ध भिक्षु को अतिरिक्त प्राप्त भिक्षा में से भिक्षा ग्रहण की (विनय पिटक, 4, पृ. 91).
  98. डायलाग्स, 2, पृ. 110.



99. वही, पृ. 110.
100. डि. पा. प्रा. नेम, पृ. 942.
101. जोन्स (अनु.) महावस्तु, भाग 1, पृ. 253-300; वै. अभि. ग्रं., पृ. 126.
102. महावस्तु में वर्णित भगवान बुद्ध का वैशाली दर्शन के सारांश के लिए दिखि, वि. च. ला. क्षत्रिय क्लान्स, पृ. 45-48.
103. चूलवंश, पा. टे. सो., 37.191.
104. महावस्तु, 1, पृ. 290 और आगे.
105. धम्मपद अट्ठकथा (धम्मपद-टीका), 3, पृ. 196.
106. प्रतिदिन इतनी ही संख्या में लोगों का इकट्ठा होना अतिशयोक्ति लगता है. इसका आशय केवल यही लिया जाना चाहिए कि वैशाली के अधिकांश लोगों ने 'रतनसुत' का प्रवचन सुना.
107. वि. च. ला. क्षत्रिय क्लान्स, पृ. 48.
108. डि. पा. प्रा. नो., 2, पृ. 940 पर उद्धृत.
109. ओ. सी. गांगुली, वै. अभि. ग्रं., पृ. 14; बुद्धचर्या, पृ. 66-67; योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 155.
110. डि. पा. प्रा. ने., 1, पृ. 795 और टिप्पणी.
111. यू. एन. घोषाल, वै. अभि. ग्रं., पृ. 14.
112. राहुल सांकृत्यायन, वै. अभि. ग्रं. पृ. 21; गोल्डन वर्ग, बुद्ध, पृ. 14
113. डायलाग्स, पृ. 79-80; झा, लिच्छवि, पृ. 40.
114. अंगुत्तर निकाय, पा. टे. सो., भाग 3, पृ. 76.
115. अ. स. इ. ए. रि. (1880-81), भाग 16, पृ. 8; वै. अभि. ग्रं., 146.
116. द्रष्टव्य, टिप्पणी, 19, इसके अतिरिक्त ह्वेनत्सांग भी लिखता है कि वैशाली में बौद्ध तथा बौद्धेतर दोनों मिलकर रहते हैं. विभिन्न धर्मानुयायियों के 10-20 देव मंदिर भी हैं आदि....(बील, ट्रैवेल आफ ह्वेनत्सांग (कलकत्ता, 1958), भाग 3, पृ. 308).
117. दत्त, अलीं हि. आफ द स्मैड आफ बु., पृ. 158; विनय टेक्स, सै. बु. ई., भाग 17, पृ. 116 : वैशाली की सड़कों पर कई निर्गंध झूठा प्रचार किया करते थे कि सिंह सेनापति ने आज एक बड़ा-सा बैल मारकर उसका भोजन श्रमण गौतम के लिए बनवाया है; श्रमण गौतम जानबूझकर मारे गए जानवरों का भोजन ग्रहण करते हैं.
118. भगवान बुद्ध के प्रमुख प्रतिस्पर्धी महावीर तथा मक्खलि गोसाल थे. इनके अनुयायी तथा प्रचारक भगवान बुद्ध के विरुद्ध तरह-तरह की अफवाह फैलाया करते थे जिनका विस्तृत विवरण बौद्ध ग्रंथों में मिलता है.
119. चूलसच्चक सुत्त, मज्झिम निकाय, भाग 1, पृ. 227-237.
120. डि. पा. प्रा. ने., 2, पृ. 943.
121. संयुत निकाय, 4, पृ. 261-62.
122. अंगुत्तर निकाय, 1, पृ. 220-222.
123. वही, 2, पृ. 190-191.
124. वही, 2, पृ. 200-202.
125. मही, 3, पृ. 167-168.
126. वही, 3, पृ. 239-240.
127. एक पण्न जातक (कावेल) भाग 1, पृ. 316; वि. चि. ला. वही, पृ. 96-98.
128. वै. अभि. ग्रं., पृ. 14; विनय पिटक (राहुल सांकृत्यायन द्वारा हिंदी में अनु., बनारस, 1935), पृ. 519-525.

129. डि. पा. प्रा. नेम, 2, पृ. 942; विस्तृत विवरण के लिए देखिए, योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 156-157.
130. योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 156.
131. इन व्यक्तियों के व्यक्तिगत परिचय के लिए देखिए, योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 159-172.
132. वही, पृ. 159-172.
133. सुमंगल विलासिनी (दीघ कमेंटरी) पा. टे. सो., भाग 1, पृ. 309; पंचसूदनी (मज्झिम कमेंटरी), भाग 1, पृ. 298.
134. सुमंगल विलासिनी, पा. टे. सो., भाग 1, पृ. 311; डायलाग्स 1, पृ. 197, टिप्पणी.
135. बौल, भाग 1, पृ. 52.
136. दिव्यवादान, पृ. 136, 200; महावस्तु, 1, 300; आवदान-शतक (स्पेयर द्वारा संपा.), पृ. 8.
137. बौल, बुद्धिष्ट रिकार्ड, भाग 2, पृ. 67-68.
138. बंदर द्वारा शहद निकालने का दृश्य सांची के एक स्तंभ (प्लेट 26, चित्र 2. ट्री एंड सरपेंट वरशिप). बौल का मत है कि संभवतः यह स्तंभ वैशाली निवासियों की ओर से बनवाया गया था या दान में दिया गया था (बौल, वही, पृ. 68, टिप्पणी 74) इसी तरह नालंदा के संग्रहालय में रखी भगवान बुद्ध की एक मूर्ति के नीचे भग्न (आधार) में बंदर द्वारा एक कुएं से शहद निकालने का दृश्यांकन हुआ है, जिसका संबंध इसी अनुश्रुति से है.
139. बौल, वही, पृ. 68.
140. डायलाग्स, 3, पृ. 14.
141. द्रष्टव्य, टिप्पणी, 27.
142. अंगुत्तर निकाय, 3, पृ. 167-168.
143. संयुक्त निकाय, 5, पृ. 258; अंगुत्तर निकाय, 6, पृ. 308, 309, 311.
144. महावस्तु, 1, पृ. 300.
145. विनय पिटक, 1, पृ. 231-233; लेकिन महावस्तु (1, पृ. 300) के अनुसार यह भगवान बुद्ध के प्रथम वैशाली आगमन पर भेंट किया गया था.
146. संयुक्त निकाय, 5, पृ. 141-148; अंगुत्तर निकाय, 4, पृ. 100-106; महावस्तु, 2, पृ. 293.
147. संयुक्त निकाय, 5, पृ. 301.
148. विसेंट आर्थर स्मिथ, ज. रा. ए. सो. (1902), पृ. 280-281 तथा 279.
149. महावस्तु, 1, पृ. 300.
150. विनय टेक्स, 3, पृ. 408.
151. वि. आ. स्मिथ, ज. रा. ए. सो. (1902), 281.
152. यह भगवान बुद्ध के निर्वाण प्राप्ति के दसवें वर्ष का था, सारत्थप्पकासिनी, (संयुक्त कमेंटरी) 3, पृ. 198; उदान-अट्ठकथा, 322 तथा संयुक्त कमेंटरी, 3, पृ. 172 के अनुसार भगवान बुद्ध वैशाली से वापस लौटने के रास्ते नहीं गए थे, बल्कि वापस सावत्थी को मुड़ गए थे.
153. पंचसूदनी (मज्झिम कमेंटरी), 2, पृ. 571.
154. महावंश टीका, पा. टे. सो., पृ. 560.
155. महापरिनिब्बान सुत्त (डाय, 2, पृ. 94, 96, 97, 100).
156. स्मिथ, ज. रा. ए. सो., (1902), पृ. 269.
157. संयुक्त निकाय, 5, पृ. 431.
158. महापरिनिब्बान सुत्त.
159. पंचसूदनी (मज्झिम-कमेंटरी), 2, पृ. 424 निश्चित रूप से विवरण देता है कि तालाब का नाम नादिका था.

160. डायलाग्स, 2, पृ. 97, टिप्पणी 1; ग्रेडुअलसेइंग, 3, पृ. 217, टिप्पणी 4.
161. स्मिथ, ज. रा. ए. सो. (1902), पृ. 269.
162. मज्झिम, निकाय, 1, पृ. 205-211; विनय, 1, पृ. 350 और आगे; डाय. 2, पृ. 200 और आगे; गिजकावसथ-सुत्त, संयुक्त निकाय, 2, पृ. 153; 5, पृ. 356 और आगे; जातिक सुत्त (संयुक्त निकाय, 2, पृ. 71 तथा 4, पृ. 90); अंगुत्तर निकाय, 4, पृ. 316 और आगे.
163. योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 188.
164. मज्झिम निकाय, 1, पृ. 203-211.
165. बील, वही, पृ. 66-67; तीर्थकर महावीर, पृ. 77.
166. योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 190; डाय, 2, पृ. 130.
167. वही, पृ. 126 : पावा की पहचान भी संदिग्ध है जैन धर्मानुयायी पटना जिला के अंतर्गत राजगृह के समीप स्थित पावा को मानते हैं लेकिन यह दक्षिणी विहार है और अजातशत्रु के राज्य में था जबकि भगवान बुद्ध ने लिच्छवियों के पड़ोसी मल्लों के पावा में विहार किया था। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार यह पावा गोरखपुर जिले के अंतर्गत 'पपहर' नामक गांव हो सकता है क्योंकि यह मल्लों के क्षेत्र में था (मुनि श्री नागराजजी, महावीर तथा बुद्ध की समसामयिकता, पृ. 15-16 पर उद्धृत).
168. चुल्लवग्ग 12/1/1; दीपवंश 4/47-49; 5/16-18.
169. चुल्लवग्ग, 12/1/1.
170. महावग्ग, 5/10; चुल्लवग्ग, 6/2/3-5.
171. चुल्लवग्ग, 1/13.
172. वै. अभि. ग्रं., पृ. 15; वैशाली के लिच्छवि, पृ. 12.
173. मदनमोहन सिंह, बुद्धकालीन समाज और धर्म, पृ. 107.



### राज्य और क्षेत्र

बौद्ध साक्ष्यों ने ज्ञात होता है कि छठी शताब्दी ई. पू. वर्तमान गोरखपुर से दरभंगा तक के मध्य और उत्तर में हिमालय की तराई से लेकर दक्षिण में गंगा के मध्य तक के विस्तृत क्षेत्र में अनेक गणराज्य फैले हुए थे जिनका विस्तार लंबाई में तीन सौ मील तथा चौड़ाई में सौ मील ने अधिक नहीं था।<sup>1</sup> इसमें लिच्छवियों के वज्जि-गणराज्य का क्षेत्रफल सबसे अधिक था। परमत्थजोतिका की कथा के अनुसार वज्जियों का राज्य तीन सौ योजन भूमि पर था।<sup>2</sup> ह्वेनत्सांग के विवरण के अनुसार वज्जि-देश का क्षेत्रफल पांच हजार ली (लगभग एक हजार मील) था, तथा वैशाली नगरी के दो प्राकारों (दीवारों) के मध्य की दूरी (नींव के आधार पर) साठ से सत्तर ली (लगभग बारह-तेरह मील) थी।<sup>3</sup> रायचौधुरी के अनुसार वज्जि-क्षेत्र की सीमा संभवतः गंगा के उत्तर में नेपाल की पहाड़ी तक फैली थी। पश्चिम में गंडक नदी इसे मल्ल तथा कोसल से अलग करते थी। पूर्व में इसकी सीमा कोसी तथा महानंदा नदी तक थी।<sup>4</sup>

### वज्जि राज्य का स्वरूप

वज्जि राज्य का स्वरूप संघ राज्य<sup>5</sup> था, यद्यपि कहीं-कहीं इसे गणराज्य<sup>6</sup> भी कहा गया है। लिच्छवियों की प्रमुखता होने के कारण यह लिच्छवि गणराज्य<sup>7</sup> के रूप में भी जाना जाता था। गिल्गित मैन्सुस्क्रिप्ट<sup>8</sup> में इसे गणाधीन राज्य माना गया है।

वज्जियों का राज्य सामान्यतः संघ-राज्य के रूप में जाना जाता था जिसमें संभवतः आठ कुल सम्मिलित थे जिनमें लिच्छवि, वज्जि तथा विदेह प्रमुख थे।<sup>9</sup> समय-समय पर अपनी स्थिति दृढ़ करने के लिए वज्जि-संघ अपने पड़ोसी गणराज्यों से मित्रता करके विशाल संघ-राज्य बना लेते थे। उन्होंने मगधराज अजातशत्रु की साम्राज्यवादिता का विरोध करने के लिए पड़ोसी मल्लों तथा काशी-कोसल से मित्रता कर विशाल संघ का

निर्माण किया, जिसमें नौ लिच्छवि, नौ मल्ल तथा काशी-कोसल के अठारह राजा सदस्य थे।<sup>10</sup> इस संघ में सदस्य राजाओं की संख्या से प्रतीत होता है कि नवनिर्मित संघ का निर्माण समानता के सिद्धांत पर किया गया था। इसमें छोटे-बड़े राज्य का भेद नहीं किया गया। प्रत्येक गणराज्य के नौ-नौ सदस्य (वज्जि संघ के नौ, मल्ल गणराज्य के नौ तथा काशी व कोसल को नौ-नौ = छत्तीस सदस्य)<sup>11</sup> थे। इस संघ में गणराज्यों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त था। इस तरह यह आज के संघीय राज्य के सिद्धांत के सदृश्य था।<sup>12</sup>

## प्रशासन में भाग लेने का अधिकार

वज्जि गणराज्य में प्रशासन में भाग लेने का अधिकार राज्य के सभी नागरिकों या केवल कुलीन या धनिक या क्षत्रिय वर्ग को था, यह बात विवादास्पद है। एक जातक<sup>13</sup> में इसका वर्णन है कि एक नगर के रिक्त सिंहासन के लिए राजा का चुनाव हुआ जिसमें सब मंत्रियों और राजनगर की सभा के सदस्यों अथवा राजनगर के निवासियों या नागरिकों ने छंद (आजकल जिने वोट कहा जाता है) द्वारा एक मत होकर (एक छंदाहुत्वा) अपने नए राजा का निर्वाचन किया। जायसवाल का मत है कि इसमें नगर के सभी निवासियों की सम्मति ली गई थी, न कि केवल सभा के सदस्यों की।<sup>14</sup> यू. एन. घोषाल ने इस मत की आलोचना करते हुए कहा कि जायसवाल ने 'नगर' शब्द का अर्थ 'नागरिक' लिया है जो अशुद्ध है। इसका अर्थ नगर सभा होना चाहिए। इसी तरह 'छंद' का अर्थ प्रस्ताव या इरादा होता है, जबकि जायसवाल ने इसका अर्थ विशेष निर्वाचन विधि माना है।<sup>15</sup> संभव है, वज्जि गणराज्य में गण प्रमुख राजा (चेटक) का निर्वाचन समिति के सदस्यों द्वारा हुआ हो एवं उसका अनुमोदन जनता से कराया गया हो। इस तरह की संभावना राजतांत्रिक राजा के निर्वाचन के संबंध में अल्लेकर महोदय करते हैं।<sup>16</sup> उनका मत है कि संभवतः वैदिक काल में राजा का निर्वाचन कुलपति या विशपति ही करते रहे हों जिसमें साधारण जनता अधिक से अधिक प्राचीन रोम की 'क्यूरिया' (जनसाधारण) की भांति उनके निर्णय पर केवल अपनी सहमति देती रही हो। दूसरा प्रश्न उठता है कि केंद्रीय समिति (व्यवस्थापिका सभा) के सदस्यों (एकपण जातक के अनुसार जिनकी संख्या सात हजार सात सौ सात थी) का चुनाव किस प्रकार होता था? इसमें आम लोगों को मत देने तथा उम्मीदवार बनने का अधिकार प्राप्त था या ये सात हजार सात सौ सात सदस्य कुलीन वर्ग या क्षत्रिय वर्ग से मनोनीत कुल वृद्ध होते थे, स्पष्ट जानकारी उपलब्ध नहीं होती। अल्लेकर<sup>16</sup> का मत है कि लिच्छवि गणराज्य के सात हजार सात सौ सात सदस्य संभवतः क्षत्रिय थे, इसीलिए राजा कहे जाते थे। शवर<sup>17</sup> ने स्पष्ट लिखा है कि क्षत्रिय और 'राजा' पर्यायवाची है। अमरकोष<sup>18</sup> में 'राजन्यक' का अर्थ क्षत्रियों का गणराज्य बताया गया है। अस्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन गणराज्यों में

शासकवर्ग प्रायः क्षत्रिय होता था।<sup>19</sup> शासक वर्ग के अतिरिक्त साधारण प्रजा में कृषक, भृत्य, दास, कारीगर (शिल्पी) आदि भी होते थे, जिन्हें संभवतः मत देने का अधिकार नहीं प्राप्त था।<sup>20</sup> संभवतः स्त्रियां भी शासन में भाग लेने तथा मताधिकार से वंचित थीं।<sup>21</sup>

लिच्छवि गणराज्य में प्रशासन के लिए केवल कुलीन या क्षत्रिय वर्ग से सदस्य चुनकर आते थे। इसका अनुमान हम इससे लगा सकते हैं कि एक बार भगवान बुद्ध ने लिच्छवि-पुत्रों को उपदेश देते हुए कहा कि कुलपुत्र उन्नति करके किसी राज्य के शासक हो सकते हैं; राष्ट्रिक या पैतनिक हो सकते हैं, सेनापति हो सकते हैं या किसी नगर के निर्वाचित राजा या सभापति (गाम गामणिक) या शिल्प संबंधी गण या संघ के सभापति (पूग गामणिक) हो सकते हैं।<sup>22</sup> इसका तात्पर्य यह है कि उक्त सभी पदों के लिए निर्वाचन होता था, लेकिन उक्त पदों के लिए उम्मीदवार केवल कुलपुत्र ही हो सकता था।<sup>23</sup>

इस प्रकार वज्जि गणराज्य कुल प्रजातंत्र था जिसमें केवल क्षत्रिय कुल के लोग सदस्य हो सकते थे। धर्मशास्त्रकार कात्यायन<sup>24</sup> का भी धन है कि गण कुलों का समूह है और कुल राज्यों या कुल प्रजातंत्रों में राजनीतिक अधिकारों आदि का आधार कुल या वंश ही था।<sup>25</sup> डांगे<sup>26</sup> का भी यही मत है। महाभारत<sup>27</sup> में भी कहा गया है कि गण संघ के सभी सदस्य कुल और जाति में समान होते थे। महाभारत के अनुसार इस गण संघ में रक्त संबंध को तोड़ना महान अपराध माना जाता था।<sup>28</sup>

## बाहरी व्यक्ति को नागरिकता

लिच्छवि बाहरी व्यक्ति को भी उसकी कुलीनता तथा योग्यता देखकर नागरिकता प्रदान कर देते थे। 'खण्ड' के संबंध में हम जानते हैं कि वह वैशाली में शरण के लिए बाहर से आया था, जिसकी योग्यता और कुलीनता को देखकर उसे न केवल नागरिकता प्रदान की गई, बल्कि उसे रहने के लिए प्रथम श्रेणी या वर्ग वाले भाग में घर तथा सेनापति का पद दिया गया।<sup>29</sup> इसी तरह मगधराज ब्राह्मण मंत्री वस्सकार जब मगध छोड़कर वैशाली में शरणार्थी बनकर आया तो उसे भी उच्च सम्मान देकर प्रधान धर्माधिकारी का पद दिया गया।<sup>30</sup> लिच्छवि लोग बाहर के व्यक्ति को भी नागरिकता देते थे, इसकी पुष्टि कात्यायन भी करते हैं। उन्होंने पाणिनि के एक नियम (अष्ट, 4.3.100) का संशोधन करते हुए बतलाया कि जो व्यक्ति वृजि के प्रति भक्ति रखेगा, वह वृजिक कहा जाएगा।<sup>31</sup> यहां भक्ति का अभिप्राय राजभक्ति या राजकीय दृष्टि से प्रमुख की स्वीकृति है।<sup>32</sup> संभवतः उन दिनों कृत्रिम नागरिकता का भी भाव होता था। वृजिक कहलाने के लिए जन्म से ही वृजि हो, यह आवश्यक नहीं होता था।<sup>33</sup> यहां यह ध्यान देने योग्य है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'वृजिक' रूप का ही व्यवहार हुआ है।<sup>34</sup> जैन सूत्र में भी लेच्छविक रूप आए



हैं।<sup>35</sup> वृजिकों में वृजि और अवृजि दोनों होते थे, पर दोनों वर्ग वृजि के प्रति भक्ति (राज्य भक्ति) रखते थे।<sup>36</sup> अ-वृजियों में वे लोग या कुल हो सकते हैं, जिन पर आरंभ में वृजियों ने विजय प्राप्त की अथवा जो लोग या कुल स्वेच्छापूर्वक वृजिसंघ में सम्मिलित हुए थे।<sup>37</sup>

इस प्रकार लिच्छवि बाहर के व्यक्ति को नागरिकता प्रदान कर अपनी संख्या में वृद्धि कर लेते थे। इससे यह भी कहा जा सकता है कि वृजि या लिच्छवि गणराज्य कबीला समाज नहीं था<sup>38</sup>, क्योंकि कबीलाई समाज में प्रायः बाहर के व्यक्ति को नागरिकता नहीं प्रदान की जाती है, उच्च पद पर आसीन करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। महावस्तु<sup>39</sup> के अनुसार वैशाली में कुल एक लाख अरसठ हजार नागरिक थे जिसमें आधे बाह्य क्षेत्र तथा आधे आंतरिक में रहते थे। इसमें वृजियों तथा अ-वृजियों की संख्या कितनी थी, कहा नहीं जा सकता है।

### लिच्छवि गणतंत्र को दिशा निर्देश करने वाले सिद्धांत

लिच्छवि गणराज्य को उच्च स्तर पर पहुंचाने के लिए कुछ ऐसी विशिष्ट बातें थीं जो किसी भी गणतंत्र को दीर्घकालीन बनाने के लिए आवश्यक हैं। वे आवश्यक बातें वही हैं जिन्हें भगवान बुद्ध ने गृद्ध पर्वत (राजगृह) पर निवास करते हुए बतलाई थीं।<sup>40</sup> वे आवश्यक बातें या दिशा निर्देश करने वाले सिद्धांत निम्नलिखित हैं :

1. वृजि लोग बहुधा पूर्ण सभाएं करते हैं।
2. वे एकमत होकर मिलते हैं, एक साथ मिलकर उन्नति करते हैं और वृजियों का कार्य एकमत होकर करते हैं।
3. वे उचित विधि के बिना कोई नया नियम नहीं लागू करते, विधिपूर्वक बनाए नियम का उल्लंघन कर कोई कार्य नहीं करते हैं, तथा प्राचीन समय में विधिपूर्वक बने नियम के अनुसार कार्य करते हैं।
4. वे वृद्धों की प्रतिष्ठा, भक्ति तथा सहायता करते हैं तथा उनकी बातों को सुनना अपना कर्तव्य समझते हैं।
5. वे अपने समाज की स्त्रियों तथा कुमारियों का सम्मान करते हैं और उनका अपहरण नहीं करते हैं।
6. वे वृजि चैत्यों (जातीय मंदिर, अर्हतों) की प्रतिष्ठा, आदर, भक्ति और सहायता करते हैं (अर्थात् अपने धर्म में दृढ़ निष्ठा रखते हैं)।
7. वे अपने अर्हतों (धर्माचार्यों) का उचित रक्षण और पालन-पोषण करते हैं (अर्थात् मर्यादा का पालन और धर्म का आचरण करते हैं)।

उक्त सात बातें भगवान बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनंद को संबोधित करते हुए वस्सकार से कही थीं। वस्सकार के चले जाने पर भगवान बुद्ध भिक्षुओं को पास बुलाकर पुनः इन बातों (कुछ आवश्यक परिवर्तन करके) को दोहराते हुए कहा कि जब

तक भिक्षु लोग इन सात अपरिहानियाधम्मा का पालन करते रहेंगे, बौद्ध संघ उन्नति करता रहेगा।

इस प्रकार इसमें कोई संदेह नहीं कि वज्जि लोग इन सात बातों का पालन करते थे। संभवतः इन्हीं कारणों से भगवान बुद्ध लिच्छवियों की बहुधा प्रशंसा किया करते थे।

## केंद्रीय शासन

व्यवस्थापिका सभा या केंद्रीय समिति : वज्जि गणराज्य में शासन का सर्वोच्च अधिकार केंद्रीय समिति में निहित था जिसके सदस्यों की संख्या सात हजार सात सौ सात थी। प्रत्येक सदस्य को राजा कहा जाता था।<sup>41</sup> यह संख्या बहुत अधिक जान पड़ती है। लेकिन स्मरण रखना चाहिए कि यौधेयों की सभा में पांच हजार सदस्य थे तथा यूनान में एथेजियन असेंबली में बयालीस हजार नागरिक थे और प्रत्येक को बैठक में सम्मिलित होने का अधिकार प्राप्त था, परंतु सामान्यतः सात या आठ प्रतिशत ही लोग किसी बैठक में सम्मिलित होते थे।<sup>42</sup> अल्तेकर का मत है कि इसी तरह वज्जि गणराज्य की केंद्रीय सभागार में भी सामान्यतः दस प्रतिशत ही उपस्थिति बैठकों में होती होगी।<sup>43</sup> लेकिन इतना कम प्रतिशत उचित नहीं लगता, क्योंकि भगवान बुद्ध पूर्ण सभा तथा जल्दी-जल्दी सभा आयोजन करने के लिए वज्जियों की प्रशंसा करते थे।<sup>44</sup>

केंद्रीय समिति के ये सदस्य मंत्रिमंडल के सदस्यों का ही नहीं, सेनापति का भी निर्वाचन करते थे।<sup>45</sup> एक पण्ण जातक (149) में विवरण मिलता है कि वैशाली में हमेशा सात हजार सात सौ राजा तथा उतने ही उपराजा, उतने ही भाण्डागारिक रहते थे। उक्त जातक के विवरण के पाठ तथा सही अर्थ लेने में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। भण्डारकर<sup>46</sup> का मत है कि लिच्छवियों का एक संघ या जिसमें छोटे-छोटे राज्य सम्मिलित थे जबकि समस्त राज्य या उन छोटे-छोटे राज्यों के प्रधानों की सभा शासन करती थी, जिसका प्रधान किसी निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित किया जाता था।<sup>47</sup> जायसवाल का मत है कि लिच्छवि गणराज्य के मूल संस्थापकों की संख्या सात हजार सात सौ सात थी जिनको शासनाधिकार प्राप्त था। वे ही प्रधान, उपप्रधान, सेनापति अथवा कोषाध्यक्ष हो सकते थे।<sup>48</sup> यू. एन. घोषाल का मत है कि जातकों में उल्लिखित संख्या सही नहीं है, क्योंकि इसको ठीक संख्या मान लेने का अर्थ होगा कि सात हजार सात सौ सात सदस्य कुल राज्यों के संस्थापकों के थे, जो वैशाली में रहते थे। इसके अतिरिक्त वैशाली नगर में सात हजार सात सौ सात राजधानियों का संयुक्त संघीय सरकार होना असंभव है। अतः लगता है कि गद्यांश में 'ततका येव उपराजानों' आदि शब्द बाद में किसी ने जोड़ दिया होगा।<sup>49</sup> अतः हम इसका अर्थ केवल यह ले सकते हैं कि लिच्छवि में से सात हजार सात सौ सात कुलीन लिच्छवि वैशाली में थे जिन्हें आजीवन सर्वोच्च शक्ति (अधिकार) उपभोग करने का अधिकार



प्राप्त था।<sup>50</sup> सात हजार सात सौ सात सदस्य राजाओं के अतिरिक्त अन्य पदाधिकारियों की संख्या देने की परंपरा की आवश्यकता संभवतः इसलिए हुई होगी कि वैशाली में इन सदस्यों के अतिरिक्त अन्य लिच्छवि भी रहते होंगे जिन्हें आजीवन सदस्यता नहीं प्राप्त थी। वे संभवतः उससे कम सुविधा का उपयोग करते थे। इनका संभवतः वैशाली में अपना अलग निवास भी नहीं था।<sup>51</sup> लिच्छवियों का गणराज्य एक अभिजात वर्ग द्वारा संचालित था। बौद्ध ग्रंथों में उन्हें 'क्षत्रिय' कहा गया है। भगवान बुद्ध उन्हें वशिष्ठ पुत्र कहकर संबोधित करते थे तथा जैन ग्रंथ (सूत्रकृतांग 1.13.10) में उनके प्रख्यात गोत्र का उल्लेख है।<sup>52</sup> श्रीपाद डांगे का मत है कि लिच्छवि गणराज्य के सदस्य 'राजनगण' थे जिन्हें परंपरानुसार गण के निर्वाचित नेतृत्व के थे, पैतृक अभिजात्यों में परिणित कर लिया गया था। शासक समितियों के लिए केवल इन्हीं अभिजात्यों में से व्यक्तियों को चुना जा सकता था, और गण द्वारा ही इनका अभिषेक होता था। ये ही लोग शासन व्यवस्था को चलाने के लिए कार्यकारिणी परिषद् और अधिकारियों तथा नायकों का निर्वाचन करते थे।<sup>53</sup> अल्तेकर ने जातक के गद्यांश का अभिप्राय लिया कि सात हजार सात सौ सात राजा तथा उतने की उपराजा, सेनापति तथा भाण्डागारिक वैशाली राज्य में रहते थे। उन्होंने जातक के विवरण को विश्वसनीय मानते हुए कहा कि जब आर्यों ने इस क्षेत्र में आकर अधिकार किया, तो वे संभवतः सात हजार सात सौ सात क्षत्रिय परिवारों में बंट गए जो एक तरह से राज्य के जमींदार परिवार हो गए। प्रत्येक परिवार का प्रमुख व्यक्ति राजधानी में रहता था जिनके पास अपने प्रबंधक होते थे जिन्हें भाण्डागारिक कहा जाता था। यदि ये क्षत्रिय 'राजन' के रूप में जाने जाते थे तो स्वाभाविक है कि उनके पुत्र युवराज या युवराज कहे जाएंगे।<sup>54</sup>

प्रत्येक सदस्य को अपनी जमींदारी चलाने के लिए छोटी-सी सेना भी रखनी होती होगी। जब ये राजा स्वयं इस छोटी-सी सेना का संचालन करके योग्य नहीं रह गए तो उन्होंने सेनापति की नियुक्ति की। इस प्रकार सात हजार सात सौ सात राजाओं को सिद्धांत रूप में केंद्रीय समिति (व्यवस्थापिका सभा) में भाग लेने का अधिकार प्राप्त था। अतः इस प्रकार वज्जि गण या संघ राज्य में सात सौ सात सेनापति तथा सात हजार सात सौ सात युवराज, सात हजार सात सौ सात सेनापति तथा सात हजार सात सौ सात भाण्डागारिक रहे होंगे जिनमें से संभवतः कुछ राजा राजधानी में विभिन्न पदों पर थे, कुछ गांवों में ही रहते थे।<sup>55</sup> देवी दत्त शुक्ल<sup>56</sup> का मत है कि अपनी जमींदारी के प्रबंध के निमित्त यह सेना संभवतः गणराज्य की रक्षा के लिए भी देते रहे हों। प्रत्येक सामंत अपनी जमींदारी का अन्न एकत्रित करने के लिए एक भाण्डागारिक पास रखता था, प्रत्येक सामंत अपने जीवन काल में ही उत्तराधिकारी घोषित करते थे, जिसे युवराज कहते थे।<sup>57</sup> इस प्रकार सारा राज्य सामंतों में बंटा हुआ था और प्रत्येक सामंत राज्य सभा (केंद्रीय समिति) का सदस्य था।



यद्यपि उपर्युक्त जातक के अनुसार वे सब सामंत ही थे, परंतु ललित विस्तर (3,21) से विदित होता है कि वे अपने को राजा से कम नहीं समझते थे। एक जातक<sup>58</sup> में कहा गया है कि 'वैशालीनगरे गण राज कुलानाम अभिषेक मंगलपोखरणी'। इससे स्पष्ट है कि लिच्छवि राज्य एक गणराज्य था जिसके सदस्य अपने कुलों के अभिषेक कुलपति होते थे। अतः हम उसको सामंत पर्यायी गणराज्य मानते हैं।<sup>59</sup>

इस प्रकार यह तथ्य प्रायः सभी विद्वान स्वीकार करते हैं कि लिच्छवि गणराज्य एक कुलीन गणराज्य था जिसके सभी सदस्य क्षत्रिय हुआ करते थे। लेकिन इसका समुचित उत्तर अभी तक नहीं दिया जा सका है कि ये सदस्य कुल या परिवार के सदस्यों द्वारा चुनकर आते थे या मनोनीत कुलवृद्ध या गृहपति होते थे। जो कुछ प्रमाण मिला है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि लिच्छवियों की केंद्रीय समिति में छोटे-बड़े सभी उम्र के सदस्य होते थे। इसकी पुष्टि ललितविस्तर के इस कथन से होती है लिच्छवियों की सभा में छोटा-मध्य-वृद्ध-ज्येष्ठ का कोई विचार नहीं था, सभी अपने को 'मैं राजा हूँ', 'मैं राजा हूँ' कहते थे।<sup>60</sup> अंगुत्तर निकाय (1-134, 142) में लिच्छवियों में ज्येष्ठों के सम्मान का संकेत भगवान बुद्ध करते हैं।<sup>61</sup> इससे विदित होता है कि केंद्रीय समिति में युवक और वृद्ध सभी अवस्थाओं के व्यक्ति सदस्य थे। ये सदस्य परिवार या कुल के सदस्यों द्वारा मनोनीत या निर्वाचित योग्य व्यक्ति होते थे, उसमें उम्र का विचार नहीं किया जाता था। इस सदस्यों की सात हजार सात सौ सात संख्या देखकर विद्वान भ्रम में पड़ गए और अनेकानेक कल्पनाएं करके मत प्रतिपादित कर डाले। अगर हम इन विद्वानों के मतानुसार सात हजार सात सौ सात सदस्य राजा को सामंत या सामंत परिवार के कुल का प्रमुख (जिनके पास अपने प्रशासन के लिए एक अलग सेना तथा कर आदि का हिसाब-किताब रखने के लिए एक भाण्डागारिक भी होता था) मान लें तो इसका अभिप्राय होगा कि वैशाली क्षेत्र बहुत विस्तृत था। अल्लेकर<sup>62a</sup> के अनुसार शाक्य, मल्ल, लिच्छवि तथा विदेह आदि सभी को मिलाकर भी इनके राज्यों का विस्तार लंबाई में दो सौ तथा चौड़ाई में सौ मील से अधिक नहीं था। इसमें से लिच्छवि गणराज्य का कितने क्षेत्र पर अधिकार था, कहना कठिन है। हेनत्सांग के विवरण के अनुसार वज्जि देश का कुल क्षेत्रफल पांच हजार ली (एक हजार मील के लगभग) था। इस छोटे से क्षेत्र में सात हजार सात सौ सात सामंतों या जमींदारों (छोटा या बड़ा) के अस्तित्व का होना संदिग्ध लगता है। अतः इन सदस्यों को सामंत या जमींदार परिवार का प्रमुख मान लेना समीचीन नहीं है। अस्तु यह सोचना अधिक तर्कसंगत होगा कि वज्जि संघ के ये सात हजार सात सौ सात सदस्य वज्जि संघ में सम्मिलित आठ कुलों से संबंधित परिवार के मनोनीत सदस्य रहे होंगे जिन्हें केंद्रीय समिति में भाग लेने का अधिकार प्राप्त था। महावस्तु<sup>62b</sup> में ही वैशाली क्षेत्र में रहने वाले सोलह हजार आठ सौ या एक लाख अरसठ हजार राजाओं की संख्या को अल्लेकर ने शासन वर्ग के परिवार की संभवतः कुल सदस्यों की संख्या माना है। इन क्षत्रिय परिवारों का मुख्य व्यवसाय कृषि था जिसे

ये स्वयं भी करते थे तथा दास या कृषि भूतक (खेतिहर मजदूर) से भी कराते थे। इन्हीं क्षत्रिय परिवारों के सदस्य ही संभवतः राज्य के सभी महत्वपूर्ण पदों (गाम गामणिक सहित) के उम्मीदवार हो सकते थे।

2. संथागार : राहुल सांकृत्यायन के अनुसार वैशाली की व्यवस्थापिका सभा (केंद्रीय समिति) को संस्था<sup>63</sup> कहा जाता था और जहां सदस्य आपस में मिलकर किसी समस्या पर विचार विमर्श करते थे उसे संस्थागार<sup>64a</sup> (संस्कृत का संथागार) कहा जाता था। यह संथागार अधिवेशन के लिए खुलता था जिसका अध्यक्ष कुर्सी (या ऊंचे आसन) पर बैठता था।<sup>64b</sup> अट्टकथा में उल्लेख है कि वैशाली वाले जब अपने संस्थागार में आते थे, उस समय उनके संथागार में घड़ियाल (निमंत्रण का घंटा) बजाया जाता था।<sup>65</sup> संथागार में राजनीतिक व सैनिक विषयों के अतिरिक्त कृषि, व्यापारिक तथा धार्मिक विषयों पर भी वाद-विवाद हुआ करता था।<sup>66</sup> यह अपना एक दूतक भी नियुक्त करते थे जिसे महात्मक कहते थे जो लिच्छवियों की तरफ से संदेश भी पहुंचाया करता था।<sup>67</sup> ऐसा ही एक संदेश महालि नामक लिच्छवि राजगृह के बिबसार के पास लेकर पहुंचा था जिसमें भगवान बुद्ध को वैशाली आने का निमंत्रण था।<sup>68</sup> लिच्छवि गणराज्य की सर्वोच्च सत्ता संस्थागार थी जो समस्त जनता की ओर से कार्य करती थी।<sup>69</sup>

3. अध्यक्ष तथा कार्यपालिका के अन्य अधिकारी : संभवतः केंद्रीय समिति के सदस्य ही अध्यक्ष कार्यपालिका के अन्य सदस्यों का चुनाव करते थे।<sup>70</sup> वज्जि या लिच्छवि राज्य के मंत्रिमंडल में नौ सदस्य थे।<sup>71</sup> मंत्रियों का चुनाव कुछ प्रतिष्ठित कुल के प्रमुखों में से ही होता था, या कोई भी इस पद के लिए खड़ा हो सकता था, ठीक ज्ञात नहीं है। लेकिन इतना विदित है कि प्राचीन भारत के गणराज्य अपनी समर शूरता के लिए प्रख्यात थे। अतः उनके मंत्रिमंडल के सभासद अवश्य ही संकट में अपने गण के उद्धार की शक्ति रखने वाले धीरवीर सेनानी रहे होंगे। महाभारत<sup>72</sup> में भी इस बात का उल्लेख है कि गण के नेता के लिए प्रजा, पौरुष, उत्साह, अनुभव, शास्त्र और गण परंपरा का ज्ञान आदि गुणों का समावेश होना आवश्यक था। गणाध्यक्ष ही मंत्रिमंडल का प्रधान और समिति का अध्यक्ष हुआ करता था। शासन कार्य की देख-रेख के साथ ही उसका मुख्य कार्य गण की एकता बनाए रखना, झगड़े तथा फूट का निवारण करना था जो बहुधा गणराज्यों के अध्यक्ष के कारण होते थे।<sup>73</sup> एक मंत्री के पास परराष्ट्र विभाग रहता था जो गुप्तचरों के विवरण सुनता था और अपने तथा दूसरे राज्यों के छिद्रादि पर आंख रखता था।<sup>74</sup> कोष विभाग एक अन्य मंत्री के हाथ में रहता था उसे राज्य के धन को बाजार में विनियोग करने और राज्य का ऋण वसूल करने का अधिकार था।<sup>75</sup> तीसरा विभाग न्याय का था, इसके अध्यक्ष का कार्य संभवतः अपने अधीन न्यायालयों के विचारों की अपील सुनकर व्यवहार और धर्म के नियमानुसार अंतिम निर्णय करना था।<sup>76</sup> अन्य विभागों में दण्ड (पुलिस), कर, व्यापार और उद्योग के विभाग भी थे। कुछ गणतंत्र व्यापार में भी उतने ही उन्नत थे जितने वे युद्ध में विख्यात थे।<sup>77</sup>



प्रत्येक विभाग के अध्यक्ष के अधीन विभिन्न श्रेणी के अधिकारी काम करते थे। शाक्य, कोलिय आदि छोटे-छोटे राज्यों के अधीन अधिकारी सीधे विभागाध्यक्ष से संबंध रखते थे, बड़े राज्यों के बीच की कई श्रेणियां होती थीं।<sup>78</sup>

## दलीय पद्धति

वज्जि या लिच्छवि गणराज्य की केंद्रीय समिति या व्यवस्थापिका सभा में विभिन्न दलों का महत्व था, परंतु वे आज की तरह किसी राजनीतिक दल या विचारधारा से प्रेरित नहीं थे, बल्कि ये दल किसी विशिष्ट प्रभावशाली व्यक्ति के प्रति निष्ठा रखते थे, जो राजनीतिक दृष्टि ने अपना विशिष्ट स्थान रखते थे।<sup>79</sup> केंद्रीय समिति या व्यवस्थापिका सभा में किसी सामाजिक या धार्मिक अवसरों पर भले ही शांति रहती हो, पर महत्वपूर्ण राजनीतिक विषयों पर चर्चा के समय में सदन में शांति नहीं रहती थी। बौद्ध ग्रंथों, अर्थशास्त्र तथा महाभारत में गणतंत्रों में आपस का ईर्ष्या-द्वेष और दलबंदी की प्रबलता ही इनकी सबसे बड़ी दुर्बलता बतलाई गई है।<sup>80</sup> कौटिल्य गणतंत्र व्यवस्था के विरोधी थे। अतः उन्होंने बहुत से अनुचित उपाय बताए हैं जिनसे गणतंत्रों में भेद पैदा कर उनका विनाश किया जा सके।<sup>81</sup> दलबंदी का कारण प्रायः सदस्यों में आपसी ईर्ष्या तथा अधिकार लोलुपता थी। आजकल की भांति उस काल में भी संघ के सदस्य अधिकार प्राप्ति के लिए गुट बनाया करते थे। दौड़-धूप करने वाले, गुटबंदी तथा भाषण कला में पटु व्यक्ति अधिकार प्राप्त करने में सफल हो जाते थे।<sup>82</sup> लेकिन आजकल की भांति उस समय भी सत्तारूढ़ गुट को सत्ता से अपदस्थ करना कठिन काम था।<sup>83</sup> समिति में दलबंदी तीव्र होने पर बेचारे संघ-मुख्य की स्थिति बहुत नाजुक और दयनीय होती थी। वह स्वार्थ के लिए झगड़ने वाले दोनों पक्षों के विरोध का लक्ष्य बनता था।<sup>84</sup>

## समिति का संचालन तथा वाद-विवाद संबंधी नियम

समिति के संचालन और वाद-विवाद के नियंत्रण संबंधी कुछ नियम तो अवश्य ही बने होंगे पर किसी राज्यशास्त्र के लेखक ने उनका वर्णन नहीं किया है। यदि यह मान लिया जाए कि बौद्ध संघ के नियम तत्कालीन गण या संघ राज्यों के नियम के आधार पर बनाए जाते थे तो इस संबंध में हमें कुछ जानकारी अवश्य मिल जाती है।<sup>85</sup> बौद्ध संघ की गणपूर्ति (कोरम) के लिए बीस सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक थी। संभव है कि इस प्रकार का कोई नियम गणतंत्र की समिति में भी रहा हो, विशेषकर जब विभिन्न दलों में अधिकार प्राप्ति के लिए इतनी होड़ रहती थी।<sup>86</sup> सदस्यों के बैठने का स्थान निर्धारित करने के लिए भी एक कर्मचारी नियुक्त था। संभवतः गण मुख्य मंच पर बैठते थे और शेष अपने दलों के साथ उनके सामने रहते थे।<sup>87</sup> गण-मुख्य अधिवेशन का अध्यक्ष होता था और मंत्रणा का नियंत्रण करता था। थोड़ा-सा भी पक्षपात करने पर उसकी कटु आलोचना होती थी।<sup>88</sup>



सर्वप्रथम किसी विषय पर विचार करने के लिए तत्संबंधित विज्ञप्ति या सूचना सबके सामने प्रस्तुत की जाती थी। तदोपरांत प्रस्तावक औपचारिक रूप से प्रस्ताव प्रस्तुत करता था, तत्पश्चात् उस पर वाद-विवाद होता था।<sup>89</sup> बौद्ध संघ में यह प्रथा थी कि जो लोग प्रस्ताव के पक्ष में होते थे, वे चुप रहते थे, केवल विरोधी ही असहमति प्रकट करते थे। परंतु गणतंत्र की समितियों में तो जोरों का विवाद बराबर होता रहा होगा। आजकल की भांति बौद्ध संघ में तीन बार लोगों के समक्ष प्रस्ताव प्रस्तुत और स्वीकृति किया जाता था, लेकिन गणतंत्रों की समितियों में संभवतः यह परिपाटी नहीं बरती जाती थी। जब मतभेद दिखाई देता था तब मत लिए जाते थे और बहुमत का निर्णय मान्य होता था। जब शाक्यों को कोसल की सेना द्वारा अपनी राजधानी धिर जाने पर कोसल नरेश की अंतिम चेतावनी मिली तब उनकी समिति ने यह निर्णय करने के लिए सभा बुलाई कि दुर्ग का फाटक खोल दिया जाए या नहीं। कुछ लोग इसके पक्ष में तथा कुछ विपक्ष में थे। अंत में मत संग्रह करके बहुमत द्वारा आत्मसमर्पण करने का निर्णय किया गया।<sup>90</sup> इसी तरह लिच्छवियों की समिति में खंड की मृत्यु के पश्चात् सेनापति पद के लिए उसके दोनों पुत्र गोप तथा सिंह के पक्ष-विपक्ष में मत संग्रह हुआ तथा बहुमत के आधार पर सिंह को सेनापति चुना गया।<sup>91</sup>

मतगणना के लिए बौद्ध संघों में शलाका (एक चीनी लेख के अनुसार ये शलाकाएं लकड़ी की बनी होती थी) पद्धति अपनाई जाती थी। सम्मति जानने को शलाका-ग्रहण कहते थे तथा इसे संग्रह करने वाले व्यक्ति को शलाका-ग्राहक कहते थे। वह बतलाता था कि किस रंग से क्या सूचित होता है। संग्रह करने का कार्य गुप्त तथा खुले दोनों रूप में होता था।<sup>92</sup> किसी प्रस्ताव के समय यदि कोई सदस्य उपस्थित नहीं होता था तो उसके मत या छंद बहुत सावधानी के साथ गुप्त रूप से एकत्र किए जाते थे। परंतु उन मतों या छंदों को गिनना या न गिनना उपस्थित सदस्यों की इच्छा पर निर्भर होता था।<sup>93</sup>

समिति में वाद-विवाद के समय यदि कोई सदस्य परस्पर विरोधी, भद्दा अथवा अश्लील वचन बोल देता था तो उसके विरुद्ध निंदा-प्रस्ताव भी प्रस्तुत किया जाता था।<sup>94</sup> जिस प्रश्न का एक बार निराकरण हो जाता था, उसे पुनः उठाना भी उचित नहीं समझा जाता था।<sup>95</sup>

समिति की कार्यवाही लिखने के लिए लेखक भी होते थे जो अधिवेशन के समय अपना स्थान कभी नहीं छोड़ते थे और सब प्रकार की प्रतिज्ञाएं तथा निर्णय लिखा करते थे।<sup>96</sup> कुछ कार्यवाही जो एक दिन में पूर्ण नहीं हो पाती थीं उन पर विचार कुछ समय तक नहीं हो पाता था।

## स्थानीय शासन

लिच्छवि गणराज्य में नगर तथा ग्राम दोनों अस्तित्व में थे, लेकिन इनके

शासनप्रणाली के संबंध में कोई विशेष सामग्री नहीं मिलती है। केवल कुछ संदर्भों के आधार पर हम कुछ कह सकते हैं। अंगुत्तर निकाय<sup>97</sup> में एक संदर्भ आता है, जब भगवान बुद्ध लिच्छवि-पुत्रों को उपदेश देते हुए कहते हैं कि वे भी उन्नति करके किसी राज्य का शासक हो सकते हैं, राष्ट्रिक या पैतनिक हो सकते हैं, या किसी के निर्वाचित राजा या ग्राम का सभापति या मुखिया (गाम गामणिक) या शिल्प संबंधी किसी गण या संघ के सभापति (पूग गामणिक) हो सकते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह सभी पद किसी प्रशासनिक ढांचे के प्रमुख का है, जो नगर तथा ग्रामों की व्यवस्था के अंतर्गत आते थे तथा कुलपुत्र ही सब पदों के उम्मीदवार हो सकते थे।

1. नगर शासन : लिच्छवि या वज्जि गणराज्य की राजधानी वैशाली में स्थानीय प्रशासन हेतु स्वायत्त परिषदें अवश्य होती रही होंगी।<sup>98</sup> इन स्वायत्त परिषदों में शासक उच्च श्रेणी के अतिरिक्त जनसाधारण श्रेणी के विविध वर्गों का भी प्रतिनिधित्व रहता था, जैसा कि नृपतंत्र में नगरों में होता था।<sup>99</sup> इन परिषदों के निर्वाचन और कार्य प्रणाली के संबंध में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। इसलिए यह जानना संभव नहीं है कि इस परिषदों पर केंद्रीय शक्ति का नियंत्रण कैसे और किस रूप में रहता था तथा केंद्रीय समिति में इनके प्रतिनिधि जाते थे या नहीं।<sup>100</sup>

2. ग्राम शासन : नगरी के चारों ओर बहुत सारे ग्राम थे जिनमें कुछ महत्वपूर्ण ग्रामों का उल्लेख बौद्ध ग्रंथों में हुआ है, जैसे वेलुवगाम (वेणुग्राम), कालंदकगाम, कोटिगाम, नदिका या नातिका, भण्डगाम, हस्तिगाम, अम्बगाम, भोग नगर आदि।<sup>101</sup> इन सभी ग्रामों में भगवान बुद्ध भ्रमण किया करते थे। इन ग्रामों में वज्जि राज्य या संघ में सम्मिलित कुल के लोग निवास करते थे। कोटिग्राम तथा भोगनगर में क्रमशः वज्जि तथा भोग कुल के लोग निवास करते थे।<sup>102</sup> इन महत्वपूर्ण ग्रामों में पंचायतें अवश्य रही होंगी, उनके अधिकार भी राजतंत्रांतर्गत ग्राम पंचायतों से कम न रहे होंगे।<sup>103</sup> यह भी संभव नहीं प्रतीत होता कि इनकी सदस्यता केवल उच्च या शासक वर्ग तक ही सीमित रही है, क्योंकि इस वर्ग के अधिकांश लोग वैशाली में ही रहते थे तथा केंद्रीय राजनीति में ही अधिक रुचि लेते थे। संभवतः पंचायत में किसान, व्यापारी, कारीगर (शिल्पी) आदि सभी ग्रामीण वर्गों के प्रतिनिधि होते थे।<sup>104</sup> लेकिन संभवतः ग्राम प्रधान या मुखिया के पद के लिए उम्मीदवार कुलपुत्र ही हो सकता था जैसा कि भगवान बुद्ध के मुख से लिच्छवि पुत्रों को दिए उपदेश में ध्वनित होता है।<sup>105</sup>

इस प्रकार कहा जा सकता है कि लिच्छवि गणराज्य का केंद्रीय तथा स्थानीय प्रशासन काफी सुदृढ़ रहा होगा, और इसी कारण वे दीर्घकाल तक अपनी गणतांत्रिक परंपरा को सुरक्षित रख सके थे। यह आश्चर्य ही कहा जाएगा कि इस लंबे काल में हमें किसी ऐसी घटना का उल्लेख नहीं मिलता है जिसमें विशेष अधिकार प्राप्त लिच्छवि तथा आम जनता के मध्य किसी प्रकार का संघर्ष हुआ हो।



## न्यायव्यवस्था

लिच्छवियों की न्यायव्यवस्था बहुत उन्नतिशील थी, जिसका अन्यत्र उदाहरण प्राचीन भारत के गणराज्यों में नहीं मिलता है। अट्टकथा में दी गई कथा से विदित होता है कि यदि व्यक्ति अपराधी नहीं है तो उसे अपराधी सिद्ध करना बहुत कठिन था। क्योंकि अभियुक्तों की सुनवाई क्रमशः सात न्यायालयों में होती थी। किसी भी न्यायालय में यदि कोई अभियुक्त निर्दोष सिद्ध कर दिया जाता था तो वह अभियोग से मुक्त कर दिया जाता था। लेकिन यदि एक न्यायालय में उसे दोषी सिद्ध कर दिया जाता था तो भी न्यायाधीश उसे दण्ड नहीं दे सकते थे। उस मुकदमे की सुनवाई उससे ऊपर के न्यायालय में होती थी। इस तरह क्रमशः सात न्यायालयों में उसकी सुनवाई होती थी। केवल अंतिम न्यायालय, जिसका न्यायाधीश (न्यायाध्यक्ष) स्वयं गणप्रमुख राजा होता था, उसे अपराधी घोषित कर सकता था तथा दण्ड दे सकता था।<sup>106</sup>

न्यायिक शक्ति : लिच्छवि गणराज्य में न्याय देने की सर्वोच्च शक्ति राज्याध्यक्ष में निहित थी। इसी के समक्ष मुकदमों की अंतिम सुनवाई होती थी तथा दण्ड पर विचार किया जाता था।<sup>107</sup> वह उचित न्याय देने के लिए विधि मंत्री की सहायता भी लेता था।

धर्माधिकारी : न्यायाध्यक्ष के अतिरिक्त केंद्रीय मंत्रिमंडल में एक मंत्री न्याय विभाग संभालता था। इस पद पर बाहरी या दूसरे देश के व्यक्ति को भी आसीन किया जा सकता था जिसे वेतन दिया जाता था।<sup>108</sup> अल्लेकर का मत है कि न्यायाध्यक्ष का कार्य संभवतः अधीनस्थ न्यायालयों की अपील सुनाकर व्यवहार और धर्म के अनुसार अंतिम निर्णय देना था।<sup>109</sup>

न्यायालयों का वर्गीकरण : राज्य की न्यायपालिका सात न्यायालयों<sup>110</sup> में विभाजित थी जिसका क्रम इस प्रकार था। सर्वप्रथम मुकदमा प्रारंभिक जांच के लिए विनिश्चय महामात्र के पास आता था। संभवतः इन्हीं न्यायाधीशों के अंतर्गत साधारण तथा फौजदारी के मुकदमों की सुनवाई होती थी। इसके उपरांत मुकदमों की सुनवाई बोहारिक (न्यायकर्ता) के न्यायालय में होती थी। बोहारिक (व्यावहारिक) संभवतः व्यवहार या विधि के ज्ञाता होते थे। इसके पश्चात् मुकदमे की सुनवाई प्रधान न्यायालय अथवा हाई कोर्ट में होती थी जिसके न्यायाधीश को 'सूत्रधार' कहते थे, जो व्यवहारशास्त्र का आचार्य होता था।

इस सबके ऊपर एक काउंसिल होती थी जिसे अष्ट-कुलक कहते थे, जिसमें आठ न्यायकर्ता (जुरी व्यवस्था) होते थे।<sup>111</sup> रिस डेविड ने अष्टकुलक का अर्थ आठ वर्गों या उपजातियों के प्रतिनिधि से लिया है।<sup>112</sup> लेकिन यह समीचीन नहीं लगता। कात्यायन ने 'कुल' शब्द का व्यवहार जुरी के अर्थ में किया है।<sup>113</sup> जायसवाल अष्ट-कुलक का



अर्थ 'आठ सदस्यों की न्यायकारी काउंसिल' से लेते हैं।<sup>114</sup> संभव है, वज्जि संघ में आठ कुल सम्मिलित होने के कारण प्रतीक रूप में इस न्यायालय के जूरी सदस्यों की संख्या आठ रखी गई हो। इस न्यायालय से नीचे न्यायालयों को किसी व्यक्ति को निर्दोष पाने पर मुक्त करने का अधिकार उनके पास नहीं था। दोषी ठहराए गए व्यक्तियों के मुकदमों की सुनवाई तत्पश्चात् अष्टकुलक के न्यायालय में होती थी। संभवतः इसी न्यायालय के जूरी सदस्य उस पर विचार करके उचित निर्णय देते थे। लेकिन इन सदस्यों को भी संभवतः अभियुक्तों को दोषी पाने पर दण्ड देने का अधिकार प्राप्त नहीं था।<sup>115</sup> उपरोक्त न्यायालयों में भी यह अभियुक्त दोषी सिद्ध हो जाता था तो उसकी अंतिम सुनवाई संभवतः केंद्रीय समिति के मंत्रिमंडल में क्रमशः सेनापति, उपराजा तथा राजा के पास होती थी। उसे दोषी पाने पर अंतिम रूप से राजा ही नियमानुसार दंड देता था।<sup>116</sup>

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत की न्याय व्यवस्था में कुलक या कुल न्यायालय का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यह न्यायालय छोटे व बड़े न्यायालयों के मध्य एक कड़ी थे। संस्कृत-साहित्य में वर्णित गणतंत्रात्मक न्यायव्यवस्था भी कुछ सीमा तक अट्टकथा में वर्णित न्यायव्यवस्था से मेल खाती है। महाभारत के रचयिता की सम्मति में किसी गणराज्य में अभियुक्तों के अपराधों पर दंड का विचार अथवा न्याय मुख्यतया पंडितों के द्वारा शीघ्र (निग्रहः पंडितैः कार्यः क्षिप्रमेव प्रधानतः) होना चाहिए।<sup>117</sup> कुल न्यायालय अथवा कुल के वृद्धों से निष्पक्ष और शीघ्र न्याय की अपेक्षा रहती थी और उनसे यह आशा नहीं की जाती थी कि किसी व्यक्ति को अपराध करते देखकर वे उसकी उपेक्षा करें अथवा चुपचाप बैठे रहेंगे।<sup>118</sup> भृगु ने भी भिन्न-भिन्न न्यायाधीशों का जिस प्रकार उल्लेख किया है, उससे यही संकेत मिलता है कि प्राचीन भारत के गणराज्यों में निर्णय करने वाली संस्था कुलिक और कुल कहलाती थी।<sup>119</sup>

**न्याय निर्देशिका :** अंतिम न्यायालय का न्यायाध्यक्ष (गण प्रमुख राजा) अभियुक्त को दंड देने के लिए पवेनिपत्थक या प्रवेणि पुस्तक (न्याय निर्देशिका) की सहायता लेता था जिसमें पूर्व मुकदमों का विवरण संग्रहीत रहता था।<sup>120</sup>

**व्यक्तिगत स्वतंत्रता :** लिच्छवि गणराज्य में इस प्रकार की उन्नतिशील न्यायव्यवस्था देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समय नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा बहुत सावधानी से की जाती थी।<sup>121</sup> रमेशचंद्र मजूमदार ने कहा है कि नागरिक सुरक्षा की इतनी अच्छी व्यवस्था संसार में बहुत कम देखने को मिलती है।<sup>122</sup> लेकिन यू. एन. घोषाल<sup>123</sup> ने इस व्यवस्था में संदेह व्यक्त करते हुए कहा कि न्यायव्यवस्था का इतना लंबा क्रम होने के कारण इसके व्यवहार में शंका होती है। पुनश्च इसमें अपराधी अनुचित रूप से लाभ उठा सकता है। इस व्यवस्था से यह भी भाव निकलता है कि राजा को अपने पदाधिकारियों की योग्यता तथा ईमानदारी पर

विश्वास नहीं था। अतः संभव है कि बाद में लोगों ने इस न्यायालय की सूची में उन सभी पदाधिकारियों के नाम जोड़ दिए जो उन्हें ज्ञात थे, क्योंकि बुद्ध घोष ने वज्जिसंघ के लोप के लगभग आठ शताब्दी पश्चात् महा-परिनिब्बान सुत्त की यह व्याख्या सुमंगल विलासिनी में लिखी थी।

इस प्रकार हम कह सकते हैं लिच्छवि गणराज्य में एक व्यक्ति न्याय पाने के लिए अंतिम न्यायालय तक बिना किसी असुविधा के पहुंच सकता था। आज की भांति उसे न्यायालय, सर्वोच्च न्यायालय तथा राष्ट्रपति के पास अपील करने के लिए किसी विशेष विधि या शर्त का पालन नहीं करना पड़ता था। मुकदमों की सुनवाई स्वतः ही अगले न्यायालयों में विचारार्थ पहुंच जाती थी। निर्दोष व्यक्ति को अपनी सफाई प्रस्तुत करने का समुचित अवसर मिलता था जिससे उसके हित की रक्षा होती थी।

## संदर्भ तथा टिप्पणियां

1. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति (प्रथम संस्करण), पृ. 77.
  2. स्मिथ (संपा.), परमत्थजोतिका आन द खुट्कपाठ, पा. टे. सो., पृ. 158-60; वि. च. ला., क्षत्रिय क्लान्स पृ. 17-21 (यह विवरण अतिशयोक्तिपूर्ण है, इससे केवल यह आभास मिलता है कि वज्जि गणराज्य सबसे अधिक क्षेत्र पर था).
  3. बील, बुद्धिष्ट रिकार्ड आफ द वेस्टर्न वर्ल्ड, भाग 2, पृ. 65-67.
  4. पी. हिस्ट्री (छठा संस्करण), पृ. 118.
  5. मज्झिम निकाय, भाग 1, पृ. 231 (इसे सम पि हि भो गोतम संधानम् गणानम्; वज्जिनम् मल्लानम्) देवीदत्त शुक्ल, प्राचीन भारत में जनतंत्र (प्रथम सं., 1966), पृ. 29 : शुक्ल के विचार में गण तथा संघ शब्द पर्यायवाची नहीं हैं। संघ शब्द का सामान्य अर्थ समूह यथा नटों, गायकों, व्यापारियों का संघ, धार्मिक संघ, जैसे बौद्ध संघ आदि में यह अलग अर्थ रखता है। संघ शब्द का पारिभाषिक अर्थ में संघ राज्य के लिए होता है, जिनमें एकाधिक गणराज्य संगठित होते थे, जैसे अंधक-वृष्णि संघ, यद्यपि पाणिनि सूत्र (3.3.86) 'संघोद्धौगणप्रशंसयोः' में संघ और गण समान अर्थ में ही प्रयोग हुआ है जिसके आधार पर बहुत से विद्वानों ने राज्यशास्त्र में गण और संघ को एक ही मान लिया लेकिन संभवतः संघ शब्द को सामान्यार्थ में गण कहा जाता था, क्योंकि दोनों शब्द समूह के लिए प्रयुक्त होते थे। पाणिनि के ही सूत्र, 5.2.52 'बहुपूगण संघस्य तिथुक्' से स्पष्ट होता है कि गण तथा संघ को विशेष अर्थ में लिया है और दोनों को भिन्न-भिन्न माना है, क्योंकि उक्त सूत्र में पूग, गण व संघ नामक संस्थाओं की कार्य प्रणाली की ओर संकेत किया गया है। लेकिन इससे स्पष्ट नहीं होता कि पाणिनी ने गण और संघ को राजनीतिक संस्थाओं के अर्थ में प्रयुक्त किया है। (वही, पृ. 25)। बौद्ध साहित्य में गण बहुधा गणराज्य के लिए ही प्रयुक्त हुआ है बौद्ध संघ में संघ की इकाइयों को वर्ग कहा है, और कात्यायन ने (वीर मित्रोदय, पृ. 12) वर्गिन शब्द की व्याख्या करते हुए वर्ग को गण कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि संघ की इकाई को गण कहते थे। (वही, पृ. 27)।
- इस प्रकार गण और संघ के अर्थों में अंतर देखते हैं। अतः कहा जा सकता है कि संघ की इकाई को

- गण कहते थे. वज्जिराज्य की वज्जिसंघ संभवतः इसलिए कहा जाता था, क्योंकि उसमें विदेह, लिच्छवि, वज्जि तथा ज्ञातुक आदि सम्मिलित थे.
6. महावस्तु, भाग 1, 254 (गण), पृ. 225 (लिच्छवि गण).
  7. महावस्तु, भाग 1, पृ. 254 (गण), पृ. 225 (लिच्छवि गण); यिनय पिटक (ओल्डनबर्ग द्वारा संपा.) भाग 4, पृ. 225 (वि. च. ला. द्वारा संपा., क्षत्रिय क्लान्स, पृ. 71-72 पर उद्धृत) में भी लिच्छवि गण का उल्लेख है.
  8. गिलगित मैनुस्क्रिप्ट, भाग 3, खंड 2, पृ. 3; वै. अभि. ग्रं., पृ. 131.
  9. प्रथम अध्याय देखिए.
  10. कल्पसूत्र, 128 (सै. बु. ई., भाग 22, पृ. 266).
  11. योगेंद्र मिश्र (वैशाली, पृ. 144) मुझाव देते हैं कि नौ गण राजा काशी तथा नौ गण राजा कोशल से संबंधित थे.
  12. हिंदू पालिटी (तृतीय संस्क.), पृ. 48.
  13. फाउसबोल (संपा.), जातक, भाग 1, पृ. 399 (जायसवाल द्वारा हिंदू राज्य (हिंदी अनुवाद) पृ. 156 पर उद्धृत); जायसवाल का मत है कि आजकल जिसे वोट कहते हैं, वह उन दिनों छंद कहलाता था. छंद शब्द का अर्थ है, स्वतंत्र, स्वतंत्रता या स्वाधीनता इससे यह सूचित होता है कि किसी विषय पर सम्मति देने वाला बिल्कुल स्वतंत्रतापूर्वक और अपनी इच्छा से कार्य करता रहा है. (वही).
  14. जायसवाल, वही, पृ. 157.
  15. घोषाल, स्टडीज इन एंशिअंट हिस्ट्री एंड कल्चर, पृ. 272-73.
  16. अ. अल्तेकर प्राचीन भारतीय शासन पद्धति (प्रथम संस्क.), पृ. 48.  
ब. वही, पृ. 72.
  17. पूर्व मीमांसा, 6.7.3 : ऋग्वेद (10.9.12), यजुर्वेद (31.11), अथर्ववेद (19.6.9) में क्षत्रिय वर्ण के लिए राजन्य शब्द प्रयुक्त हुआ है.
  18. अमरकोश, 2.8.9.3, अथ राजकम् राजन्यक व नृपतिक्षत्रियाणां गणे क्रमात्.
  19. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति (प्रथम संस्क.), पृ. 72.
  20. वही, पृ. 79; अल्तेकर, वै. अभि. ग्रं., पृ. 69.
  21. झा, लिच्छवि, पृ. 80.
  22. अंतुत्तर निकाय, भाग 3, पृ. 76.
  23. जायसवाल, हिंदू राज्यतंत्र, (हिन्दी), यू. 161.
  24. कुलानां हि समूहस्तु गणःसम्परिकीर्तितः 1, वीरमित्रोदय, पृ. 426 (जायसवाल, हिंदू राज्यतंत्र, पृ. 161 पर उद्धृत).
  25. जायसवाल, वही, पृ. 161.
  26. श्रीपाद डांगे, भारतः आदिम साम्यवाद से दास व्यवस्था तक (तृतीय संस्क., 1978), पृ. 69.
  27. महाभारत, शांतिपर्व, 107-30 : ज्ञात्या च सदृशा सर्वे कुलेन सदृशास्तथा.
  28. महाभारत, शांतिपर्व, 58-59 : रक्ताशय नाम्य जनन्त कार्यो कार्ये.
  29. हितनारायण झा, लिच्छवि, पृ. 76; इ. हि. क्वा., भाग 22, 1947, पृ. 59 : मगध राज में 'खंड' 500 अमात्यों का प्रमुख था, जहां से वह अन्य मंत्रियों की ईष्ठा के कारण मगध छोड़कर वैशाली चला गया था.
  30. झा, वही, पृ. 76.
  31. जायसवाल, हिंदू राज्यतंत्र (हिंदी अनु.), पृ. 162-63.



32. वही, पृ. 163.
33. वही, पृ. 163.
34. अर्थशास्त्र, 11, 1.
35. जायसवाल, हिंदू राज्यतंत्र (हिंदी अनु.), पृ. 162-63.
36. वही, पृ. 163.
37. वही, पृ. 163.
38. हितनारायण झा, लिच्छवि, पृ. 85, टिप्पणी 4; शोभा मुकर्जी, द रिपब्लिकन ट्रेड इन एंशिपेंट इंडिया, 54-55.
39. महावस्तु, भाग 1, पृ. 256, 271; अल्तेकर प्राचीन भारतीय शासन पद्धति (प्रथम संस्क.), पृ. 81.
40. जायसवाल, हिंदू राज्यतंत्र (हिंदी अनु.), पृ. 60-61; डायलाग्स, खंड 2, पृ. 79-80.; वै. अभि. ग्रं., पृ. 3.
41. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति (प्रथम संस्क.), पृ. 80.
42. वही, पृ. 80-81.
43. वही, पृ. 81.
44. हितनारायण झा, लिच्छवि, पृ. 79, टिप्पणी.
45. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति (प्रथम संस्क.), पृ. 81.
46. भंडारकर, कामाईकेल लेक्चर्स (1918), पृ. 135.
47. मजूमदार, कारपोरेट लार्ड्स (प्रथम संस्क.), पृ. 93-94 मजूमदार, एंशिपेंट इंडिया, पृ. 164.
48. का. प्र. जायसवाल, हिंदू पाटिली (प्रथम संस्क.), पृ. 51 और टिप्पणी.
49. यू. एन. घोपाल, स्टडीज इन एंशिपेंट इंडियन हिस्ट्री आफ कल्चर, पृ. 384; इ. हि. क्वा., भाग 20, अंक 4, पृ. 236-38.
50. इ. हि. क्वा., भाग 20, अंक 4, पृ. 337.
51. वही, पृ. 337.
52. वही, पृ. 337.
53. श्रीपाद डांगे, भारत; आदिम साम्यवाद से दास प्रथा तक (हिंदी अनु.), पृ. 160-61.
54. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति (प्रथम संस्क.), पृ. 69,
55. वही.
56. देवीदत्त शुक्ल, प्राचीन भारत में जनतंत्र (प्रथम संस्क.), (लखनऊ, 1966), पृ. 158.
57. वही, पृ. 155.
58. जातक (फाउसबोल द्वारा संपा.), भाग 4, पृ. 148; झा, लिच्छवि : इस सरोवर पर हमेशा कड़ा पहरा रहता था, ऊपर से एक लोहे की जाली बिछाई गई थी जिसमें से एक चिड़िया भी अंदर नहीं जा सकती थी; (कारपोरेट लार्ड्स, पृ. 93); भट्टसाल जातक (465) के अनुसार कोशल राज्य का सेनापति ने चुपके से अपनी पत्नी के साथ इसमें स्नान कर लिया जिस पर पांच सौ लिच्छवियों राजाओं ने उसका पीछा किया था.
59. देवीदत्त शुक्ल, वही, पृ. 155.
60. ललितविस्तर, अध्याय 3, पृ. 21.
61. जायसवाल हिंदू राज्यतंत्र (हिंदी अनु.), पृ. 60; भगवान बुद्ध द्वारा लिच्छवियों की प्रशंसा में कही गई सात बातों में एक यह भी थी कि वे लोग वृद्धों की प्रतिष्ठा, आदर, भक्ति तथा सहायता करते हैं और उनकी बातों को सुनना कर्तव्य समझते हैं.
62. अ. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति (प्रथम संस्क.), पृ. 78.
- ब. महावस्तु 1, पृ. 271; अल्तेकर के अनुसार (स्टेट एंड गर्वनमेंट इन एंशिपेंट इंडिया, द्वितीय संस्क.

- 1955, पृ. 115) संभवतः शासक वर्ग की कुल जनसंख्या एक लाख अरसठ हजार थी और केंद्रीय समिति में संयुक्त परिवार (लगभग 20-21 सदस्य) के प्रमुख, जिनकी संख्या जातक के अनुसार सात हजार सात सौ थी, भाग लेने के अधिकारी थे।
63. वै. अभि. ग्रं., पृ. 23; हितनारायण झा (लिच्छवि, पृ. 3) ने राहुल सांकृत्यायन को उद्धृत 'बस्पा' लिखा, जो कि अशुद्ध है, राहुल सांकृत्यायन ने इसे संस्था' ही कहा है।
64. अ. मज्झिम निकाय, भाग 1, पृ. 228; विनय मूल, भाग 1, पृ. 233; डायलाग्स, भाग 1, पृ. 111, टिप्पणी 2; योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 148; वै. अभि. ग्रं., पृ. 23.
64. ब. अल्लेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति (प्रथम संस्क.), पृ. 84.
65. ज. ए. सो. बं., भाग 7, पृ. 994-95; जायसवाल हिंदू राज्यतंत्र, हिंदी अनु., पृ. 68 योगेंद्र मिश्र, वही, पृ. 148.
66. विनय भाग 1, पृ. 233; हार्नर, भाग 4, पृ. 318; अंगुत्तर निकाय, भाग 4, पृ. 179 और आगे; डायलाग्स, भाग 3, पृ. 16; योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 148; जायसवाल, हिंदू राज्यतंत्र (हिंदी अनु.), पृ. 68; शोभा मुकजी, द रिपब्लिकन ट्रेड इन एंशिअंट इंडिया, पृ. 92.
67. शोभा मुकजी, वही, पृ. 92.
68. योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 153.
69. महावस्तु, भाग 1, 254 (वैशालकानां लिच्छवीनां वचनेन); योगेंद्र मिश्र, वही, पृ. 148.
70. योगेंद्र मिश्र, वैशाली, 148; जायसवाल, हिंदू राज्यतंत्र, पृ. 68; गिलगित मैनुस्क्रिप्ट, भाग 3, खंड 2, का प्रारंभिक अंश।
71. योगेंद्र मिश्र, वैशाली, 146; रायचौधुरी, पो. हि. (छटा संस्क.), पृ. 125, झा, लिच्छवि, पृ. 68; जैनसूत्र, खंड 1, सै. बु. ई., भाग 22, पृ. 266; अल्लेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति (प्रथम संस्क.), पृ. 85; वै. अभि. ग्रं., पृ. 70.
72. महाभारत, 12.107.20-21.
73. अल्लेकर, प्रा. भा. शा. पद्धति (प्रथम संस्क.), पृ. 86-87; शोभा मुकजी, द रिप. ट्रेड इन एं. इ., पृ. 93.
74. महाभारत, 12.109.19.
75. अर्थशास्त्र, अ. 12 देखिए; अल्लेकर, प्रा. भा. शा. पद्धति (प्रथम संस्क.), पृ. 86-87.
76. अर्थशास्त्र, अ. 17 तथा अल्लेकर, वही, पृ. 87.
77. अर्थशास्त्र, अ. 11 : वार्ता शास्त्रोपजीविन; अल्लेकर प्रा. भा. शा. पद्धति (प्रथम संस्क.), पृ. 87.
78. अल्लेकर, प्रा. भा. शा. पद्धति (प्रथम संस्क.), पृ. 87.
79. एस. एन. मिश्रा, एंशिअंट इंडिया रिपब्लिक, पृ. 122.
80. अल्लेकर, प्रा. भा. शा. पद्धति (प्रथम संस्क.), पृ. 83, डायलाग्स आफ बुद्ध, भाग 2, पृ. 80 महाभारत, 12.91.5.
81. अल्लेकर, वही, पृ. 83 (अर्थशास्त्र, 11).
82. अल्लेकर, वही, पृ. 83, महाभारत, 12.81.8-9.
83. अल्लेकर, वही, पृ. 84.
84. वही, पृ. 84.
85. वही, पृ. 84.
86. वही, पृ. 84.
87. वही, पृ. 84.
88. वही, पृ. 84.
89. वही, पृ. 84.

90. वही, पृ. 85; रॉकहिल, लाईफ आफ बुद्ध, पृ. 118-19.
91. रॉकहिल, वही, पृ. 63-64.
92. जायसवाल, हिंदू राज्यतंत्र, (हिंदी, अनु.), पृ. 154.
93. सै. बु. ई., भाग 17, पृ. 266.
94. चुल्लवग्ग, 4.1,4-9; जायसवाल, हि. रा. पृ. 154.
95. जायसवाल, वही, पृ. 154.
96. अल्लेकर, वही, पृ. 85; जायसवाल, हि. रा. (हिंदी), पृ. 155; रिस डेविड्स, डायलाग्स आफ बुद्ध, भाग 2, पृ. 263 टिप्पणी 4.
97. अंगुत्तर निकाय, भाग 3, पृ. 76.
98. अल्लेकर, प्रा. भा. शा. पद्धति (प्रथम संस्क.), पृ. 87.
99. वही, पृ. 87.
100. वही, पृ. 88.
101. योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 182-192 (इन ग्रामों की स्थित तथा विवरण के लिए)
102. वही, पृ. 184 तथा 192.
103. अल्लेकर, प्रा. भा. शा. पद्धति (प्रथम संस्क.), पृ. 88.
104. वही, पृ. 88.
105. अंगुत्तर निकाय, भाग 3, पृ. 76; जायसवाल, हिंदू राज्यतंत्र (हिंदी अनु.), पृ. 161.
106. सुमंगलविलासिनो (दीघ कमेंटरी), भाग 2, पृ. 519.
107. शोभा मुकर्जी, द रिपब्लिकन ट्रेंड इन एंशिअंट इंडिया, पृ. 93.
108. काशी प्रसाद जायसवाल, हि. रा. (हिंदी अनु.), पृ. 69.
109. द्रष्टव्य, टिप्पणी 76.
110. का प्र. जायसवाल, हि. रा. (हिंदी अनु.), पृ. 70.
111. वही, पृ. 71.
112. रिस डेविड्स बुद्धिष्ट इंडिया (कलकत्ता, 1959) xi पृ. 22; ज. ए. सो., भाग 7, पृ. 993; टर्नर के लेख की टिप्पणी.
113. वणिकाः स्यात् कतिपयैः कुल भूतैरधिष्ठितम् (जायसवाल, हिंदू राज्यतंत्र, पृ. 70 पर उद्धृत)
114. वही, पृ. 71.
115. वही, पृ. 70.
116. हितनारायण झा, लिच्छवि, पृ. 85; वैशाली, पृ. 149.
117. महाभारत, शांतिपर्व, अध्याय 107, 27 और 129 (जायसवाल हिंदू राज्यतंत्र, पृ. 70 पर उद्धृत)
118. जायसवाल, वही, पृ. 70.
119. वही, पृ. 70.
120. झा, लिच्छवि, पृ. 85; योगेंद्र मिश्र, वही, 149; जायसवाल, हिंदू राज्यतंत्र (हिंदी अनु.), पृ. 69.
121. जायसवाल, हिंदू राज्यतंत्र (हिंदी अनु.), पृ. 69. हिंदू पालिटी (तृतीय संस्क.), पृ. 46.
122. र. च. मजूमदार, एंशिअंट इंडिया (बनारस, 1952), पृ. 165.
123. यू. एन. घोषाल, स्टडीज इन एंशिअंट हिस्ट्री एंड कल्चर, पृ. 386-87; इ. हि. क्वा., भाग 20-4, अंक 4, पृ. 340.



## आर्थिक दशा

लिच्छवि नगर व ग्रामों में रहते थे। अल्लेकर का मत है कि लिच्छवि गणराज्य के सात हजार सात सौ सात सदस्य राजाओं में कुछ सदस्य राजधानी में विभिन्न पदों पर थे तथा कुछ ग्रामों में ही रहते थे।<sup>1</sup> बौद्ध ग्रंथों में वैशाली क्षेत्र के कुछ ग्रामों का उल्लेख मिलता है। भगवान बुद्ध ने अंतिम वर्षावास वैशाली के वेलुवग्राम (वेणुग्राम) में किया था, वहीं वे भयंकर रूप से बीमार पड़ गए। यहां से भगवान बुद्ध ने अंतिम बार वैशाली का भ्रमण किया। वैशाली भ्रमण के उपरांत भगवान बुद्ध भंडगाम, अंबगाम होते हुए जंबूगाम गए, तत्पश्चात् 'भोगनगर' पहुंचे जहां उन्होंने आनंद चैत्य में विहार किया था। यहां से पावा के लिए प्रस्थान किया था।<sup>2</sup> इसी तरह वैशाली क्षेत्र के अन्य ग्रामों का उल्लेख भी बौद्ध ग्रंथों में मिलता है, जैसे हस्तगाम, कालंदगाम, कोटि गाम।<sup>3</sup> इससे पता चलता है कि लिच्छवि गणराज्य में नगर तथा ग्रामों दोनों का अस्तित्व था।

बौद्ध ग्रंथों<sup>4</sup> से पता लगता है कि वैशाली नगर धनवान व्यक्तियों से परिपूर्ण था। वैशाली क्षेत्र में अच्छी उपज होने के कारण खाद्य सामग्री का यहां कभी अभाव नहीं होता था। भिक्षु आसानी से अपनी इच्छानुसार भिक्षा पा जाते थे। वैशाली में एक व्यक्ति अच्छी आय अर्जित कर सकता था, और दूसरा उसकी कृपा पर निर्भर रहकर जीवन व्यतीत कर सकता था।<sup>5</sup>

### नगर तथा ग्राम

बौद्ध तथा जैन ग्रंथों से पता चलता है कि ईसा से छठी शताब्दी पूर्व कई नगर अस्तित्व में आ गए थे। नगर साधारणतया चारों ओर दीवारों तथा गुंबजों<sup>6</sup> से घिरे रहते थे। बाहरी आक्रमणों से सुरक्षा हेतु गुंबजों पर आवश्यक सैन्य दल<sup>7</sup> हमेशा पहरा दिया करता था। दीवारों के चारों ओर पानी से भरी खाइयों तथा उसके चारों ओर एक और दीवार<sup>8</sup> (परकोटा) होती थी। नगर प्रवेश करने के लिए बड़े-बड़े प्रवेश द्वार होते थे जो रात्रि के समय बंद रहते थे तथा प्रवेश व निकास निषेध<sup>9</sup> होता था।

नगर के भीतर भिन्न-भिन्न व्यवसाय में लगे लोग अलग-अलग घरों में रहते

थे। जैन ग्रंथों<sup>10</sup> से सूचना मिलती है कि कुंडग्राम तथा वाणिज्यग्राम में क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य निवास करते थे। धनी तथा कुमार वर्ग के लोग अनेक भूमिक भवनों में रहते थे जिनमें उद्यान, मनोरंजन के लिए मैदान तथा सरोवर भी होते थे। महावग्ग<sup>11</sup> के अनुसार वैशाली में सात हजार सात सौ सात अनेक भूमिक भवन, सात हजार सात सौ सात गुंबजनुमा भवन, सात हजार सात सौ सात आराम तथा सात हजार सात सौ सात कमल सरोवर थे। इनके अतिरिक्त साधारण लोगों के लिए साधारण घर भी थे। भवन लकड़ी तथा ईंटों<sup>12</sup> से बनाए जाते थे। विनय पिटक में पत्थरों से भवन निर्माण करने वाले राज की कला पर विशेष प्रकाश डाला गया है। भवन के भीतर-बाहर अच्छे किस्म के चूने से पलस्तर तथा दीवारों को खूबसूरत भित्ति चित्रों से सजाया जाता था।<sup>13</sup> बड़े भवनों में लंबा-चौड़ा प्रवेश द्वार होता था जिसके दाएं कोष तथा बाएं अन्न भंडार होता था। इस प्रवेश द्वार से सीधे भीतर के आंगन तक पहुंचते थे। आंगन के चारों ओर कमरे बने होते थे। इन कमरों के ऊपर समतल छत होती थी जिसे 'उपरि प्रासाद तल' कहते थे, जहां प्रायः मंडप के नीचे गृहस्वामी बैठा करता था। यही उसका बैठक कार्यालय तथा भोजनगृह होता था।<sup>14</sup>

विनय पिटक में गर्म पानी से स्नान करने की व्यवस्था वाले स्नानागार (गर्म हमाम) का विवरण पढ़कर रिस डेविड्स<sup>15</sup> चकित रह गए थे। दीघ निकाय<sup>16</sup> में एक खुले मैदान में बने एक ऐसे जलाशय का उल्लेख है जिसमें पानी तक नीचे जाने के लिए सीढ़ियां बनी थीं। ये सीढ़ियां पूर्णतया पत्थरों से बनाई गई थीं जिसके दोनों ओर पत्थर की छोटी-सी दीवार भी बनी थी। इन दीवारों पर फूल-पत्ती आदि उत्कीर्ण थे। यह सार्वजनिक जलाशय था। धनी व्यक्तियों के अपने उपयोग के लिए बने जलाशय तो निश्चय ही अत्यंत सुंदर होते रहे होंगे। स्वर्गिक नगरी वैशाली के लिच्छवि इस सबसे अवश्य परिचित रहे होंगे।

लिच्छवियों की एक बड़ी संख्या ग्रामों में बसती थी। गांव के लोग बहुत सादे और स्वाभिमानी होते थे। सुंदर नगर तथा सुंदर भवनों के देखकर लालायित नहीं होते थे। वे अपने साधारण जीवन से संतुष्ट थे। गांव में घर प्रायः मिट्टी तथा छप्परों से बने होते थे। जिन्हें झोंपड़ी<sup>17</sup> कहते थे। झोंपड़ियों के चारों ओर खेत<sup>18</sup> हुआ करते थे। झोंपड़ियां प्रायः सटी हुई होती थीं।<sup>19</sup> उनके बीच में संकरी गलियां होती थीं। ये झोंपड़ियां साधारण होते हुए भी कभी-कभी बहुत आकर्षक लगती थीं। वज्जि क्षेत्र में इसे रमणीय कुटिक<sup>20</sup> कहा गया है। इस झोंपड़ी के फर्श और दीवारें बहुत अच्छी बनाई गई थीं। चारों ओर बगीचा तथा सरोवर था।

गांव प्रायः दो प्रकार के होते थे। प्रथम प्रकार में प्रायः कृषक परिवार तथा ग्राम भतुक (खेतिहर मजदूर) बसते थे।<sup>21</sup> इनमें उद्योग करने वाले व्यापारी तथा शिल्पियों की संख्या न्यून होती थी। दूसरे प्रकार के गांवों में एक ही वर्ग के शिल्पिक<sup>22</sup> रहते

थे। जातकों में बड़इयों (वैड्दकी)<sup>23</sup>, लुहारों (कम्मकारों या कम्मकारों)<sup>24</sup>, कुम्हारों (कुंभकारों)<sup>25</sup> तथा अन्य तरह के कार्य करने वाले शिल्पियों के गांवों का उल्लेख मिलता है।

ग्रामवासी जनसुविधा के कार्यों, जैसे सड़क निर्माण<sup>26</sup> कुएं की खुदाई<sup>27</sup>, बांध का निर्माण<sup>28</sup>, मंदिर निर्माण<sup>29</sup>, पाठशाला खोलने तथा देखभाल करने<sup>30</sup>, शिक्षक के लिए झोंपड़ी<sup>31</sup> बनाने आदि श्रमदान<sup>32</sup> द्वारा करते थे। गांव में बहुधा सभा<sup>33</sup> आदि का भी आयोजन किया जाता था। मतभेद होने पर उसका निर्णय बहुमत द्वारा होता था।<sup>34</sup> प्रत्येक गांव में एक मुखिया होता था जो संभवतः ग्रामवासियों द्वारा चुना जाता था। ऐसा लगता है कि मुखिया पद के लिए उम्मीदवार कुलीन व्यक्ति ही हो सकता था। अंगुत्तर निकाय<sup>35</sup> में भगवान बुद्ध लिच्छवि पुत्रों को उपदेश देते हुए कहते हैं कि वे भी उन्नति करके राष्ट्रिक, पेतनिक, गाम गामणिक तथा पूग गामणिक (व्यावसायिक या शिल्प संबंधी संघों के प्रधान) आदि बन सकते हैं। यद्यपि ग्राम मुखिया के कार्यों का विवरण नहीं मिलता है, लेकिन हम अनुमान लगा सकते हैं कि गांव के सभी महत्वपूर्ण कार्य उसकी सलाह से क्रियान्वित होते होंगे।

## कृषि व्यवस्था

गांव के लोगों का प्रमुख व्यवसाय कृषि था। छोटे कृषक अपने खेतों में स्वयं कार्य करते थे। बड़े किसान खेतिहर मजदूरों (ग्राम भतृक)<sup>36</sup> और दासों<sup>37</sup> से यह कार्य करते थे। कृषि कार्य किसी विशेष जाति के लोग ही नहीं, बल्कि सभी जातियों के लोग करते थे। यहां तक कि ब्राह्मणों को भी कृषि में रुचि लते पाते हैं। सोमदत्त<sup>38</sup> व वृग जातक<sup>39</sup> में ब्राह्मणों को स्वयं कृषि कार्य करते बताया गया है। सुत्त निपात<sup>40</sup> में एक ब्राह्मण द्वारा पांच सौ हलों से अपने खेत जोतने का उल्लेख मिलता है। विनय पिटक<sup>41</sup> में एक ब्राह्मण के जौ (याव) के खेतों का उल्लेख है। महासत्त सोम जातक<sup>42</sup> में एक ब्राह्मण के द्वारा पांच सौ बैलगाड़ी अन्न पूर्व से पश्चिम भेजने का वर्णन प्राप्त होता है। फिक् के अनुसार 'ब्राह्मण स्वयं हल चलाते थे तथा दासों और खेतिहर मजदूरों से भी करते थे।'<sup>43</sup>

धार्मिक क्रियाओं में अपना जीवन-यापन करने वाले मुनि आदि कृषि का महत्त्व स्वीकारते थे। कालिदास<sup>44</sup> उन ऋषियों के विषय में लिखते हैं जो अपने आश्रमों के खेतों में विभिन्न प्रकार की फसल उगाते थे। राजा रघु<sup>45</sup> कोत्स से पूछते हैं कि क्या किसी के पशुओं ने धान के खेत की क्षति की है? खेतों में सुरक्षा के लिए लोग बाड़ों<sup>46</sup> से खेत को घेर देते थे। यदि कोई पशु किसी के खेत की क्षति पहुंचाता तो पशु के मालिक को दंड दिया जाता था।<sup>47</sup> दंड में जुर्माना<sup>48</sup> भी किया जा सकता था।

लोगों का मुख्य भोजन चावल था। विभिन्न प्रकार के चावल पैदा किए जाते थे।



सामान्य चावल को 'वृहि'<sup>49</sup> तथा अच्छे चावल को शालि<sup>50</sup> कहते थे। शालि कई प्रकार<sup>51</sup> की होती थी, जैसे महाशालि, गंधशालि और कमलशालि आदि। चावल के अतिरिक्त जौ (याव), गेहूँ (गोधूम) की भी अच्छी पैदावार होती थी।<sup>52</sup> किनाक, श्यामाक, प्रियंगु (बाजरा), कोद्रव से भी लोग परिचित थे।<sup>53</sup> अधिकतर समाज का निर्धन वर्ग इसका प्रयोग करता था। माष, मसूर, मुद्ग, कुलुत्थ (घोड़े का चना) आड़क, कलाय (मटर की फली) और अन्य प्रकार की दालें उगाई जाती थीं।<sup>54</sup> सब्जी, फूल, फलों के पेड़ तथा गन्ने की खेती में भी लोग काफी रुचि लेते थे। सब्जियों में बैंगन, मूली, लौकी, ककड़ी और पुदीना भी लोगों में काफी लोकप्रिय थीं।<sup>55</sup> कमल का डंठल तथा जड़ और सरसों का साग भी सब्जी के रूप में खाया जाता था।<sup>56</sup> फलों में आम और केला लोगों को प्रिय था जो प्रचुर मात्रा में पैदा होता था। ह्वेनत्सांग<sup>57</sup> कहता है कि वैशाली में आम्र और केलों के पेड़ प्रचुर मात्रा में थे। इसके अतिरिक्त<sup>58</sup> आमलक, बेदाना, गुलाबी सेव तथा श्रृंगाटक की भी काफी अच्छी पैदावार होती थी।<sup>59</sup> इसके अतिरिक्त बहुत अधिक मात्रा में सुगंधित पौधों, मसालों, नीलरंग का पौधा तथा गूलर की भी खेती की जाती थी।<sup>60</sup>

## भूमि का स्वामित्व

वैशाली क्षेत्र में भूमि व्यवस्था किस प्रकार की जाती थी, इसकी कोई प्रत्यक्ष जानकारी नहीं मिलती है। रिस डेविड्स का मत है कि गांव में जितने परिवार होते थे सामान्यतः संपूर्ण खेत उतने भागों में बंटा होता था और प्रत्येक परिवार अपने हिस्से की उपज पाता था। भूमि पर लोगों का स्वतंत्र स्वामित्व नहीं था। सारे खेतों में एक साथ ही खेती होती थी। सिंचाई के लिए गांव की ओर से नहरें होती थीं। सारे खेतों का एक आड़ होता था। समूचे खेत अपने मेड़ों के कारण, जो नहरों का भी काम करती, बौद्ध-भिक्षुओं के पैबंद लगे चीवर सरीखे जान पड़ते थे।<sup>61a</sup> ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जब इस काल में किसी हिस्सेदार ने अपने गांव के खेत के हिस्से को बाहरी आदमी को बेचा हो या बंधक रखा हो। व्यक्ति को वसीयत करने, यहां तक कि अपने परिवार का हिस्सा भी निर्धारित करने का अधिकार नहीं था। ये सभी मामले पूर्व परंपरा के आधार पर समाज के प्रतिष्ठित लोगों की राय से निश्चित किए जाते थे।<sup>61b</sup> इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उन दिनों व्यक्तिगत स्वामित्व<sup>62</sup> का अधिकार तो था लेकिन भूमि बेचने तथा हिस्से पर देने का अधिकार नहीं था। संभवतः भूमि का संरक्षण करने तथा अन्य व्यक्ति को भूमि हस्तांतरित करने का अधिकार केवल राज्य को था जो मुखिया के माध्यम से होता था।<sup>63</sup>

सार्वजनिक अन्न भंडार<sup>64</sup> भी होते थे जहां राज्य को उपज का हिस्सा देने के लिए ले जाया जाता था। उसके पश्चात् शेष उपज खेत के मालिक को मिल जाता था। आपात् काल जैसे सूखा या बाढ़ के समय के लिए अन्न भंडारों में अन्न सुरक्षित<sup>65</sup> रखा

जाता था जो गरीबों को भोजन तथा बीज आदि के लिए सहायता के रूप में दिया जाता था।<sup>66</sup>

## पशु पालन

कृषि के अतिरिक्त लोग पशु पालन भी करते थे। मनु<sup>67</sup>, कामंदक<sup>68</sup> तथा अन्य विचारक कहते हैं कि ईश्वर ने पशुओं के पालन के लिए ही वैश्य को पैदा किया था। लेकिन व्यवहार में पशु पालन हर वर्ग का व्यक्ति करता था। खेती करने वाले प्रायः सभी लोग दुग्ध उत्पादन तथा यातायात के लिए पशु पालन करते थे। यहां तक कि राजा भी पशु पालते थे। राजा विराट<sup>69</sup> के पास बहुत बड़ी संख्या में गायें थीं।

गाय, घोड़ा, भैंस, ऊंट, बकरा, भेड़ा, कुत्ता तथा सुअर विभिन्न कार्यों में प्रयोग के लिए पाले जाते थे।<sup>70</sup> दूध तथा दूध से बनने वाले भोज्य पदार्थ जैसे दही, मक्खन तथा मक्खन वाले दूध के लिए गायों का महत्व बहुत अधिक था।<sup>71</sup> इसके अतिरिक्त जानवरों के मांस और हड्डियों से खाद भी बनती थी।<sup>72</sup> खाद तथा उपले बनाने के कार्य में गोबर का प्रयोग होता था।<sup>73</sup>

जुताई तथा यातायात के लिए बैल का प्रयोग किया जाता था।<sup>74</sup> घोड़े तथा हाथी युद्ध आदि में बहुत सहायता करते थे।<sup>75</sup> उन्हें यातायात के लिए भी प्रयोग किया जाता था। गांव में जानवरों को चराने के लिए सार्वजनिक घास का मैदान (गोप्रकारः)<sup>76</sup> भी होता था। जानवरों को चराने के लिए चरवाहे (गोपालक)<sup>77</sup> भी होते थे। मनुस्मृति<sup>78</sup> में राय दी गई है कि प्रत्येक गांव के समीप लगभग सौ धनुष या चार सौ हाथ के क्षेत्रफल का चरागाह अवश्य होना चाहिए। शहर के चरागाह गांव के चरागाह से तीन गुना बड़ा होना चाहिए।<sup>79</sup> चरागाह क्षेत्र के भीतर उगे धानों को यदि कोई जानवर नुकसान भी पहुंचा देता था तब भी चरवाहे दंड के भागी नहीं होते थे।<sup>80</sup>

गोपालकों (चरवाहों) तथा पशुओं के मालिकों के हित की सुरक्षा हेतु संविधान बनाए गए थे। मनुस्मृति<sup>81</sup> के अनुसार यदि कोई गोपालक दस गायों को चराता है तो वह अपनी इच्छानुसार किसी एक गाय का दूध ले सकता था।

गोपालक का कार्य सुबह पशुओं को चराने के लिए जाना तथा शाम को वापस लाना होता था।<sup>82</sup> इसके साथ ही उसे जंगली जानवरों तथा डाकुओं से बचाने के लिए सभी संभव उपाय भी करना होता था यदि वह किसी कारण जानवरों की रक्षा नहीं कर पाता था तो क्षति की सूचना शीघ्रातिशीघ्र मालिकों तक पहुंचा देता था।<sup>83</sup> यदि जानवरों की क्षति उसकी लापरवाही के कारण हो जाती तो प्रतिज्ञापूर्ण करने के लिए वह वचनबद्ध होता था।<sup>84</sup>



## व्यवसाय

लिच्छवि अपनी जाति पर गर्व करते थे,<sup>85</sup> लेकिन यह गर्व विशेष व्यवसाय को चुनने में बाधा नहीं उत्पन्न करता था। वे अपनी रुचि के अनुसार कोई भी कार्य करने को तैयार रहते थे। फनंद<sup>86</sup> जातक में एक ब्राह्मण को चार पहियों वाली गाड़ी बनाने के व्यवसाय में लगा हुआ देखते हैं। चूलनंदिय जातक<sup>87</sup> में एक ब्राह्मण अपनी जीविका शिकार किए जानवर बेचकर प्राप्त करता है। जातकों में कुछ ब्राह्मण व्यापारी, काफिले की पहरेदारी, बकरियां चराने, धनुष बनाने आदि के व्यवसाय में लगे पाए जाते हैं।<sup>88</sup> लेकिन कुछ आदिवासी वर्ग अपने आनुवंशिक व्यवसाय को ही चलाते थे। इस प्रकार मनुस्मृति के अनुसार चांडाल, पुक्कस, निषाद, वेण तथा रथकार निम्न वर्ग के समझे जाते थे।<sup>89</sup> उन्हें शहर के भीतर बसने की अनुमति नहीं थी।<sup>90</sup> उद्योगों में विकास होने से शहरों में नौकरी आदि की सुविधा में वृद्धि हुई तो बहुत से भूमिहीन मजदूर शहरों की ओर आकृष्ट होने लगे लेकिन वे गांव के प्रति मोह<sup>91</sup> नहीं छोड़ पाते थे।

## उद्योग-धन्ये

प्राचीन काल में दस्तकार गांव से ही जुड़े होते थे<sup>92</sup>। वे गांव वालों की हर छोटी-छोटी आवश्यकता की पूर्ति करते थे। गांवों में उनका अलग गांव भी होता था जो उनके नाम से जाना जाता था। जातकों में हमें बड़इयों (वैडूकी), लुहारों (कम्मार), कुम्हारों (कुलाल; कुंभकार) के अलग-अलग गांवों का उल्लेख मिलता है,<sup>93</sup> जहां उनकी अपनी समितियां भी थीं, जिसे पूग<sup>94</sup> या श्रेणी<sup>95</sup> कहते थे। जातकों में इन समितियों के प्रमुख को जेडुक<sup>96</sup> कहा गया है। कुछ दस्तकार शहरों में आकर बस गए। यहां भी वे गांव की भांति एक अलग मोहल्ले में इकट्ठे रहते थे जिससे उस मोहल्ले का नाम उनके नाम से जाना जाने लगा। एक जातक में 'दंतकार वीथि'<sup>97</sup> का उल्लेख है। इसी प्रकार बुनकरों (दाय)<sup>98</sup> तथा वैश्यों (वाणिज्य ग्राम)<sup>99</sup> के मोहल्लों का उल्लेख है। नगरों के उत्कर्ष होने पर कई तरह के शिल्पकारों ने, जिनके व्यवसाय आनुवंशिक<sup>100</sup> थे, एक मोहल्ले में इकट्ठे रहना प्रारंभ किया। नागरिकों के पहनने-ओढ़ने के शौक में पर्याप्त वृद्धि हुई जिससे कपड़ा (वसन, वस्त्र)<sup>101</sup> तथा धातु<sup>102</sup> का महत्व बढ़ गया। कुछ शिल्पकार कंबल<sup>103</sup> और पेशकारी<sup>104</sup> (बेल-बूटा) का कार्य करते थे, तथा कुछ धातु की अनेक प्रकार की वस्तुएं जैसे धनुष, तीर, तलवार, चाकू, आरी तथा खेत जोतने के उपकरण आदि तैयार करते थे।<sup>105</sup> भगवान बुद्ध के समय में सूती कपड़ा (कार्पास), सन का वस्त्र (क्षौम) तथा रेशमी वस्त्र (कौपेय) का उत्पादन भी होने लगा था। इसके अतिरिक्त ऊन (लोमन, उरण) का उत्पादन बहुत बड़ी मात्रा में होता था।<sup>106</sup> सूती कपड़ों का एक बहुत बड़ा केंद्र बनारस था।<sup>107</sup> गलीचा (कुट्टकम)<sup>108</sup> तथा सन (पण)<sup>109</sup> से आम लोग भी अच्छी तरह



से परिचित थे। इन वस्तुओं का अधिक मात्रा में निर्माण होने की पुष्टि इस बात से होती है कि लोग घोड़ों और हाथियों पर भी बारीक ऊन का कंबल डालते थे।<sup>110</sup> लिच्छवि लोग स्वर्ण तथा बहुमूल्य पत्थरों से बनी वस्तुओं को पहनने के शौकीन<sup>111</sup> थे जिससे स्वर्णकारों<sup>112</sup> तथा बहुमूल्य पत्थरों पर कार्य करने वाले मणिकारों<sup>113</sup> की आवश्यकता अधिक रहती थी। कभी-कभी वे इन वस्तुओं का निर्यात<sup>114</sup> भी करते थे। कम्मार (कर्मकार)<sup>115</sup> हाथी, घोड़ों, गाड़ी तथा पालकी को सजाने का सामान तैयार करते थे। नगरों के विकास के साथ-साथ दक्ष बड़इयों (महावड्ढकी) की मांग में भी वृद्धि हुई, क्योंकि नगरों में बड़ी संख्या में लकड़ी के कलात्मक मकान बनने प्रारंभ हुए।<sup>116</sup> लकड़ी के घरेलू सामान बनाने के अतिरिक्त वे रथ, नाव तथा व्यापारिक कार्यों के लिए जहाज भी बनाते थे।<sup>117</sup> इसके साथ ही नगरों में कुम्हारों (कुंभकार, कुलाल, कौलाल), चर्मकारों (चर्मण), पत्थरों पर कार्य करने वाले राजगीरों (पाषाण कोट्टाक), ईंटों पर कार्य करने वाले राजगीरों (इठका वड्ढकी) तथा अन्य कारीगरों की मांग में भी वृद्धि हुई।<sup>118</sup> मदिरा<sup>119</sup> बनाने का कार्य भी पर्याप्त मात्रा में होता था। लिच्छवियों में इसका सेवन सामान्य रूप से होता था।<sup>120</sup>

एक और महत्वपूर्ण उद्योग तेल तैयार करने का था। प्राचीन काल में तेल सरसों के बीज, तिल, कुसुंब, मधूक, इंगुदी तथा अलसी से निकाला जाता था।<sup>121</sup> इंगुदी का तेल सिर में लगाने, सब्जी बनाने तथा दौया जलाने के काम आता था।<sup>122</sup>

नारी और पुरुष दोनों सौंदर्य प्रसाधन, इत्र, धूप तथा लेप सेवन करने के शौकीन हुआ करते थे। कालिदास<sup>123</sup> ऐसे बहुत से सौंदर्य प्रसाधनों की सूची देते हैं—कालागरू (काला अगरू), शुक्ल गुरू (सफेद अगरू), कालेयक, हरी चंदन, हरीताल, धूप कुंकुम, अलक्तक (पैर के नाखून तथा होंठों को लाल करने के लिए) और गोरोचना आदि। अधिकतर लोग चंदन<sup>124</sup> प्रयोग करते थे।

वैशाली में तालाबों तथा नदियों की अधिकता होने के कारण मछली पकड़ने का काम भी एक उद्योग बन गया था। लोग सूखी मछली<sup>125</sup> भी खाते थे जिसे धीवर लोग मौसम में पकड़कर संचित करते थे। इसके अतिरिक्त धोवियों (रजचित), पत्थरों पर नक्काशी करने वाले (प्रकरित), रस्सी बनाने वाले (रज्जुकार), टोकरी बनाने वाले (विदलकार) तथा ईंटें बनाने वाले लोग भी थे।<sup>126</sup>

## विनिमय तथा व्यापार

भगवान बुद्ध के समय सिक्कों का चलन होने लगा था। जातकों से हमें कई प्रकार के सिक्कों की जानकारी मिलती है। इनमें सुवण्ण, हिरण्य, निक्ख, कहापण, कैस, मासक, पाड तथा काकनिक आदि किस्में उल्लेखनीय हैं।<sup>127</sup> जातकों से पता चलता है कि कहापण सिक्के का प्रचलन बहुत अधिक था।<sup>128</sup> मनुस्मृति के अनुसार यह एक ताम्र सिक्का था।<sup>129</sup>

यद्यपि विनिमय का मुख्य माध्यम मुद्रा थी लेकिन वस्तु विनिमय भी उस समय काफी प्रचलित था विशेषकर गांवों में, जो आज भी देखने को मिलता है।<sup>130</sup>

उस समय व्यापार बहुत उन्नतशील हो चुका था। व्यापारी देश के एक कोने से दूसरे कोने तक व्यापार के लिए जाता था। सुत्त निपात<sup>131</sup> में विवरण मिलता है कि व्यापार का एक मार्ग सावत्थी या श्रावस्ती से दक्षिण-पच्छिम की ओर प्रतिष्ठान (या पैठण) तक जाता था इस मार्ग में छः पड़ाव पड़ते थे। दूसरा मार्ग सावत्थी से राजागह (राजगृह) तक जाता था।<sup>132</sup> यह मार्ग सीधा नहीं था, बल्कि पहाड़ों के नीचे से होता हुआ वैशाली<sup>133</sup> के उत्तर को छूता दक्षिण को मुड़ता गंगा की ओर जाता था। संभवतः यह मार्ग अंततः गया को जाता था जहां यह उस मार्ग से जुड़ता था जो ताम्रलिप्ति से वाराणसी को आता था।<sup>134</sup> मार्ग में सेतव्या, कपिलवस्तु, कुशीनारा, पावा, हत्थिगाम, भंडगाम, वैशाली, पाटलिपुत्र और नालंदा विराम स्थल पड़ते थे।<sup>135a</sup> भगवान बुद्ध इसी मार्ग से राजगृह से वैशाली आए, फिर वैशाली से श्रावस्ती का रास्ता पकड़कर मल्लों के शालकुंज में पहुंचे थे।<sup>135b</sup>

एक तीसरा मार्ग बड़ी नदियों के किनारे चलता था। इन नदियों में भाड़े पर नावें चलती थीं।<sup>136</sup> विनय पिटक में विवरण मिलता है कि वज्जिपुत्तक वैशाली से सहजाति<sup>137</sup> तक नावों से जाते थे। वैशाली राजगृह जाने के लिए गंगा नदी एक महत्वपूर्ण साधन थी।<sup>138</sup> विनय पिटक में उल्लेख है कि वैशाली से राजगृह जाने के लिए एक स्थल मार्ग भी था।<sup>139</sup> दिव्यावदान<sup>140</sup> से पता चलता है कि श्रावस्ती से राजगृह जाते हुए गंगा नदी पार करना पड़ता था। अंगुत्तर निकाय<sup>141</sup> और जातक में एक और लघु मार्ग का उल्लेख मिलता है जो सेतव्या से वैशाली जाने वाले मार्ग से हिमालय के निकट उक्कट्टा नामक स्थान पर जुड़ता है।

एक लंबा मार्ग पच्छिम की ओर सिंधु तक जाता था।<sup>142</sup> जो सौवीर तथा उसके समुद्रपत्तन तक जाता था।<sup>143</sup> स्थल मार्ग से भी सार्थ जाते थे।<sup>144</sup> राजपूताने के पार भी व्यापारी आगे बढ़ते थे। धूप की गर्मी से बचने के लिए रात में यात्रा की जाती थी। रास्ते का अनुमान तारों को देखकर लगाया जाता था।<sup>145</sup> समुद्र मार्ग से बवेरू (बेविलोन) तक व्यापारी यात्रा करते थे।<sup>146</sup> ऐसा भी एक स्थल मार्ग था जो मध्य एशिया के साथ पच्छिम को मिलाता था जिसमें तक्षशिला पड़ता था और साकेत, सावत्थी (श्रावस्ती), वाराणसी और राजगृह जैसे महानगर पड़ते थे।<sup>147</sup> पाणिनि ने इस मार्ग को उत्तरापथ कहा है।<sup>148</sup> इस मार्ग पर व्यापारियों तथा दूसरे लोग आराम से आते-जाते थे। बहुत से विद्यार्थी बिना किसी विशेष सुरक्षा व्यवस्था के शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे।<sup>149</sup>

कुछ स्थल मार्ग पूर्ण रूप से सुरक्षित नहीं थे। संगठित डाकुओं के बहुत से दल वीरानों तथा जंगलों में रहते थे। सतपत्त जातक<sup>150</sup> में पांच सौ डाकुओं का एक गांव का वर्णन मिलता है, जो एक संगठन के रूप में संगठित थे। ये डाकू किसी गुप्त जगह में



छिपकर रहते थे और उचित अवसर देखकर व्यापारियों के सार्थ (काफिला) को लूट लेते थे।<sup>151</sup> बहुत से सार्थ अपने माल की सुरक्षा के लिए हथियारबंद<sup>152</sup> रक्षकों को साथ लेकर चलते थे। ये हथियारबंद रक्षक दल सामान्यतः जंगल खतरनाक इलाकों को पार करते समय साथ चलते थे।<sup>153</sup>

लिच्छवि<sup>154</sup> आंतरिक तथा बाह्य दोनों व्यापार में गहरी रुचि लेते थे। अंतर्देशीय व्यापार अधिक होता था। अंतर्देशीय व्यापार विदेह से गंधार तक होता था, जिसकी दूरी लगभग बारह सौ मील थी,।<sup>155</sup>

ये व्यापारी बहुत साहसी होते थे। वे पांच सौ से एक हजार तक बैलगाड़ियों का काफिला लेकर चलते थे।<sup>156</sup> इस काफिले का एक नेता होता था जिसे सार्थवाह<sup>157</sup> कहते थे। बड़े काफिले मुख्यतः धातु, वर्तन, अस्त्र-शस्त्र, बनारस के बारीक मलमल, हाथी दांत तथा इससे बनी वस्तुएं, दैनिक उपभोग की वस्तुएं जैसे मसाला, नमक तथा अन्य स्थानीय उत्पादित वस्तुएं लेकर व्यापार के लिए दूर-दूर तक जाते थे।<sup>158</sup> सिंध (सिंधव) के अश्व बहुत प्रसिद्ध थे।<sup>159</sup> पूर्व के लोग इस अश्वों को बहुत पसंद करते थे। जातकों में 'उत्तरापथ अस्सवाणिजा' (उत्तर से आने वाले अश्वों के व्यापारी) का उल्लेख मिलता है जो अपने घोड़ों को पूर्व में विक्रय के लिए लाते थे।<sup>160</sup> व्यापारी वर्ग व्यापार के अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों के लोगों में आपसी प्रेम, सद्भावना बढ़ाता था। गांधार-जातक में विदेह राजा<sup>161</sup> एक व्यापारी से कश्मीर तथा गंधार के राजा का हालचाल पूछता है।

स्थानीय उत्पादन नगर के बाजार में वितरण के लिए तथा विशेषकर निर्यात के लिए भेजा जाता था। नगरों में अपनी उपज की बिक्री के लिए आपरण या दूकानें होती थीं। गांवों में छोटे दुकानदार अपना माल बैलगाड़ियों तथा गधों पर रखकर ढोते व बेचते थे।<sup>162</sup> इन पर वे कपड़े, अनाज, किराना तथा आम उपभोग की वस्तुएं रखते थे।<sup>163</sup> नगरों तथा कस्बों में होटल<sup>164</sup> तथा चिकमंडी<sup>165</sup> (मांस-विक्रय केन्द्र) भी हुआ करती थीं जहां लोग मांस भक्षण तथा क्रय आदि कर सकते थे। सब्जी-विक्रेता, शिकारी तथा मछली मारने वाले (धीवर) अपना माल बेचने के लिए द्वार-द्वार जाते थे या नगर के बाहर मुख्य द्वार पर खड़े होकर उसे बेचते थे।<sup>166</sup>

देश में नदियों की भरमार होने के कारण आंतरिक व्यापार इनके माध्यम से पर्याप्त मात्रा में देश में होता था। गंगा नदी के द्वारा व्यापारी देश के विभिन्न भागों में तथा समुद्र तक जाते थे।<sup>167</sup> रास्ते में विनिमय के बाजार होते थे<sup>168</sup> जहां वे अपने माल की बिक्री तथा अदला-बदली करते थे। ये बाजार विश्राम स्थल का भी काम करते थे। इस स्थान से माल भीतरी भाग में भेजा जाता था, जहां स्थानीय उपज के विनिमय तथा विक्रय केंद्र होते थे।<sup>169</sup>

इस प्रकार उस समय भारतवर्ष के समृद्ध व्यापारिक केंद्रों में चंपा, वाराणसी तथा



वैशाली काफी प्रसिद्ध थे। वैशाली गंगा नदी के माध्यम से ताम्रलिप्ति (एक महत्वपूर्ण बंदरगाह) से जुड़ा हुआ था। जिसके द्वारा रोम तक व्यापार होता था इसकी पुष्टि जातक तथा रामायण, महाभारत से भी होती है।<sup>170</sup>

## संदर्भ तथा टिप्पणियां

1. अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति (प्रथम संस्क.), पृ. 79; वै. अभि. ग्रं. 69.
2. रघुनाथ सिंह, बुद्धकथा (वाराणसी, 1969), पृ. 820-821; योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 182-91.
3. रघुनाथ सिंह, बुद्धकथा (वाराणसी, 1969), पृ. 505 वैशाली, पृ. 190, 183, 184.
4. महावग्ग, viii.1.1.1 (विनय पिटक में) तथा ललित विस्तर, पाठ 3, पृ. 21.
5. चीनी यात्री; जो काफी समय पश्चात् इस क्षेत्र में आया था, भूमि की उत्पादित चरित्र का साक्षी देता है.
6. जातक, 94 (लोमहंस जातक); जातक, 149 (एक पण्ण-जातक); बुद्धिष्ट इंडिया, पृ. 33.
7. इको. लाइफ, पृ. 223.
8. वही.
9. वही, पृ. 223-24.
10. हान्ले (अनु.), युवासगदसाव, भाग 2, पृ. 4, टिप्पणी 8; अर्थशास्त्र, पृ. 51-55 : विभिन्न व्यवसाय के आदमियों के लिए अलग-अलग घर थे; फिक्, पृ. 279 ज. रा. ए. सो. (1901), पृ. 860-62.
11. महावग्ग, बुद्धिष्ट सीरीज, भाग 17, पृ. 171; मिलगित मैनुस्क्रिप्ट भाग 3, खंड 2, पृ. 6.
12. बुद्धि. इंडिया, पृ. 34; इको. लाइफ, पृ. 223 (एन. सी. बंधोपाध्याय राय देते हैं कि धनवानों के भवन पत्थरों के बनाए जाते हैं)
13. विनय-टेक्स (अनु.), 3, 170-72; 2.67; 4.47.
14. बुद्धिस्ट इंडिया, पृ. 34; बौद्ध भारत (हिंदी अनु.), पृ. 55.
15. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत (हिंदी अनु.), पृ. 56-67; विनय पिटक (3, 105, 110, 297) में एक तप्त वायु स्नानागार का उल्लेख है, यह ईंट या पत्थर का बना एक चबूतरा होता था जो संभवतः सरोवर के अंदर बना होता था जो वस्तुतः श्रृंगार मंडप का फर्श होता है जो लकड़ी के खंभों पर आधारित रहा होगा उसे ठंडा रखने के लिए चबूतरे के एक ओर विशेष तौर पर एक छोटा-सा जलाशय बनाया जाता था (रिस डेविड्स, बौद्ध भारत (हिंदी अनु., इलाहाबाद, 1958, पृ. 57) ऊपर जाने के लिए पत्थर की सीढ़ियां होती थीं और बरामदे के चारों ओर बारजा (रेलिंग) बना होता था, इसकी छत और दीवारें लकड़ी की होती थीं. उन पर खाल (छिलका) मढ़ा होता था, और बाद में पलस्तर चढ़ा दिया जाता था, दीवार के केवल निचले भाग में ईंट लगाई जाती थी. उसके अंदर एक कमरा, एक तप्त (गर्म) कक्ष और एक स्नान के निमित्त जलाशय होता था. तप्त कक्ष के मध्य में अग्नि रहती थी जिसके चारों ओर बैठने का प्रबंध होता था. स्नान के पूर्व वे अपने शरीर में खूब पसीना पैदा करते थे. जिसके लिए उन पर गर्म पानी डाला जाता था. उनके मुख पर बढ़िया सुगंधित खडिया (चुनम्) पुती होती. गर्म पानी से स्नान करने के बाद वे तेल मालिश करते, तब जलाशय में डुबकी लगाकर स्नान करते थे (वही)
16. से. बु. ई., पृ. 262 और आगे; बौद्ध भारत (हिंदी अनुवाद), पृ. 57
17. इको. लाइफ, पृ. 232.
18. अर्थशास्त्र (कांग्रे द्वारा अनु.), पृ. 45-48.

19. बुद्धि इंडिया, पृ. 23.
20. साम आफ द बेदेन, पृ. 59
21. अर्थशास्त्र (कांग्ले द्वारा अनु.), पृ. 45-48; इको. लाईफ, पृ. 230-31.
22. जातक, 159, 281.
23. जातक, 159.
24. जातक, 181.
25. जातक, 178.
26. इको. लाईफ, पृ. 234.
27. वही.
28. वही.
29. वही.
30. लोसक जा, 41.
31. वही.
32. महा उम्मग्ग जा, 546.
33. सुनिता जा, 163; कासव जा, 221.
34. वही.
35. अंगुत्तर निकाय 3, पृ. 76.
36. अर्थशास्त्र (कांग्ले द्वारा अनु.), पृ. 45-48; फिक्, पृ. 305.
37. वही.
38. जातक, 211.
39. वही, 354.
40. फाउसबाल (संपा.) सुत्त-निपात, पृ. 12.
41. ओल्डन वर्ग (संपा.) विनय पिटक, भाग 4, पृ. 47, 266.
42. जातक, 471.
43. फिक्, पृ. 243.
44. रघुवंश, 1.52; 5.8.
45. वही, 5.9.
46. मनुस्मृति, 8, 238-40
47. वही.
48. वही.
49. जातक, 115, 340, 543.
50. रघुवंश, 4.20, 37.
51. बृहत् संहिता (बराहमिहि), 19.4-6; 24.2.
52. अर्थशास्त्र, (कांग्ले) पृ. 128.
53. ओमप्रकाश, वही, पृ. 60; अर्थशास्त्र (कांग्ले), पृ. 111, 102.
54. अर्थशास्त्र, पृ. 102, 128; ओमप्रकाश, 61.
55. ओमप्रकाश, वही, पृ. 73.
56. वही.
57. बील, ट्रेवल आफ ह्वेनत्सांग, भाग 3, पृ. 308.

58. ओमप्रकाश, वही, पृ. 71.
59. अर्थशास्त्र, पृ. 102; अमरकोश, 9.17, 19.20.
60. इको, लाइफ, पृ. 236-39.
- 61 अ. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत (हिंदी), पृ. 38; विनय पिटक, 2/287; जातक, 2/185, 4/276.  
ब. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत (हिंदी अनु.), पृ. 38.
62. मनुस्मृति, 9.44 : भूमि का स्वामी वह है जो भूमि को ठीक कर खेती योग्य बनाता है.
63. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत (हिंदी अनु.), पृ. 40.
64. कुरुधम्म जा, पृ. 276.
65. इ. ए., 1896, पृ. 261.
66. इको. लाइफ, पृ. 233
67. मनु, 9.327-28.
68. कामंदक नीतिसार, 2.20.
69. महाभारत, विराट पर्व, 10.9-15.
70. अमरकोश, 9.64; अर्थशास्त्र, पृ. 143-46.
71. अमरकोश, 9.51-54; अर्थशास्त्र, पृ. 143-46.
72. अर्थशास्त्र, पृ. 130; मैत्री, इकोनामिक लाइफ आफ नार्दन इंडिया, पृ. 93.
73. वही.
74. अमरकोश, 9.64.
75. नोली, अभिलेख.
76. जातक, 1.94; अर्थशास्त्र, पृ. 143; मनु, 8.230-242.
77. वही.
78. मनु, 8.237 : धनुः शतं परिह्राये ग्रामस्य स्यात् समन्ततः  
शाम्यपातास्त्रय वा' पित्रिगुणौ नगस्य तु ।
79. वही.
80. वही, 8.238.
81. वही, 8.231.
82. अर्थशास्त्र, पृ. 142-46; मैत्री, वही, पृ. 93-94.
83. मनु, 8.233.
84. वही, 8.232; मैत्री, वही, पृ. 93-94.
85. लिच्छवियों को अपनी जाति पर इतना गर्व था कि अपनी पुत्री का हात किसी बाहरी व्यक्ति को नहीं देते थे (इ. हि. स्वा., 1947, भाग 23, पृ. 58-59)
86. जातक, 4/207.
87. वही, 2/200.
88. जातक, 471, 495, 413, 522.
89. मनु, 10.47-53.
90. वही, 10.51-52.
91. आज भी गांव वाले शहर में बसना पसंद नहीं करते हैं.
92. पाणिनि, 6.2.62 : पाणिनि में 'ग्रामः शिल्पिनि' तथा 'ग्राम कौटाभ्यं च लक्षणः' का उल्लेख यह दर्शाता है कि प्राचीन काल में शिल्पकार तथा दस्तकार गांव में ही जुड़े थे.
93. जातक, 149.28; 1; इको. लाइफ, पृ. 230.



94. भागवान बुद्ध के समय में इन समितियों को बहुत अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। अंगुत्तर निकाय (पा. टे. भाग 3. पृ. 76) में 'पूग गामणिक' (सहकारी समिति का प्रमुख) तथा जातकों (सुचि जा, कुलमास जा) में प्रमुख के लिए 'जेट्टक' शब्द प्रयोग हुआ है जिससे विदित होता है कि दस्तकार, शिल्पकार अपने को समितियों में संगठित कर लेते थे। लेकिन संभवतः खेतिहर मजदूरों (मजदूरी पर कार्य करने वाले भूमिहीन किसान वर्ग) का अपना कोई संगठन या सहकारी समिति नहीं थी।
95. अर्थशास्त्र, पृ. 407.
96. सुचि जातक, 387; कुलमास जातक, 415; समुद्र-वाणिज जातक, 467; जरुदापान जातक, 256.
97. शीलवन्नाग जातक, 72.
98. इको. लाइफ, पृ. 253.
99. वै. अभि. ग्रंथ, पृ. 30; योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 131
100. मनु, (10.48-56) में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि लोगों का पेशा आनुवंशिक होता था। इसकी पुष्टि जातकों से भी होती है जब हम जातकों में 'धन्न वाणिजकुल' (जा. 198), पणिकुल (जा. 312), कम्मार पुत्र, कुम्भकारकुल (जा. 79) आदि का उल्लेख पाते हैं।
101. तुंडिल जातक, 388; मच्छक जा, 390.
102. पाणिनि, 4.3.168; 5.1.25; सुचि जा. 387; ज. रा. ए. सो., 1901, पृ. 864; इको. लाइफ, पृ. 243.
103. अर्थशास्त्र, पृ. 81-82; दीध निकाय, 1/7 : बुनकर लोग न सिर्फ पहनने-ओढ़ने के वस्त्र बनाते थे, बल्कि वे निर्यात के लिए बारीक मलमल, भड़कोले कपड़े तथा जानवरों के बालों से लोई, कंबल, तथा कालीन भी बनाते थे।
104. इको., लाइफ, पृ. 165 : ऋग्वेद में भी बेलवूटे बने हुए वस्त्रों का संदर्भ मिलता है। जब एक स्थान पर 5.55.6) स्वर्ण तार से कसा वस्त्र पहने एक धनी कन्या का वर्णन देखते हैं।
105. ज. रा. ए. सो., 1901, पृ. 864; इको. लाइफ, पृ. 243; बुद्धि, इंडिया, पृ. 40.
106. इको. लाइफ, 242; बुद्धिष्ट इंडिया, पृ. 40 : रिस डेविड्स सोचते हैं कि बुनकर केवल वही वस्त्र नहीं बनाते थे जिसे केवल आम आदमी पहनते थे, वरन् वे निर्यात के लिए बढ़िया मलमल, खूबसूरत कीमती काम किया हुआ रेशमी वस्त्र तथा रोयेंदार महीन ऊन का कंबल, चादरें तथा दरी भी बनाते थे।
107. तुंडिल जा. 388; मच्छक जा. 390.
108. इको. लाइफ, पृ. 242; बु. इंडिया, पृ. 40.
109. अथर्ववेद, 2.45.
110. इको. लाइफ, पृ. 242.
111. 'सामाजिक इतिहास' का अध्याय देखें।
112. अर्थशास्त्र (पृ. 988 और आगे) में स्वर्ण के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख है।
113. अर्थशास्त्र पृ. 75-79; जातक, 72.221; मैत्री, इको. लाइफ आफ नार्दन इंडिया, पृ. 105-112.
114. रिस डेविड्स, (बु. इंडिया, 40) की राय उचित है कि 'हस्ति दंत कर्मकार' आम प्रयोग के लिए हाथीदांत की छोटी-छोटी वस्तुओं को बनाने के साथ-साथ कीमती वस्तुएं तथा गहने बनाते थे जिसके लिए भारत आज भी काफी प्रसिद्ध है।
115. वै. अभि. ग्रं., पृ. 38.
116. हितनारायण झा, लिच्छवि, पृ. 63.
117. बु. इंडिया, पृ. 40; मैत्री, इको. लाइफ आफ नार्दन इंडिया, पृ. 114; जातक, 41.190, 384; झा, लिच्छवि, पृ. 63.
118. बु. इंडिया, पृ. 39-40; मैत्री, वही, 107-11; इको. लाइफ, पृ. 245; दन्तु जातक, 137.
119. मदिग निकायने वाले को सुरकार कहा जाता था (इको. लाइफ, पृ. 165).

120. पीछे, सामाजिक इतिहास (खानपान) अध्या देखिए
121. मैत्री, इको, लाइफ आफ नार्दन इंडिया, पृ. 116; अर्थशास्त्र, पृ. 102.
122. रघुवंश, 11.81; अभिज्ञान शाकुन्तलम्, ii, 343, iv, 903.
123. रघुवंश, 6.60; 14.12; 16.50; कुमारसंभव, 5.34; 7.9. 14-15, 17.23.33; ऋतुसंहार, 1.5; ii. 21; 4.2, 5; 5, 5, 9, 12; 6, 13.
124. अर्थशास्त्र, पृ. 79; ऋतुसंहार, 1.2.4.6; ii, 21; iii. 20, v. 3; vi. 6, 12.
125. अर्थशास्त्र (पृ. 101, 103) में हम पढ़ते हैं कि लोग सूखी मछली बड़े चाव से खाते थे.
126. बु. इंडिया, पृ. 40; इको. लाइफ, पृ. 244; कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृ. 104; झा, लिच्छवि, पृ. 64-65.
127. सुतभत्ता जा., 402; गामणिकेड जा., 257; कण्ह जा., 29 में हिरण्य, निक्ख, कहापण का उल्लेख हुआ है. इसके अतिरिक्त विनय पिटाक (iii, 219) में सुवण्ण सिक्के का उल्लेख हुआ है. अर्थशास्त्र (पृ. 95) में भी सुवर्ण, काकर्ण तथा पण सिक्कों का उल्लेख मिलता है.
128. नन्द जातक, 39; दुराजान जा., 64; गामणी कंड जा., 257.
129. मनुस्मृति, 8. 136.
130. हितनारायण झा (लिच्छवि, पृ. 69) लिखते हैं कि वस्तु विनिमय आज भी उत्तर पूर्व बिहार तथा नेपाल की तराई में प्रचलित हैं.
131. सुत निपात 1011.1013 : इसके पढ़ने वाले 6 पड़ाव थे—माहिष्मती, उज्जयिनी, गोनाद, विदिशा, कौशांबी और साकेत.
132. सुत निपात, वही; जातक 1/92; 348 : यह मार्ग 300 मील लंबा था.
133. बुद्धिष्ट इंडिया, पृ. 44 तथा बौद्ध भारत (हिंदी), पृ. 71.
134. वही, पृ. 44 तथा वही, पृ. 71 ; विनय पिटक (1/81)
135. सुत निपात, 1011-1015; बौद्ध भारत, पृ. 71; मोतीचंद, सार्धवाह, पृ. 18.
136. बौद्ध भारत, पृ. 71.
137. विनय पिटक, 3/401; विनय पिटक (11, पृ. 199-301); महावंश, 4, 23-28.
138. विनय पिटक, 11, पृ. 210-11.
139. वही.
140. दिव्यावदान (कावेल तथा नील), पृ. 55-56.
141. अंगुत्तर निकाय, पा. टे. सां., भाग 3, पृ. 37
142. जातक, 1/24, 178, 181; 2/31, 287 आदि.
143. विमान वत्तु, (टीका) 336; जातक, 3/470; दीघ निकाय, 2/235 आदि
144. जातक, 1/98.
145. जातक, 1/108.
146. जातक, 3/126; 3/189.
147. विनय पिटक, 2/174; महावग्ग, 8.1.6.
148. पाणिनि, 5/1/77.
149. जातक, 2/277 तथा
150. सतपत्त जा., 279; इको. लाइफ, पृ. 259; फिक्, पृ. 274.
151. वही; दिव्यावादन (पृ. 94-95) में भी हम पढ़ते हैं कि श्रावस्ती से राजगृह का मार्ग डाकुओं से भरा था जो व्यापारियों को लूट लिया करते थे.
152. दस ब्राह्मण जा., 495; फिक्, 274.
153. जातक, 84.

154. ललितविस्तर, अध्याय 3, पृ. 21; बसाढ में प्राप्त मुहरों (वै. अभि. ग्रं., पृ. 159-62) से सिद्ध होता है कि लिच्छवि व्यापार में काफी रुचि लेते थे।
155. जातक, 3/365; इको. लाइफ, 258.
156. अपणक जाल, 1/98; पृ. 258.
157. वही.
158. ज्ञा. लिच्छवि, पृ. 72.
159. वही.
160. जातक, 2/288; फिक्, 273.
161. गधार जाल, 365.
162. ज. रा. ए. सौ., 1901, पृ. 873.
163. इको. लाइफ, 261.
164. विनय पिटक, 1.20; ii. 267; अर्थशास्त्र, पृ. 135-36, 161-62.
165. वही.
166. इको. लाइफ, 261.
167. जातक, 4/15-17; 6/32-35
168. इको. लाइफ, 258.
169. ज्ञा. लिच्छवि, पृ. 72.
170. मैत्री, द इकोनोमिक लाइफ आफ नार्दन इंडिया (विस्तृत विवरण के लिए)



## भाषा एवं वाङ्मय

भारतवर्ष के प्राचीन वाङ्मय में छठी शताब्दी का काल अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस युग में तत्कालीन भारतीय समाज में व्याप्त रूढ़ियों, कुरीतियों तथा अंधविश्वासों का प्रतिकार किया गया। वेदों तथा ब्राह्मणों की प्रभुता को चुनौती दी गई। यज्ञों तथा जातिप्रथा की रूढ़ियों तथा अन्य सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाई गई। इससे विभिन्न मतों का प्रादुर्भाव हुआ। एक प्राचीन पालि सुत्त के अनुसार भगवान बुद्ध के आविर्भाव के समय दर्शन के 63 वादों का प्रचलन था, जिनमें अनेक दर्शन ब्राह्मण विरोधी थे।<sup>1</sup> इस विभिन्न मतों के अनुयायियों में साहित्य की अनेक पद्धतियां स्वतंत्र रूप से विकसित हुई होंगी किंतु किसी भी शाखा ने अपने साहित्य को सुरक्षित नहीं रखा (अर्थात् कंठस्थ नहीं किया)। परंतु दूसरी शाखाओं के साहित्य से वे परिचित थे और उनके मतों पर विचार-विमर्श करते थे। वे अपने कंठस्थ सूत्रों की बातों की तुलना अन्य मतों के सूत्रों की बातों से करते थे। ऐसे पर्याप्त उदाहरण उपलब्ध हैं कि एक शाखा में दीर्घकाल तक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् लोगों ने दूसरी शाखा की शिक्षा आरंभ की। ऐसे लोग दो शाखाओं के साहित्य के न्यूनाधिक ज्ञाता हो जाते थे।<sup>2</sup>

प्राचीन काल में बस्तियों के निकट के वनों में विभिन्न शाखाओं के अनुयायी तपस्वी का जीवन व्यतीत करते हुए अपनी शाखा की विभिन्न परंपराओं के अनुसार यज्ञ करते, योग साधते या उन सूत्रों के कंठस्थ करते और अपने शिष्यों को कंठस्थ कराते थे जिनमें उनकी शाखा के सिद्धांत सन्निहित थे। आश्रमों में साहित्य का अध्ययन व पाठ होता था।<sup>3</sup>

आश्रमों के अतिरिक्त परिव्राजक कहे जाने वाले लोगों का दूसरा वर्ग था जिनका सनस्त भारत में आदर और सम्मान किया जाता था। परिव्राजक ऐसे उपदेशक या दार्शनिक होते थे जो वर्ष में नौ मास केवल आचार, दर्शन, प्रकृति ज्ञान एवं रहस्यवाद पर वाद-विवाद करने के निमित्त भ्रमण किया करते थे।<sup>4</sup> इन लोगों के रहने और धारणाओं पर विचार-विमर्श के लिए बने संथागारों की चर्चा पाई जाती है। ऐसा एक संथागार वैशाली के निकट महावन में भी था।<sup>5</sup>

अनेक संप्रदायों का विशेष वर्णन अथवा उनका साहित्य क्रमबद्ध रूप में नहीं

प्राप्त होता। संभवतः बहुत दिनों तक उनका साहित्य लोगों के कंठ में ही सुरक्षित रहा होगा। लेकिन जब कालांतर में ऐसे साहित्य की सुरक्षा के लिए लिपि का उपयोग किया जाने लगा, उस समय इस संप्रदाय के अनुयायी अथवा प्रवक्ता ही न रहे जो उसे लिपिबद्ध करते।<sup>6</sup> हां, जैन और बौद्ध ग्रंथों में इस संप्रदाय और उसके प्रतिपादित मत के अनेक उल्लेख हैं।<sup>7</sup>

पाणिनि<sup>8</sup> की अष्टाध्यायी में भी 'कर्मदण्डिन' और 'पाराशरीय' नामक दो ब्राह्मण संप्रदायों का उल्लेख हुआ है। मज्झिम निकाय (3/298) में किसी 'पाराशरीय' ब्राह्मण उपदेशक के मत की भगवान बुद्ध द्वारा विवेचना किए जाने की बात कही गई है। संभव है, जिस समय पाणिनि के व्याकरण पर उक्त टीका लिखी गई, उस समय तक यह संप्रदाय अस्तित्व में रहा हो। परिव्राजक और तपस्वियों के कुछ अन्य संप्रदायों और समुदायों का अंगुत्तर निकाय में उल्लेख हैं—मुण्डसावक, जटिल, मार्गदिक, तेदण्डिक, अविर्द्धक, देवधम्मिक, गोतमक।<sup>9</sup> इनके विषय में कुछ विशेष जानकारी नहीं है क्योंकि इनके मत का साहित्य लुप्त हो चुका है।

उक्त सभी संप्रदायों में पारस्परिक विनिमय में भाषा की विविधता के कारण कोई बाधा नहीं पड़ती थी। न केवल दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की सामान्य बातचीत में वरन् दर्शन और धर्म संबंधी गहन और गंभीर विचार-विमर्शों में भी कोई बाधा नहीं पड़ती थी। व्यापक रूप से समझी जाने वाली लोक भाषा विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित थी। साहित्यिक संस्कृत संभवतः कुछ प्रबुद्ध वर्ग में ही बोली जाती थी। परिव्राजक लोग संस्कृत बोलते थे या लोक भाषा, इस बात का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। संभवतः परिव्राजक लोग यदि संस्कृत का प्रयोग करते भी रहे होंगे तो वह केवल आपस में विचार-विमर्श के समय, सामान्य जन से बातचीत करते समय वे लोग उस क्षेत्र में बोली जाने वाली लोक भाषा का ही प्रयोग करते रहे होंगे। संभव है कि कालांतर में संस्कृत तथा लोक भाषा का मिला-जुला रूप पालि तथा प्राकृत के रूप में विकसित हुआ हो। कुछ यूरोपीय विद्वानों ने प्राचीन नाटकों के आधार पर कहा है कि प्राचीन भारत में संस्कृत का व्यवहार अधिक होता था, विशेषतः उच्च वर्ग में।<sup>10</sup> इन प्राचीन नाटकों में स्त्रियों से बात करने के अतिरिक्त प्रत्येक सामाजिक स्तर के पुरुष पात्र संस्कृत ही बोलते हैं। कुछ उच्च वर्ग की स्त्रियां भी यदाकदा नाटकों में संस्कृत बोलती दिखाई गई हैं।

बहुत संभव है जिस समय ये नाटक लिखे गए उस समय संस्कृत साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी लेकिन लोग सामान्यतया अपने दैनिक जीवन में सीधी-सादी लोक भाषा बोलते रहे हों। नाटककारों ने संभवतः इसीलिए अपने सुसंस्कृत दर्शकों के सम्मुख अपने नाटक प्रस्तुत करते समय वार्तालाप को संस्कृत और उसी के समान अस्वाभाविक प्राकृत भाषाओं में बांट दिया हो।<sup>11</sup>

बौद्ध धर्म के आविर्भाव के पूर्व तथा विकास के दौरान संस्कृत संभवतः प्रबुद्ध

वर्ग की भाषा बनी रही थी। लेकिन सामान्य जन की बोलचाल की भाषा भिन्न-भिन्न प्रदेशों में थोड़ा अंतर लिये हुए, बोली जाती रही होगी। यह लोक भाषा राजकीय कर्मचारी और शिष्ट समुदाय द्वारा व्यवहार में लाई जाती थी। संभवतः अर्ध मागधी (जैन अंगों की भाषा), पालि (जिसका विकास संभवतः लोक भाषा में हुआ तथा जो कोसल, वैशाली तथा अवंति में बोली जाती थी) तथा प्राकृत (महाराष्ट्रीय का साहित्यिक रूप जिसका विकास संभवतः पांचवीं शताब्दी ई. तथा उसके बाद की लोक भाषा से हुआ) में परिवर्तित व परिवर्द्धित होती गई। लोक भाषा के विकास क्रम से स्पष्ट है प्राचीन भारत में राजनीतिक शक्ति के साथ-साथ भाषा के महत्व के केंद्र भी स्वाभाविक रूप से बदलते रहे।

## वाङ्मय

जहां तक वैदिक साहित्य का प्रश्न है, रिस डेविड्स का मत है कि आठवीं-सातवीं शताब्दी ई. पू. भारत में भारतीय के पास विशाल वैदिक साहित्य विद्यमान था, जो कंठस्थ होकर मात्र ऋषि कुलों में सुरक्षित चला आया था। यद्यपि इस समय भारतीयों को लिपि का ज्ञान हो चुका था, किंतु वे पूर्व प्रणाली की सहायता से ही अपने-अपने ग्रंथों का अस्तित्व बनाए रहे।<sup>12</sup> संभवतः यही कारण है कि धातु एवं प्रस्तर पर अंकित जो भी प्राचीनतम लेख मिले हैं वे बौद्ध हैं। संभवतः बौद्धों ने ही सर्वप्रथम अपने धार्मिक ग्रंथों को अंकित करने के लिए लिपि का व्यवहार किया। विशाल ब्राह्मण साहित्य में यदि लेखन का कोई प्राचीन लेख है तो यह वशिष्ठ धर्मसूत्र<sup>13</sup> में है जो परवर्ती काल की रचना है।<sup>14</sup>

इस प्रकार यद्यपि छठी शताब्दी पूर्व में विशेष प्रकार के साहित्य का विशाल भंडार था, लेकिन लिखित ग्रंथों का अभाव था। लिखित ग्रंथों के अभाव में वैदिक ग्रंथों को कंठस्थ करने एवं बार-बार आकृति करने की आवश्यकता तथा सामान्य जन की भाषा को साहित्यिक रूप न देने की प्रवृत्ति के कारण संभवतः दीर्घ काल तक साहित्य का विस्तार अधिक नहीं हो पाया। किंतु जो साहित्य उपलब्ध है, वह तत्कालीन विद्वानों की उच्चकोटि की प्रतिभा एवं उद्योगनिष्ठा का द्योतक है। इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता कि साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग नष्ट भी हो गया होगा किंतु वर्तमान में तीनों विभिन्न शाखाओं ब्राह्मण, बौद्ध और जैन की जो साहित्यिक कृतियों का पर्याप्त अंश बच रहा है वह भी कम उल्लेखनीय नहीं है। इस तीनों प्रतिस्पर्द्धी साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन से उस समय के साहित्य के इतिहास पर प्रकाश डाला जा सकता है।

स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता है कि ब्राह्मण शाखा के कितने ग्रंथ अब तक संग्रहीत किए जा चुके थे। फिर भी पाश्चात्य विद्वान भीमे तथा वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार पाणिनि<sup>15</sup> को ऋग्वेद, मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता, तैत्तिरीय संहिता,



अथर्ववेद, सामवेद का परिचय था, अर्थात् ये सब साहित्य उनसे पूर्व युग में निर्मित हो चुका था।<sup>16</sup> पाणिनि ने वैदिक तथा प्रादेशिक भाषा दोनों का उल्लेख अष्टाध्यायी में किया है।<sup>17</sup> भगवान बुद्ध के समय में तक्षशिला विद्या का विश्व विख्यात केंद्र था। प्राप्त प्रमाणों से प्रतीत होता है कि उन दिनों छह प्रमुख विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती थी—(1) वेद, (2) वैदिक साहित्य—पङ्क्वेदाङ्ग अर्थात् शाखा, छंद, व्याकरण, निरुक्त, कल्प तथा ज्योतिष। (3) ब्राह्मण, संहिता और उपनिषद्, (4) गृह्य सूत्र तथा धर्मसूत्र, (5) अन्य विषय, (6) लौकिक साहित्य—अर्थशास्त्र, शिल्प तथा वार्ता। पाणिनि ने धार्मिक तथा लौकिक विषयों के समृद्ध साहित्य भंडार का उल्लेख किया है जिससे तत्कालीन पाठ्य विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है।<sup>18</sup>

लोक भाषा को परिमार्जित कर पालि में लिखे गए सभी बौद्ध ग्रंथ (पालि टेक्सस सोसाइटी द्वारा संग्रहीत) आज उपलब्ध हैं। जैन ग्रंथ अभी तक खंडित ही मिले हैं जिनकी उपलब्ध करना उस काल को निश्चित रूप देने के लिए आवश्यक है। फिर भी जैन धर्म ग्रंथों में आचारांग सूत्र सर्वाधिक प्राचीन प्राप्त ग्रंथ इस काल के इतिहास जानने के लिए कम महत्वपूर्ण नहीं है। कल्पसूत्र, उवासगदसाव, औपपातिक सूत्र तथा भगवती सूत्र का महत्व भी कम नहीं है। भगवती सूत्र यद्यपि परवर्ती काल की रचना है परंतु इसमें महावीर स्वामी के समय लिच्छवियों से संबंधित घटनाओं का समावेश होने से कम महत्वपूर्ण नहीं है।<sup>19</sup> यद्यपि प्राप्त जैन ग्रंथों की वास्तविकता तथा प्रामाणिकता के विषय में आपत्ति की जा सकती है, फिर भी चौथी शताब्दी ई. पू. में जब भद्रबाहु जैन आचार्य थे, तब जो संकलन हुआ था वही इन पुस्तकों में है, ऐसा बहुत से विद्वानों का मत है।<sup>20</sup> सभी जैन विद्वान यह मानते हैं कि कुछ 'प्राचीन' पूर्व ग्रंथ थे जो अब लुप्त हो गए हैं। भाषा तथा लिपि के जो प्रमाण अब तक मिले हैं वे जैनों में प्रचलित इस अनुश्रुति तथा इस विशेष तथ्य की पुष्टि करते हैं। हां, यह अवश्य है कि इनमें प्राचीन ग्रंथों के जो नाम दिए हैं वे मूल नहीं हो सकते। वे ग्रंथ तो केवल प्राप्त ग्रंथों की तुलना में पूर्ववर्ती थे। यदि ये वर्तमान ग्रंथ चौथी शताब्दी ई. पू. के हैं तो छठी शताब्दी ई. पू. की संख्याओं एवं घटनाओं के प्रमाण स्वरूप इनका बड़ी सतर्कता से ही उपयोग किया जा सकता है। इस तरह ये जैन ग्रंथ प्राचीन भारतीय इतिहास के लिए महत्वपूर्ण सामग्री हैं।<sup>21</sup>

बौद्ध धर्म ग्रंथ की दशा जैन साहित्य की अपेक्षा अच्छी और पर्याप्त संख्या में है। इसके माध्यम से उस समय की भाषा तथा साहित्य का विकास का क्रम अच्छी तरह देखा जा सकता है। बौद्ध साहित्य की आयु या प्राचीनता के संबंध में सर्वोत्तम प्रमाण उनमें स्वयं मिलने वाली सामग्री है, जिस प्रकार के शब्द वे प्रयोग करते हैं, जिस शैली में वे लिखे गए हैं, जो भाव वे व्यक्त करते हैं। पालि ग्रंथों में कौन-सा भाग अधिक प्राचीन है, इसका भी प्रमाण मिलता है। पालि पढ़ने का कोई भी अभ्यस्त यह जान जाएगा कि निकाय धम्म संगीति से प्राचीन है और दोनों कथावस्तु से प्राचीन हैं।<sup>22</sup>

भगवान बुद्ध के उपदेशों को किसी न किसी रूप में सुरक्षित रखने की अनिवार्यता को बुद्ध निर्वाण के पश्चात् ही अनुभव किया गया होगा। भगवान बुद्ध ने निर्वाण निकट आने के समय शोकाकुल आनंद से कहा, हे आनंद, आप लोगों को यह सोचकर कष्ट होगा कि हमारे मार्गदर्शक अब हमारे बीच नहीं रहे। परंतु हे आनंद, यथार्थतः ऐसा नहीं है। मैंने जिस धर्म तथा विनय का आप सभी को उपदेश दिया, वे ही मेरे निर्वाणोपरांत आपका मार्गदर्शन करते रहेंगे।<sup>23</sup> भगवान बुद्ध के निर्वाण के साथ ही उनके उपदेशों के मर्मज्ञ भिक्षुओं का अंत नहीं हो गया। ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता कि भिक्षुओं द्वारा उनकी शिक्षाओं के शुद्ध रूप को सुरक्षित रखने के प्रयास की गति अवरुद्ध हो गई हो। धर्माधर्म, विनयाविनय का स्वरूप निर्धारित होता रहा, इस पर भिक्षु विचार-विमर्श करते रहे। कभी-कभी भिक्षुओं में मतभेद भी हुए। सूत्रों में ऐसे प्रसंगों के उल्लेख मिलते हैं जब किसी विषय के औचित्यानौचित्य का विचार करने के लिए सुत्त तथा विनय का सहारा लेना पड़ता था।<sup>24</sup> इसका अर्थ यह हुआ कि सुत्त और विनय के ज्ञाता भिक्षुओं से या तो शंका समाधान किया जाता था अथवा लिखित ग्रंथ को देखना पड़ता था। अशोक के समय तक किसी न किसी रूप में पालि पिटक का विकास हो गया था। अशोक ने अपने भवू अभिलेख में, जो उसने बौद्ध संघ को संबोधित करके लिखा है, संघ के भिक्षुओं और भिक्षुणियों तथा सामान्य स्त्री-पुरुष और भक्तों को निययमित रूप से कुछ चुने हुए अंशों को निरंतर सुनने (कंठस्थ करने) एवं उन पर चिंतन करने को कहा है।<sup>25</sup> उन अंशों के नाम इस प्रकार हैं : आर्यवंशानि (जो अब दीघ निकाय के संगीति सुत्त में उपलब्ध है), अनागतभयानि (जो अंगुत्तर निकाय, 3. पृ. 105. 108 में उपलब्ध है), मुनि गाथा (जो सुत्त निपात के सुत्र 206, 200 में है), मुनि सुत्त (जो इति वुत्तक और अंगुत्त निकाय भाग, 1, पृ. 272 में है), उपतिष्य प्रश्न (उप तिस्सु, द्वारा पूछे गए प्रश्न जो सारिपुत्र के नाम से अधिक विख्यात है)। इससे प्रतीत होता है कि कम से कम पालि पिटक का आंशिक रूप इस समय तक अवश्य अस्तित्व में आ चुका था।

कुछ बौद्ध ग्रंथ अन्य बौद्ध ग्रंथों की तुलना में प्राचीन हैं, इसके भी प्रमाण मिलते हैं। कथावस्तु नाम की संपूर्ण रचना अशोक के समय में जोड़ी गई है।<sup>26</sup> पेतवत्थु<sup>27</sup> तथा विमानवत्थु (जो इसी ग्रंथ का उत्तरार्द्ध मात्र है) निकाय की तुलना में, भाव की दृष्टि से निःसंदेह बहुत पीछे के हैं।<sup>28</sup> यही बात अन्य दो छोटे काव्य संग्रहों के संबंध में भी कही जा सकती है। प्रथम 'बुद्धवंस' जिसमें क्रमागत पच्चीस बुद्धों में से प्रत्येक के संबंध में एक-एक स्वतंत्र कविता है। इसी तरह दूसरा काव्य संग्रह है 'चरिया पिटक' जिसमें जातकों के 34 कथाएं पद्यबद्ध रूप में संग्रहीत हैं। दोनों ही परवर्ती पुस्तक हैं। इन ग्रंथों में इस विचारधारा के बीज मिलते हैं जो परवर्ती काल में महायान के रूप में विकसित हुई।<sup>29</sup> इस प्रकार कहा जा सकता है कि बौद्ध ग्रंथों के कुछ भाग अपेक्षाकृत पीछे के हैं। ये पुस्तकें जिस रूप में आज उपलब्ध हैं उनमें ऐसे



आंतरिक साक्ष्य हैं जिनसे उनके क्रमिक विकास का अनुमान लगाया जा सकता है। किंतु यह सभी बौद्ध ग्रंथों के संबंध में नहीं कहा जा सकता है। सूत्तनिपात सूत्रों का एक छोटा संग्रह है जिसमें 54 सूत्र हैं, यह चार सर्गों में विभाजित है। इसके बाद सोलह सूत्रों का पांचवां सर्ग एक कथा के सहारे जोड़ दिया गया है।<sup>30</sup> इसके टीकाकार ने भी ऐसा ही माना है और उसे सुत्तंत कहा है। ये सुत्तंत दीघ निकाय के सुत्तंतों के समान ही हैं। निकाय में इनका उल्लेख छह बार स्वतंत्र काव्य के रूप में हुआ है।<sup>31</sup> इसी तरह सुत्त निपात के अनेक सूत्र ऐसे हैं जो वर्तमान रूप धारण करने के पूर्व स्वतंत्र अस्तित्व में थे। इससे प्रतीत होता है कि इसमें निश्चित रूप से समय-समय पर परिवर्तन एवं परिमार्जन होता रहा। इस तरह उक्त ग्रंथों की तरह प्रायः सभी ग्रंथों का विकास तथा परिमार्जन होता रहा। इस तरह उक्त ग्रंथों की तरह प्रायः सभी ग्रंथों का विकास तथा परिमार्जन शाखाओं में हुआ और यह व्यक्तिगत प्रयत्न की अपेक्षा सामूहिक प्रयत्न के फलस्वरूप हुआ। किसी ने किसी पुस्तक का लेखक होने का दावा करने की कल्पना नहीं की। बौद्ध धर्म के 29 ग्रंथों में 26 के तो संघ के अतिरिक्त किसी लेखक का नाम है ही नहीं।<sup>32</sup>

बौद्ध मत का व्यापक प्रचार होने के साथ-साथ क्रमशः बौद्ध पालि साहित्य समृद्ध होता गया। बौद्ध संगीतियों के माध्यम से त्रिपिटक साहित्य का संपादन तथा उन्हें क्रमबद्ध करने का संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक नहीं है।

बौद्ध परंपरा के अनुसार भगवान् बुद्ध के निर्वाण के तुरंत बाद बुद्ध वचनों का संकलन प्रथम बौद्ध संगीति में किया गया।<sup>33</sup> इस संगीति में विनय तथा धम्म के जिन नियमों को मान्यता मिली वे ही थेरवाद के सिद्धांत हुए। पुनः बुद्ध निर्वाण के एक शताब्दी पश्चात् वैशाली में बौद्ध भिक्षुओं ने दूसरी संगीति की।<sup>34</sup> सम्राट अशोक के समय में तीसरी बौद्ध संगीति का आयोजन हुआ जिसमें पालि पिटक का संकलन करके उन्हें लिपिबद्ध कर दिया गया। दीपवंश तथा महावंश के अनुसार बुद्ध निर्वाण के 236वें वर्ष में 'मोग्गलिपुत्त तिस्स' के सभापतित्व में एक सहस्र बौद्ध भिक्षुओं की संगीति पाटलिपुत्र में हुई, जिसमें सद्धर्म अथवा थेरवाद के सिद्धांतों का संकलन किया गया। इसी प्रयास का प्रमुख परिणाम हुआ कि त्रिपिटक के रूप में बौद्ध मत के सिद्धांत लिपिबद्ध हो गए। तीसरी संगीति में जिस पालि पिटक का संकलन किया गया उसकी एक प्रति कुमार महेंद्र लंका ले गए। बाद में वह भी वहां अस्तव्यस्त हो गया, अतः पांचवीं शताब्दी ई. में लंकाधिपति बट्टगामिनी ने उनका पुनः संकलन कराया। इस प्रकार उसको वह रूप प्रदान किया गया जो अब तक सुरक्षित है।<sup>35</sup> इस लंबी प्रक्रिया से गुजरने के कारण उसमें अनेक परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है, परंतु इतना होने पर भी उसका वह स्वरूप जो तीसरी संगीति में प्राप्त हुआ, सुरक्षित ही रहा। भाषा में परिवर्तन अवश्य हुआ होगा, पर भाव वही बने रहे।

कतिपय विद्वानों को संदेह है कि बौद्ध काल का इतिहास ज्ञात करने के लिए



पालि पिटक प्रामाणिक है। परंतु विविध दृष्टिकोणों से विचार करने पर यह ग्राह्य नहीं है। अलिखित होने पर भी भगवान बुद्ध के प्रमुख उपदेशों को बौद्ध भिक्षुओं ने यत्नपूर्वक यथावत् सुरक्षित रखा होगा इसमें संदेह का कोई आधार नहीं दीखता, क्योंकि भारत में वेद की शिक्षा मौखिक रूप में प्रदान की जाती रही और वे उसी रूप में सहस्रों वर्षों तक सुरक्षित रहे। अशोक के पूर्व पालि पिटक के प्रमुख अंशों को भी मौखिक रूप में सुरक्षित रखा गया और आवश्यकता होने पर बौद्ध मत के विभिन्न विषयों के ज्ञाताओं से शंकाओं का समाधान किया जाता रहा। बुद्ध निर्वाण के एक शताब्दी पश्चात् जब वज्जिपुत्र भिक्षुओं ने दस निषेधों का आचरण करना प्रारंभ किया, तब रेवत से पूछा गया कि वैशाली के भिक्षुओं का आचरण भगवान द्वारा उपदिष्ट धर्म के अनुकूल है, अथवा नहीं।<sup>36</sup> रेवत को धम्म, विनय, आगम तथा मातिकाओं (मात्रिकाओं) का ज्ञाता कहा गया है।<sup>37</sup> प्रख्यात प्राच्यविद् ओल्डेनवर्ग<sup>38</sup> तथा पिटर नित्स्ज<sup>39</sup> ने भी संकलन के पूर्व मौखिक रूप में पालि पिटक के पर्याप्त अंश की विद्यमानता को स्वीकार किया है। यह भी सुलभ है कि बौद्ध भिक्षु बुद्ध वचनम् का कंठस्थ पाठ करते थे।<sup>40</sup> चुल्ल वग्ग में स्पष्ट कहा गया है कि सुत्तं का पाठ करने वाले भिक्षु सुत्तंतिक, धम्म का पाठ करने वाले धम्म कथिक और विनय के ज्ञाता विनयधर थे।<sup>41</sup> इसी तरह पिटक के ज्ञाता को पेटकिन तथा जिसे पांच निकाय कंठस्थ हो, पंच नेकायिक कहा जाता था।<sup>42</sup>

पालि पिटक का जो वर्तमान रूप उपलब्ध है, उसका विकास किस ढंग से हुआ था, इस बात को ऊपर दर्शाया गया है। आज पालि पिटक उपलब्ध है उसके तीन अंग हैं—(क) विनय पिटक (ख) सुत्त-पिटक (ग) अभिधम्म पिटक। इन तीनों के संकलन को त्रिपिटक कहा जाता है। विनय पिटक भिक्षु के नियमों का संग्रह, सुत्त पिटक भगवान बुद्ध के प्रवचनों का और अभिधम्म पिटक दार्शनिक विषयों का विवेचनात्मक ग्रंथ है। सुत्त पिटक में प्रमुख थेरों के उपदेशों तथा गाथाओं को भी समाहित किया गया है। सुत्त पिटक के अंतर्गत पांच निकाय हैं : दीघ निकाय, मज्झिम निकाय, संयुक्त निकाय, अंगुत्तर निकाय तथा खुद्दक निकाय। खुद्दक निकाय में समाविष्ट 547 जातक कथा हैं।<sup>43</sup>

## जातक ग्रंथ

बुद्धकालीन समाज का विवरण प्राप्त होने के कारण जातकों को इसी काल का माना जा सकता है। लेकिन जैसा कि ऊपर अन्य बौद्ध ग्रंथों के विकास में दर्शाया गया है, वही स्थिति इन जातकों की भी है। रिस डेविड्स ने वर्तमान जातक के संग्रह में कौन अधिक प्राचीन है, ढूँढने का प्रयास किया है। जिन जातकों को वे प्राचीन बौद्ध धर्म ग्रंथों में ढूँढ सके उनकी तालिका नीचे दी जा रही है :

1.	जातक संख्या	12—निग्रोध मृग जातक	संयुक्त निकाय भाग 5, पृ. 146 पर मूल कहानी दी है।
2.	"	1 —अपन्नक दीघ	2/342 पर आश्रित है।
3.	"	9 —मखदेव मज्झिम	2/75 " " "
4.	" "	10—सुखविहारी विनय	2/83 " " "
5.	" "	37—तित्तिर विनय	2/161 " " "
6.	" "	91—लिट्ट दीघ	2/348 " " "
7.	" "	95—महासुदस्सन दीघ	2/169 " " "
8.	" "	203—खंधवत्त विनय	2/1095 " " "
9.	" "	253—मणिकण्ठ विनय	2/145 " " "
10.	"	405—बकव्रह्म मज्झिम	1/328 " " "
		संयुक्त	1/142 " " "

इस दृष्टि में जातक कथाओं में उक्त जातक कथाएं प्राचीन हैं। इनसे दो महत्वपूर्ण तथ्य ज्ञात होते हैं। प्रथम यह कि इनके प्राचीन रूपों में न तो कोई बाह्य ढांचा था और न गाथा। वे कोरी कहानियां, दृष्टांत कथाएं हैं जो (दो को छोड़कर) गद्य में हैं। द्वितीय, उपलब्ध जातक ग्रंथ केवल आंशिक हैं। उसमें वे सभी कथाएं नहीं हैं जो बौद्ध समाज में उनके साहित्य के प्रारंभिक काल में प्रचलित थीं।<sup>44</sup>

इन जातकों की रचना काल का प्रमाण भरहुत और सांची स्तूपों के उत्कीर्ण फलकों का है। स्तूप के चारों ओर वेदिकाओं तथा तोरणों में चित्र उत्कीर्ण हैं। उनमें अनेक दृश्य हैं जिसमें कुछ पर तीसरी शताब्दी ई. पू. की लिपि में शीर्षक स्वरूप किसी न किसी जातक का नाम अंकित है। कुछ ऐसे भी दृश्य हैं जिन पर शीर्षक तो नहीं हैं किंतु विषय की दृष्टि से वैसे ही हैं। उनमें से सत्ताईस दृश्यों की पहचान नहीं हो सकी है। इनमें से कुछ तो ऐसी जातक कथाओं के दृश्य जान पड़ते हैं जो उस समय समाज में प्रचलित रही होगी किंतु संग्रह में नहीं सम्मिलित की गई हैं।<sup>45</sup>

वेदिकाओं तथा तोरणों पर उत्कीर्ण जातक कथाओं के दृश्य देखकर उन्हें तब तक कोई नहीं समझ सकता है जब तक वह गद्य में कही कथा से परिचित न हो। भरहुत के स्तूप पर जो चित्र अंकित है, उस पर शब्दों में जातक कथा के शीर्षक भी उत्कीर्ण हैं जो जातक के छपे संस्करणों में कही जाने वाली कहानी की गाथाओं के आरंभ के हैं, जैसे 'निग्रोध का अनुसरण करो' जो निग्रोध मृग जातक से लिया गया है, तथा 'यं बमनों अवयेसि जातक' जो 'अंधभूत' जातक कही जाने वाली कहानी की गाथा के आरंभ का शब्द है।<sup>46</sup>

इसी तरह प्राचीनता पर विचार करने के लिए कुछ तथ्य स्वयं जातक ग्रंथ में मिलते हैं। ऐसे बौद्ध धार्मिक ग्रंथ जिनमें केवल गाथा ही हो (बिना टीका के) हस्तलिखित रूप में भी बहुत कम हैं। फॉउसबोल के सुप्रसिद्ध संस्करण में जो कुछ है



वह टीका है, शुद्ध रूप में गाथा नहीं। इसकी तिथि का पता नहीं चलता। किंतु इस प्रकार की टीकाएं ईसा की पांचवीं शताब्दी से पूर्व नहीं लिखी जाती थीं। अतएव संभव है कि यह भी इसी काल की लिखी हो।<sup>47</sup> टीकाओं के लेखक ने आरंभ के पद्यों में अपने संबंध में थोड़ा-सा लिखा है किंतु नाम नहीं बताया है जिन्होंने उसे इस कार्य को करने के लिए प्रोत्साहित किया। उनका कहना है कि वह (टीका) उस परंपरा पर आधारित है जो लंका के अनुराधापुर में प्रचलित थी। इस जातक ग्रंथ के सात बड़े-बड़े भागों में केवल दो बार दूसरी शताब्दी ई. के लंका के विद्वानों का उल्लेख है।<sup>48</sup> यद्यपि उसने ऐसा टिप्पणी में ही लिखा है तथापि इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संभवतः उसने इसे लंका में ही लिखा।<sup>49</sup> प्रो. चाइल्ड्स<sup>50</sup> की धारणा यह है कि बौद्ध ग्रंथों की बड़ी टीकाओं का लेखक बुद्ध घोष इसका भी लेखक है। रिस डेविड्स के मत में यह समीचीन नहीं लगता।<sup>51</sup> डॉ. फिक ने इन जातकों का विस्तृत तथा मनोयोगपूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए मत प्रकट किया है कि उत्तर पूर्वी भारत की सामाजिक स्थिति के बारे में जातकों में जो कुछ मिलता है उससे इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि जहां तक गाथा और कथाओं के मूल गद्य रूप का (ढांचे से भिन्न) संबंध है उसमें पूर्ववर्ती बौद्धों में प्रचलित मौखिक परंपरा से शायद ही कहीं भिन्नता हो।<sup>52</sup> जातकों में ऐसे किसी साम्राज्य का उल्लेख नहीं है जिसमें भारत का संपूर्ण अथवा भाग सम्मिलित हो। जिन राज्यों के नरेश इस कथाओं के पात्र हैं उनकी संख्या काफी अधिक है। अधिकांश नाम, यथा भद्र, पंचाल, कोसल, विदेह, काशी, विदर्भ आदि वैदिक साहित्य में उल्लिखित नामों के समान ही हैं। आंध्र, पाण्ड्य और केरल के उल्लेखनीय नामों की चर्चा उनमें नहीं है।<sup>53</sup>

जातक ग्रंथ की कुछ कथाओं में (ढांचे में नहीं) कही गई बातों से ऐसे ऐतिहासिक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं जो उस काल के लिए अनुमानित साक्ष्य हो सकते हैं, क्योंकि ये कथाएं बौद्ध अनुश्रुतियों के रूप में सम्मिलित कर सुरक्षित की गई हैं। इन अनुश्रुतियों में राजनीतिक एवं सामाजिक बातों के प्राचीन विचार काफी सुरक्षित हैं। गाथाएं तो अवश्य ही सबसे अधिक विश्वसनीय हैं, क्योंकि भाषा की दृष्टि से वे और भी कई शताब्दी पूर्व की हैं।<sup>54</sup>

कुछ कथाएं आरंभ में ही, जब वे अनुश्रुतियों में सम्मिलित की गई, काफी पुरानी हो चुकी थीं। इन कथाओं में (जिनको जातक ग्रंथ के निर्माण के पूर्व के रूप को खोज सकते हैं) 60-70 प्रतिशत अंश गाथा के रूप में था ही नहीं। वर्तमान संग्रह में भी ऐसी कथाओं की संख्या काफी है जिनमें कथा के रूप में कोई गाथा है ही नहीं। इनमें गाथाएं (जो जातक का रूप देने की दृष्टि से ही जोड़ी गई हैं) केवल ढांचे में ही मिलती हैं।<sup>55</sup>

इस प्रकार वर्तमान त्रिपिटक में संग्रहीत बौद्ध ग्रंथों तथा जातक कथाओं के क्रमिक विकास के आधार पर पांचवीं शताब्दी ई. पू. में हो रहे भारतीय साहित्य के



उद्भव तथा विकास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस समय हो रहे भाषा के स्वरूप परिवर्तन से भाषा बोधगम्य और निरंतर विकसित होती जा रही थी। लोक भाषा साहित्यिक रूप धारण कर रही थी जिससे आगे चलकर विश्व प्रसिद्ध साहित्य का निर्माण संभव हुआ।

### संदर्भ तथा टिप्पणियां

1. कैम्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, 1, पृ. 150; मदनमोहन सिंह, बुद्ध कालीन समाज और धर्म, पृ. 98.
2. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत (हिंदी अनु.), पृ. 93.
3. वही.
4. वही, पृ. 94; मदनमोहन सिंह, बुद्ध कालीन समाज और धर्म, पृ. 148; आर्जिविक्स, पृ. 95.
5. रिस डेविड्स, वही, पृ. 93.
6. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत (हिंदी), पृ. 95.
7. जातक, 6, पृ. 222-225; डायलाग्स, 3, पृ. 14. और आगे; दीघ निकाय, 1, पृ. 52-53.
8. अष्टाध्यायी, 4/3/210.
9. अंगुत्तर निकाय, 3, पृ. 276-277.
10. रिस डेविड्स द्वारा बौद्ध भारत (हिंदी), पृ. 99 पर उद्धृत.
11. वही, पृ. 100.
12. वही, पृ. 81.
13. वही, पृ. 82; मनुस्मृति, 16/10-24.
14. वही, पृ. 82.
15. वासुदेव शरण अग्रवाल, पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पृ. 467-474 : श्री अग्रवाल ने विभिन्न विद्वानों के मतों की समीक्षा करके यह निष्कर्ष निकाला कि पाणिनि भगवान बुद्ध के पश्चात् तथा महापद्म नंद के पूर्व या उसी के समय में हुए थे. पाणिनि के काल निर्धारण के संबंध में नंदराज को अनुश्रुति, जिसके अनुसार पाणिनि मगध के किसी नंदराज का समकालीन था, महत्वपूर्ण है, अनुश्रुति की पुष्टि तिब्बती लेखक तारानाथ बौद्ध धर्म का इतिहास 1608) करते थे। सोमदेव ने कथा-सरित्सागर (1063-1081) में तथा दोमैंद्र ने बृहत् कथा मंजरी (11वीं शताब्दी) में लिखा है कि पाणिनि नंद राजा की सभा में पाटलिपुत्र गए थे. वही).
16. वासुदेव शरण अग्रवाल, वही, पृ. 469; धीमें, पाणिनि और वेद (1935), पृ. 63.
17. वही, पृ. 5.
18. राधाकुमर मुखर्जी, एंशिअंट इंडियन एजुकेशन, पृ. 165-67.
19. मदनमोहनसिंह, बुद्धकालीन समाज और धर्म, पृ. 7.
20. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत (हिंदी), पृ. 112.
21. वही.
22. वही, पृ. 114.
23. महापरिनिब्बान सुत्त.
24. दीघ निकाय, 16/4/11; अंगुत्तर निकाय, 6, पृ. 511.
25. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत (हिंदी), पृ. 116.

26. वही, पृ. 121.
27. बौधायन श्रौत सूत्र-3 (बौद्ध भारत, पृ. 121 पर रिस डेविड्स द्वारा उद्धृत)
28. रिस डेविड्स, वही, पृ. 121-122.
29. वही.
30. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत, पृ. 123.
31. संयुक्त निकाय, 2/49; अंगुत्तर निकाय, 1/144/; 2/45; 3/45; 3/399; 4/63.
32. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत, पृ. 122-24.
33. चुल्लवग्ग (11), दीपवंश (4) तथा महावंश (3) के अनुसार बुद्ध निर्वाण के तत्काल पश्चात् सप्तपर्णी गुहा में पांच सौ भिक्षुओं ने एकत्र होकर महाकस्सप के सभापतित्व में विनय तथा धर्म के सूत्रों का संकलन किया
34. चुल्लवग्ग, 12; दीपवंश, 4-5.
35. मदनमोहन सिंह, वही, पृ. 2.
36. चुल्लवग्ग, 13/1/1.
37. वही.
38. सै. बु. ई., भाग 13, भूमिका, पृ. 36.
39. विंटरनिट्स, ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, 2, पृ. 2-03, 10-11.
40. वही.
41. चुल्लवग्ग, 4/4/4.
42. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत (हिंदी), पृ. 115
43. मदनमोहन सिंह, बुद्धकालीन समाज और धर्म, पृ. 5.
44. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत, पृ. 138.
45. वही, पृ. 139-140.
46. कनिंघम, 'स्तूप आफ भरहुत' (बौद्ध भारत, पृ. 140 पर रिसडेविड्स द्वारा उद्धृत)
47. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत, पृ. 141.
48. रिस डेविड्स, द लास्ट टु गो फोर्थ (ज. ए. सो., 1902).
49. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत, पृ. 142.
50. बुद्ध वर्ष स्टेरीज़ और साथ ही 'डायलाग्स आफ बुद्ध', भाग 1, 17 में दी गई टिप्पणी.
51. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत, पृ. 142.
52. रिचर्ड फिक्, 'Sociale Gliderring is nordostlichen Indin Zu Buddha's Zait', पृ. 6-7; (बौद्ध भारत, पृ. 143 पर रिस डेविड्स द्वारा उद्धृत)
53. जार्ज व्यूलर, इंडियन स्टडीज़ (वियना, 1895), संख्या 5.
54. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत, पृ. 145.
55. सेनार्ट का अभिसंबुद्ध गाथा पर लेख (ज. ए. सो., 1902).

वैशाली की महत्वपूर्ण भौगोलिक स्थिति का वर्णन एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों का वर्णन पूर्ववर्ती अध्यायों में किया जा चुका है। लिच्छवियों की कला के विकास की पृष्ठभूमि में वैशाली की स्थिति, सांस्कृतिक उपलब्धियों तथा राजनीतिक संबंधों का महत्वपूर्ण हाथ होना स्वाभाविक है। आश्चर्य नहीं कि इस समृद्ध प्रदेश में वस्तु, शिल्प, चित्र, कांस्यप्रतिमा, मृण्यमयीप्रतिमा, मृदभाजन, दंतकर्म, काष्ठकर्म, मणिकर्म, स्वर्ण-रजतकर्म आदि के रूप में भारतीय कला की सामग्री प्रभूत मात्रा में पाई गई।

### भवन व नगर निर्माण कला

एक पण्ण जातक<sup>1</sup> से पता चलता है कि वैशाली को तीन प्राकारों से घेरकर सुरक्षित किया गया था। दो प्रकार के मध्य की दूरी गव्यूत थी। प्राकारों (परकोटे) में कई बुर्ज बने थे। इन बुर्जों पर सैन्य दल<sup>2</sup> पहरा दिया करता था। नगर में प्रवेश के लिए बड़े-बड़े प्रवेश द्वार<sup>3</sup> थे जो रात्रि के समय बंद रहते थे। प्रवेश व निकास<sup>4</sup> निषिद्ध था। इस प्रकार वैशाली नगर निर्माण का एक उत्कृष्ट नमूना था।

वैशाली नगरी का आंतरिक निर्माण पर्याप्त व्यवस्थित ढंग से किया गया था। महावग्ग<sup>5</sup> के अनुसार सात हजार सात सौ सात अनेक भूमिक भवन, उतने ही गुम्बदनुमा भवन, उतने ही आराम तथा उतने ही कमल सरोवर थे। तिब्बती दुल्व<sup>6</sup> के अनुसार वैशाली तीन भागों में विभाजित थी जिसके प्रथम भाग में सात हजार स्वर्ण कलश वाले, मध्य में चौदह हजार रजत कलश वाले तथा अंतिम भाग में इक्कीस हजार ताम्र कलश वाले भवन थे। ये स्तर के अनुसार उच्च, मध्यम व निम्न वर्ग के रहने के लिए होते थे।<sup>7</sup> इसके अतिरिक्त साधारण लोगों के घर बहुधा लकड़ी तथा ईंटों से बनाए जाते थे।<sup>8</sup> विनय पिटक<sup>9</sup> में पत्थरों से भवन निर्माण करने वालों की कला पर विशेष प्रकाश डाला गया है। भवन के अंदर तथा बाहर अच्छे प्रकार के चूने से सफेदी की जाती थी तथा दीवारों को सुन्दर भित्ति चित्रों से सजाया जाता था। बड़े भवनों में एक लंबा-चौड़ा प्रवेश द्वार होता था जिसकी दाईं ओर कोष तथा बाईं ओर अन्न भण्डार होता था। इस प्रवेश द्वार से सीधे अंदर के आंगन तक पहुंचते थे। आंगन के चारों ओर कमरे बने होते थे।



26. वही, पृ. 121.
27. बौधायन श्रौत सूत्र-3 (बौद्ध भारत, पृ. 121 पर रिस डेविड्स द्वारा उद्धृत).
28. रिस डेविड्स, वही, पृ. 121-122.
29. वही.
30. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत, पृ. 123.
31. संयुक्त निकाय, 2/49; अंगुत्तर निकाय, 1/144/; 2/45; 3/45; 3/399; 4/63.
32. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत, पृ. 122-24.
33. चुल्लवग्ग (11), दीपवंश (4) तथा महावंश (3) के अनुसार बुद्ध निर्वाण के तत्काल पश्चात् सप्तपर्णी गुहा में पांच सौ भिक्षुओं ने एकत्र होकर महाकस्सप के सभापतित्व में विनय तथा धर्म के सूत्रों का संकलन किया.
34. चुल्लवग्ग, 12; दीपवंश, 4-5.
35. मदनमोहन सिंह, वही, पृ. 2.
36. चुल्लवग्ग, 13/1/1.
37. वही.
38. सै. बु. ई., भाग 13, भूमिका, पृ. 36.
39. चिटरनिट्स, ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर, 2, पृ. 2-03, 10-11.
40. वही.
41. चुल्लवग्ग, 4/4/4.
42. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत (हिंदी), पृ. 115
43. मदनमोहन सिंह, बुद्धकालीन समाज और धर्म, पृ. 5.
44. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत, पृ. 138.
45. वही, पृ. 139-140.
46. कनिंघम, 'स्तूप आफ भरहुत' (बौद्ध भारत, पृ. 140 पर रिसडेविड्स द्वारा उद्धृत).
47. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत, पृ. 141.
48. रिस डेविड्स, द लास्ट टु गो फोर्थ (ज. रा. ए. सो., 1902).
49. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत, पृ. 142.
50. बुद्ध वर्ध स्टीरीज़ और साथ ही 'डायलाग्स आफ बुद्ध', भाग 1, 17 में दी गई टिप्पणी.
51. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत, पृ. 142.
52. रिचर्ड फिक्, 'Sociale Gliderring is nordostlichen Indin Zu Buddha's Zait), पृ. 6-7; (बौद्ध भारत, पृ. 143 पर रिस डेविड्स द्वारा उद्धृत).
53. जार्ज व्यूलर, इंडियन स्टडीज़ (वियना, 1895), संख्या 5.
54. रिस डेविड्स, बौद्ध भारत, पृ. 145.
55. सेनार्ट का अभिसंबुद्ध गाथा पर लेख (ज. ए. सो., 1902).

वैशाली की महत्वपूर्ण भौगोलिक स्थिति का वर्णन एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों का वर्णन पूर्ववर्ती अध्यायों में किया जा चुका है। लिच्छवियों की कला के विकास की पृष्ठभूमि में वैशाली की स्थिति, सांस्कृतिक उपलब्धियों तथा राजनीतिक संबंधों का महत्वपूर्ण हाथ होना स्वाभाविक है। आश्चर्य नहीं कि इस समृद्ध प्रदेश में वस्तु, शिल्प, चित्र, कांस्यप्रतिमा, मृण्यमयीप्रतिमा, मृदभाजन, दंतकर्म, काष्ठकर्म, मणिकर्म, स्वर्ण-रजतकर्म आदि के रूप में भारतीय कला की सामग्री प्रभूत मात्रा में पाई गई।

### भवन व नगर निर्माण कला

एक पण्ण जातक<sup>1</sup> से पता चलता है कि वैशाली को तीन प्राकारों से घेरकर सुरक्षित किया गया था। दो प्रकार के मध्य की दूरी गव्यूत थी। प्राकारों (परकोटे) में कई बुर्ज बने थे। इन बुर्जों पर सैन्य दल<sup>2</sup> पहरा दिया करता था। नगर में प्रवेश के लिए बड़े-बड़े प्रवेश द्वार<sup>3</sup> थे जो रात्रि के समय बंद रहते थे। प्रवेश व निकास<sup>4</sup> निषिद्ध था। इस प्रकार वैशाली नगर निर्माण का एक उत्कृष्ट नमूना था।

वैशाली नगरी का आंतरिक निर्माण पर्याप्त व्यवस्थित ढंग से किया गया था। महावग्ग<sup>5</sup> के अनुसार सात हजार सात सौ सात अनेक भूमिक भवन, उतने ही गुम्बदनुमा भवन, उतने ही आराम तथा उतने ही कमल सरोवर थे। तिब्बती दुल्व<sup>6</sup> के अनुसार वैशाली तीन भागों में विभाजित थी जिसके प्रथम भाग में सात हजार स्वर्ण कलश वाले, मध्य में चौदह हजार रजत कलश वाले तथा अंतिम भाग में इक्कीस हजार ताम्र कलश वाले भवन थे। ये स्तर के अनुसार उच्च, मध्यम व निम्न वर्ग के रहने के लिए होते थे।<sup>7</sup> इसके अतिरिक्त साधारण लोगों के घर बहुधा लकड़ी तथा ईंटों से बनाए जाते थे।<sup>8</sup> विनय पिटक<sup>9</sup> में पत्थरों से भवन निर्माण करने वालों की कला पर विशेष प्रकाश डाला गया है। भवन के अंदर तथा बाहर अच्छे प्रकार के चूने से सफेदी की जाती थी तथा दीवारों को सुन्दर भित्ति चित्रों से सजाया जाता था। बड़े भवनों में एक लंबा-चौड़ा प्रवेश द्वार होता था जिसकी दाईं ओर कोष तथा बाईं ओर अन्न भण्डार होता था। इस प्रवेश द्वार से सीधे अंदर के आंगन तक पहुंचते थे। आंगन के चारों ओर कमरे बने होते थे।

इन कमरों के ऊपर समतल छत होती थी जिसे 'उपरिपासाद-तल' कहते थे जहाँ प्रायः मण्डप के नीचे गृहस्वामी बैठा करता था। विनय पिटक<sup>10</sup> में गर्म पानी से स्नान करने की व्यवस्था वाले स्नानागार का भी उल्लेख मिलता है जिसे पढ़कर रिस डेविड्स<sup>11</sup> चकित रह गए थे। यह स्नानागार ईंट या पत्थर के बने एक चबूतरे पर बनाया जाता था जिसमें ऊपर जाने के लिए पत्थर की सीढ़ियाँ होती थीं और बरामदे के चारों ओर बारजा (रेलिंग) बना होता था। इसकी छत और दीवारें लकड़ी की होती थीं। उस पर खाल (छिलका) चढ़ा होता था, और बाद में पलस्तर चढ़ा दिया जाता था। दीवार के केवल निचले भाग में ईंट लगाई जाती थी। अंदर एक कमरा, एक तप्त-कक्ष (गर्मकक्ष) और एक जलाशय स्नान के निमित्त होता था। तप्त-कक्ष के मध्य में अग्नि रहती थी जिसके चारों ओर बैठने का प्रबंध होता था। स्नान के पूर्व वे अपने शरीर में पसीना पैदा करते थे, फिर गर्म पानी से स्नान करते थे। दीघनिकाय<sup>12</sup> में एक खुले मैदान में बने एक ऐसे जलाशय का उल्लेख है जिसमें पानी तक नीचे उतरने के लिए सीढ़ियाँ बनी थीं। ये सीढ़ियाँ पूर्णतया पत्थरों से बनाई गई थीं जिसके दोनों ओर पत्थर की छोटी दीवार भी बनी होती थी। इन दीवारों पर फूलपत्ती आदि उत्कीर्ण थे। यद्यपि इनका अस्तित्व वैशाली के उत्खनन में नहीं मिला है, परंतु वैशाली के लिच्छवियों ने ऐसे जलाशयों का निर्माण अवश्य कराया होगा।

ग्रामों में घर प्रायः मिट्टी तथा छप्परों के बने होते थे जिन्हें झोंपड़ी कहते थे। झोंपड़ियों के चारों ओर खेत हुआ करते थे। झोंपड़ियाँ प्रायः सटी हुई होती थीं। बीच में संकरी गलियाँ होती थीं।<sup>13</sup>

इस प्रकार वैशाली नगरी तथा वैशाली क्षेत्र के गांव काफी सुव्यवस्थित ढंग से बने थे।

वैशाली के लिच्छवि के भवन पर्याप्त उत्कृष्ट कोटि के होते थे, इसका अनुमान ऊपर के विवरण से लगाया जा सकता है। भवन-निर्माण की कला बौद्ध भिक्षुओं में भी काफी उत्कृष्ट थी। चुल्ल वग्ग<sup>14</sup> में एक भिक्षु द्वारा भवन निर्माण का निरीक्षण करते हुए दर्शाया गया है। इसी तरह वत्थु विज्जाचारी<sup>15</sup> उन्हें कहते थे जो भवन निर्माण के लिए स्थानों का निरीक्षण करते थे। इस तरह लिच्छवि अनेक भूमिक भवनों, स्तंभों, चैत्य, विहार और मंदिरों के निर्माणकर्ता थे। महालि नामक<sup>16</sup> लिच्छवि शिल्प या कला की शिक्षा लेने के लिए तक्षशिला<sup>17</sup> गया था। वहाँ से शिल्प का ज्ञान प्राप्त कर उसने वैशाली के पांच सौ लिच्छवि युवकों को शिल्प की शिक्षा दी।

## कूटागार तथा चैत्य कला

वैशाली के पास महावन में एक कूटागार का उल्लेख बौद्ध ग्रंथों में मिलता है। कूटागार शब्द का अभिप्राय उस मण्डप से था जिसके ऊपर स्तूपका युक्त ऊंची छत लगाई जाती थी,<sup>18</sup> फाह्यान ने इसे दो गलियारे वाला विहार कहा है और यह देखने में



विमान सदृश्य था।<sup>19</sup>

वैशाली में अनेक सुंदर चैत्य थे। इन चैत्यों की रमणीयता की भगवान बुद्ध मुक्त कंठ से प्रशंसा किया करते थे, और इस स्थानों को छोड़ने का उनका मन नहीं करता था।<sup>20</sup>

भगवान बुद्ध अंतिम बार वैशाली छोड़ते समय सारंदद चैत्य, चापाल चैत्य, बहुपुत्रक चैत्य, उदेन चैत्य, गोतमक चैत्य, सप्तांबक चैत्य आदि में अंतिम बार विहार किया था।<sup>21</sup> इन चैत्यों की बनावट के विषय में कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। विद्वानों का मत है कि उद्यान पुष्करिणी सहित देव स्थान थे जिसमें सेवकों आदि के रहने के लिए चारों ओर कमरे भी बने होते थे।<sup>22</sup> संभवतः चैत्य को बारजा (रेलिंग) से घेरा जाता था। कुछ आहत मुद्राओं (पंचमार्क) पर बारजा के अंदर वृक्ष चित्रित हैं।<sup>23</sup> बहुत संभव है बारजा चैत्यों के निर्माण में लकड़ी का ही अधिक प्रयोग होता हो।<sup>24</sup> लकड़ी पर काम करने की कला का उचित विकास हुआ। बाद में उन्हीं बारजों पर स्थापत्यकला पूर्ण रूप से पल्लवित हुई। जब चैत्यों की रेलिंग और स्तूप पत्थर के बनने लगे तब लकड़ी पर की गई कला की अनुकृति पत्थर पर की जाने लगी।<sup>25</sup>

## स्तूप तथा स्तंभ

वैशाली के लिच्छवियों ने भगवान बुद्ध के अस्थि अवशेष पर एक स्तूप बनवाया था। इस स्तूप का वर्णन चीनी यात्री फाह्यान व ह्वेनत्सांग ने किया है।<sup>26</sup> ह्वेनत्सांग के विवरण के आधार पर मार्च 1958 में अल्तेकर महोदय ने इस स्तूप को खोज लिया।<sup>27</sup> यह स्तूप एक मिट्टी के टीले के नीचे दबा हुआ था। यह स्तूप पक्की ईंटों से बना सादा स्तूप है। स्तूप के अंदर में वह पात्र भी निकला है जिसमें भगवान बुद्ध की अस्थि अवशेष सुरक्षित है। यह पात्र पक्की मिट्टी के कुंभ सदृश्य है।

भगवान बुद्ध के प्रिय शिष्य आनंद के अर्धांग के अवशेष पर बना एक अन्य स्तूप भी वैशाली कोल्हुआ (बखिरा) गांव में अशोक निर्मित सिंह शीर्षक युक्त स्तंभ के समीप स्थित है।<sup>28</sup> यह भी पक्की ईंटों से बना सादा स्तूप है। इस स्तूप के ऊपर बाद में कभी स्थापित की गई एक भगवान बुद्ध की मुकुटधारी मूर्ति थी जो अब वैशाली संग्रहालय में सुरक्षित है। ह्वेनत्सांग ने द्वितीय बौद्ध संगीत के स्मारक स्तूप के निकट श्वेत विहार का वर्णन किया है जिसमें सम्मतीय संस्था के अनुसार हीनयान संप्रदाय के अनुयायी रहते थे। इस श्वेत विहार में चमकीले रंगों से सुशोभित बड़े-बड़े कमरे थे।<sup>29</sup>

मौर्यकालीन कला के उत्कृष्ट नमूनों में अशोक के समय के शिला स्तंभ हैं जिसके शिरोभाग और पाषाण मूर्तियां अतुलनीय हैं। वैशाली में कोल्हुआ (बखिरा गांव) के पास एक सिंह-युक्त स्तंभ आज भी सुरक्षित खड़ा है। यह अशोक निर्मित स्तूप के समीप स्थित है। मौर्यकालीन स्तंभों में काल की दृष्टि से यह प्रथम प्रयास का नमूना है। इस पर कोई अभिलेख नहीं है।<sup>30</sup> यह स्तंभ देखने में अन्य स्तंभों की तुलना में तनिक

भद्दा सा लगता है। यह छत्तीस फुट लंबा है और नीचे से ऊपर की ओर मोटाई कम होती गई है। अन्य स्तंभों में यह अंतर बहुत कम है, इसलिए वे आकर्षक हैं। पर इस स्तंभ के नीचे का व्यास चार फुट दो इंच है और ऊपर तीन फुट एक इंच। उल्टे कमल के शिरोभाग पर दीर्घाकार चबूतरा है। यह चबूतरा आवश्यकता से अधिक बड़ा और भारी ज्ञात होता है, जो कलात्मक कमल से मेल नहीं खाता है। बाद में बनने वाले स्तंभों के चबूतरे वृत्ताकार हैं। इस भारी भरकम चबूतरे पर सिंह पीछे के पांवों को मोड़कर बैठा है जबकि उसका अधोभाग चबूतरे पर कठिनाई से उचित स्थान पा सका है। उसके आगे चबूतरे का एक हिस्सा खाली पड़ा है। सिंह के आयल की तरंगमय रेखाएं भी मोटी हैं। सिंह के प्रभावोत्पादक शरीर का चित्रण तो ठीक हुआ है परंतु मूर्ति में गतिशीलता या स्फूर्ति का अभाव है। किंतु विकसित कमल की पंखुड़ियां बहुत सुंदर और सावधानी से उत्कीर्ण की गई हैं।<sup>31</sup>

लिच्छवि युवकों की सुरुचिपूर्ण एवं सुंदर वेश-भूषा का वर्णन किया जा चुका है। वे अपने को स्वर्ण, मणि तथा बहुमूल्य पत्थरों से सजाने के अतिरिक्त अपने घरों, हाथियों तथा पालकियों को भी सुंदर ढंग से सजाते थे।<sup>32</sup> नगर विकास के साथ-साथ कलात्मक वस्तुओं की मांग में भी वृद्धि हुई। सुंदर कालीन, मलमल, ऊनी कंबल, रेशमी वस्त्र तथा रोएंदार महीन ऊन का कंबल, चादरें तथा दरी आदि की मांग में वृद्धि हुई।<sup>33</sup> दीघ निकाय (1/7) में उल्लेख है कि बुनकर लोग निर्यात के लिए महीन मलमल, कलात्मक कपड़े तथा जानवरों के वालों की लोई, कंबल तथा कालीन आदि बनाते थे। बनारस इस कलात्मक वस्तुओं के निर्माण का प्रमुख केंद्र था।

उपर्युक्त वस्तुओं का निर्माण करने वाले शिल्पकारों की सूची दीघ निकाय में मिलती है। यथा, कुंभकार, नडकार, पेशकार (बुनाई-कढ़ाई का काम करने वाले) रजक, मालाकार, कप्पक, चेलक, धनुग्गह, रबिक आदि बड़े शिल्पों की सूची (पृथुसिप्प्यायान) में है। (सामंजलफल सुत, 14)। ब्रह्मजाल सुत में इससे भी बड़ी सूची है—नध्वगीत, वादित्त, मालागंध विलेवन, तुलामान (नापतौल के बट्टे), कंस (कांसे के बर्तन), दीघ दस वथ्य (चौड़ी किनारी के वस्त्र), उसु (इषु, बाण), लक्खण, धनु-लक्खण, आयुध-लक्खण। विशेष विद्याएं जैसे वत्थुविग्जा (वास्तु विद्या), खेत विज्ज (क्षेत्र मापन), वत्थुकंम (वास्तुकर्म), वत्थु परिकंम (वास्तु-परिकर्म)।<sup>34</sup>

वैशाली के उत्खनन में इनमें से बहुत-सी वस्तुएं मिली हैं जो इस क्षेत्र की विकास की कहानी प्रस्तुत करती हैं। इनका क्रम से विवरण नीचे दिया जा रहा है :—

मिट्टी के बर्तन : वैशाली उत्खनन में प्रारंभिक काल के मिट्टी के बर्तन मिले हैं वे साधारणतया सादे हैं जिनकी परिसज्जा (फिनिशिंग) श्वेत, सुनहरे, काले, नीले तथा गुलाबी रंग से की गई है। इस तरह (नार्दन ब्लैक पालिश) के बर्तनों से तश्तरियां और कटोरे हैं।<sup>35</sup> मौर्यकाल में भी ऐसे ही बर्तनों का अधिक उपयोग होता था। मौर्यकालीन बर्तनों में इन बर्तनों के अतिरिक्त कुछ बर्तन काले और लाल भी हैं। इस



तरह के बर्तनों में तश्तरी, घड़ा तथा विभिन्न आकार के कटोरे हैं। ये सभी बर्तन सादे हैं। इनमें किसी विशेष कला का प्रयोग नहीं किया गया है। ये सभी बर्तन 500 ई. पू. से 150 ई. पू. के हैं।<sup>36</sup> ई. पू. 500 से 300 ई. पू. के कुछ बर्तनों के टुकड़ों पर कलात्मक चित्र खुदे हुए हैं। इस पर सूर्य, चक्र व पत्ती आदि अंकित हैं। ये देखने में सुंदर लगते हैं।<sup>37</sup> इनके अतिरिक्त मिट्टी के बर्तनों के तीन टुकड़े संतरे या काले रंग से रंगे हुए भी मिले हैं।<sup>38</sup>

**मृण्मय मूर्तियाँ :** भारतीय कला में मृण्मय मूर्तियों का महत्वपूर्ण स्थान है। बौद्ध साहित्य (भद्रसाल जा) में मृण्मयी मूर्तियों का उल्लेख हुआ है। जातक में लिखा है कि राजकुमार को ननिहाल की ओर से हाथी-घोड़े और अन्य खिलौने खेलने के लिए दिए जाते थे।<sup>39</sup>

सबसे प्राचीन मिट्टी के खिलौने लगभग 2500 ई. पू. के काल के मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा के उत्खनन में मिले हैं जो हाथ से डौलिया कर बनाए गए हैं, अर्थात् उनके निर्माण में साँचों का प्रयोग नहीं हुआ है। उनके वर्ण्य विषय थे : स्त्री मूर्तियाँ जो मातृदेवी की हैं तथा पशु-पक्षियों के रूप की। मातृदेवी की मूर्तियों की यह परंपरा सिंधु युग के बाद भी प्रचलित रही। वैशाली में भी मौर्ययुगीन तथा शुंगकालीन जो नारी प्रतिमा मिली हैं, वे इसी परंपरा की मातृदेवी की प्रतिमा हैं।<sup>40</sup>

मौर्ययुगीन तक साँचे का प्रयोग नहीं हुआ था। साँचे में ढली मूर्तियाँ सर्वप्रथम शुंगकाल में मिलती हैं, इस काल में साँचों का प्रयोग किया जाने लगा था। साँचों को 'संचक' या 'मातृक' भी कहते हैं। साँचों से अनेक नमूने तैयार किए जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले मूल 'मातृका' साँचा कुशल कलाकार तैयार करता था, तब उसमें कमाई हुई मिट्टी को भरकर दबाने से इच्छानुसार ढार तैयार कर लिए जाते थे।<sup>41</sup>

वैशाली के उत्खनन में जो मातृदेवी की मृण्मयी मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें से एक पूर्ण रूप से हाथ से गढ़ी गई है। यह मृण्मयी मूर्ति काफी सुंदर है तथा गांधार की मातृदेवी की मूर्तियों से मिलती-जुलती है। इस मातृदेवी की प्रतिमा का चेहरा पक्षी की तरह है। यह विशाल वक्ष, चौड़े नितंब, गवदुम भुजाएं व पांवों से युक्त है। गले में ठप्पेदार कंठी व हार तथा कमर में कमरबंद पहने हुए है।<sup>42</sup>

इसके अतिरिक्त वैशाली के उत्खनन में आठ प्रकार की अन्य मृण्मय मूर्तियाँ मिली हैं। ये हाथ से डौलिया कर बनाई गई हैं, केवल इनका मस्तक और घड़ साँचे से बनाकर जोड़े गए हैं। यह अलंकृत हैं इनमें एक प्रतिमा की पतली भुजाएं, आकृति पक्षी की भांति, चौकोर तथा उसमें कान चौकन्ने हैं। नाक नीचे ढाल की तरह गिरती हुई तथा नीचे दो छिद्र हैं। आँखें सुंदर लगती हैं। आभूषणों में कंठी व हार गले में पहनी है। इस मृण्मयी मूर्ति का रंग लाल तथा ऊँचाई 2.5" है। शैली की दृष्टि से प्रतिमा शुंगकालीन है।<sup>43</sup>



सांचे में ढली मृण्मयी मूर्तियां : वैशाली के उत्खनन में सांचे से ढली सात प्रकार की मृण्मयी मूर्तियां (मानव आकृतियां) मिली हैं। इनमें से प्रथम आकृति (वै. इक्वे, प्लेट 13 का चित्र 1) एक मातृदेवी की है जो उत्कृष्ट कला का नमूना है। इसके सिर पर त्रिकोणाकार जूड़े हैं जो जटिल फूलों से सुसज्जित हैं। दोनों तरफ की चोटियों में फूलों की आकृति बनाने का बारीक काम किया गया है। गले में मोतियों की लड़ी से बना हार, कानों में मोतियों के बने कर्णफूल भी हैं। शैली की दृष्टि से यह शुंगकालीन है।<sup>44</sup>

एक अन्य महत्वपूर्ण प्रतिमा एक पुरुष शीर्ष है जिसके सिर पर पांच सर्पफण बने हुए हैं। दोनों कानों में पत्र कुण्डल हैं। मुख की अभिव्यक्ति गोलाकार एवं चपटी है। इस प्रकार की मृण्मयी मूर्तियां तामकुल एवं कौसांबी में भी प्राप्त हुई हैं।<sup>45</sup>

वैशाली से प्राप्त एक टिकरे पर (5.5 इंच ऊंची) एक मूर्ति कमलवन में खड़ी हुई है। दोनों हाथों में कमल लिये हैं। उसके दोनों कंधों पर दो पंख हैं। स्तन पुरुष मूर्तियों की भांति चपटे हैं। कानों में गोल कुंडल, गले में कंठी, हाथों में कटकावली, कलाई में पहुंची जिनमें मोतियों के झुगे लगे हैं, चौड़ी करधनी और पांवों में नूपुर इसके आभूषण हैं। प्रतिमा लक्षण की दृष्टि से यह सपक्ष लक्ष्मी की अनुपम मूर्ति है। कमल श्री लक्ष्मी के साथ इसकी पहचान का संकेत देते हैं। ग्रंथों में सपक्ष षष्ठी का उल्लेख आता है और संभव है उसी ढंग पर सपक्ष श्री लक्ष्मी की कल्पना भी की गई हो। कामदेव की अनेक मृण्मयी मूर्तियां सपक्ष हैं। इनसे ही इस मूर्ति का संबंध ज्ञात होता है। दोनों बाहुकक्षों में नीचे दो छोटे छिद्र हैं जिनमें धागा पिरोकर भीत पर लटकाई जाती है।<sup>46</sup>

वैशाली में प्राप्त मृण्मयी मूर्तियों पर विदेशी प्रभाव दिखाई पड़ता है। शैली की दृष्टि से गांधार व मथुरा शैली की मूर्तियां हैं।

पशु आकृतियों के खिलौने : वैशाली के उत्खनन में पहिए वाले पक्की मिट्टी के खिलौने मिले हैं जो भारत के अन्य स्थानों पाटलिपुत्र, सोनपुर तथा कौसांबी में भी मिले हैं। इन खिलौनों के कुछ पहिए सादे तथा कुछ अलंकृत हैं। इसके अतिरिक्त बैल, कुत्ता, हाथी, घोड़ा, बकरा तथा सर्पफण भी मिले हैं। ये खिलौने मौर्य तथा शुंग काल के हैं। खिलौने के ऊपर ठप्पे से दाबकर चक्र, पत्ती आदि भी बनी हुई हैं जिनसे इनका आकर्षण बढ़ जाता है।<sup>47</sup>

इस प्रकार वैशाली के संबंध में साहित्यिक विवरणों तथा उत्खनन में प्राप्त बर्तनों, मृण्मयी मूर्तियों तथा पशु आकृतियों से भारतीय कला के विकास में वैशाली के योगदान के इतिहास का ज्ञान होता है।

## संदर्भ तथा टिप्पणियां

1. एकपण्ण जा. (149); लोमहंस जा. (94).
2. मैत्री, इको. लाइफ नार्दन इंडिया (कलकत्ता, 1957), पृ. 223.
3. वही.
4. वही.
5. महावग्ग (बुद्धिष्ट सीरीज़, भाग 17), पृ. 191.
6. रॉक हिल, वही, पृ. 62; इ. हिष्ट क्वा, भाग 23, पृ. 58.
7. गिल्लित मैन्यू (भाग 3, खंड 2, पृ. 6) में इसी प्रकार का विवरण मिलता है.
8. बुद्धिष्ट इंडिया, पृ. 34; वैशाली इक्वे. (1950), पृ. 14 ; उत्खनन में ईंटों का प्रयोग मिलता है जिसे एक दीवार में उपयोग किया गया था. अल्तेकर का मत है कि यह संभवतः शुंग काल के हैं (आ. स. इ. ए. रि. 1958-59, पृ. 12) इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि पूर्व में भी ईंटों के प्रयोग से परिचित रहे होंगे.
9. विनय पिटक, 3/170-72; 2/67; 4/47.
10. विनय पिटक, 3/105-110, 297.
11. रिस डेविड्स, बु. इंडिया, पृ. 35.
12. वही, पृ. 23.
13. सै. बु. ई., पृ. 262 और आगे; बौद्ध भारत (हिंदी), पृ. 57.
14. सै. बु. ई., भाग 22. पृ. 189-90.
15. तक्क जा. (23); सुरुचि जा. (489).
16. फाउसवाल, धम्मपद (पुराना संस्करण), पृ. 111.
17. अल्तेकर, एजुकेशन इन एशिएंट इंडिया (वाराणसी, 1959), पृ. 106-113 : तक्षशिला में तीनों वेद, व्याकरण, दर्शन और शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी. इन अद्वारह शिल्पों के अंतर्गत संगीत, नाच तथा पेंटिंग (चित्रकला) की भी शिक्षा दी जाती थी.
18. वासुदेवशरण अग्रवाल, भारतीय कला (वाराणसी, 1966), पृ. 84.
19. लेग्ग, फाह्यान, पृ. 72, 75-77; ला, क्षत्रिय क्लान्स, पृ. 52-53.
20. डायलाग्स, भाग 2, पृ. 110.
21. वही.
22. राहुल सांकृत्यायन, वै. अभि. ग्रं., पृ. 45.
23. विध्येश्वरप्रसाद सिंह, भारतीय कला को बिहार की देन, पृ. 45.
24. वही.
25. वही.
26. बोल, बुद्धिष्ट रिकार्ड, भाग 2, पृ. 66-67; तीर्थकर महावीर, पृ. 77.
27. वैशाली इक्वे. (वैशाली, 1961), 1950, पृ. 2; ज. वि. रि. सो. भाग 2, पृ. 501-511; यह स्तूप सर्वप्रथम अशोक द्वारा खोला गया था, और इसमें रखे अस्थि अवशेष के भाग का 9/10 अंश निकाला व 1/10 अंश पुनः रख दिया गया था (योगेंद्र मिश्र, वैशाली, पृ. 193), संभवतः इसे पुनः पक्की ईंटों से तैयार किया गया.
28. द्रष्टव्य, प्रथम अध्याय, टिप्पणी 168.
29. वाटर, ह्वेनत्सांग, भाग 2, पृ. 79.
30. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला, पृ. 129-30.

31. विन्ध्येश्वर प्रसाद सिंह, भा. कला को बिहार की देन, पृ. 57-58.
32. द्रष्टव्य, सामाजिक इतिहास; वैशाली के उत्खनन में पक्की मिट्टी से बने आभूषण, हाथी दांत की बनी अंगूठी, पासा तथा हड्डी से बनी वस्तुएं मिली हैं, जो मौर्य तथा शुंगकालीन हैं (वैशाली इक्व., पृ. 57-58).
33. द्रष्टव्य, आर्थिक दशा.
34. वासुदेव शरण अग्रवाल, वही, पृ. 78 तथा आर्थिक दशा का अध्याय देखिए.
35. वै. इक्वे., पृ. 16-68.
36. वही.
37. वही, पृ. 48.
38. वही, पृ. 49.
39. वासुदेव शरण अग्रवाल, वही, पृ. 375.
40. वही, पृ. 377.
41. वही, पृ.
42. वै. इक्वे., पृ. 50 तथा प्लेट 12 का चित्र 1 देखिए.
43. वही, पृ. 50 तथा प्लेट 12 का चित्र 2 देखिए.
44. वै. इक्वे., पृ. 52, चित्र 1.
45. वही, पृ. 53 तथा प्लेट 14 का ब 2 देखिए.
46. वासुदेव शरण अग्रवाल, वही, पृ. 378 तथा पृ. 379 पर चित्र 439 देखिए.
47. वै. इक्वे., पृ. 54-55 तथा प्लेट 16 व 17 देखिए.



परिशिष्ट



## नेपाल का लिच्छवि राजवंश

नेपाल का प्रारम्भिक इतिहास जानने का स्रोत नेपाल की 'वंशावलियाँ' हैं। किन्तु उनकी विश्वसनीयता अत्यन्त संदिग्ध है। अतः प्रारम्भिक इतिहास-संरचना में नेपाल के अभिलेखों को आधार बनाना अधिक समीचीन है।

नेपाल के अभिलेखों में आठवीं शती के राजा जयदेव द्वितीय की पशुपतिनाथ-प्रशस्ति<sup>1</sup> लिच्छवियों के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालने वाला महत्वपूर्ण अभिलेख है। यह अभिलेख जयदेव द्वितीय के आदि पुरुषों के विषय में जानकारी देता है। प्रशस्ति में उल्लेख है कि लिच्छवि नामधारी सुप्रथित कुल इस अभिलेख के लिखे जाने के समय भी विद्यमान है। अभिलेख के छठे श्लोक में उल्लेख है कि आदि पुरुष लिच्छवि के कुछ सन्तति उपरान्त सुपुष्प नामक राजा पुष्पपुर (= पाटलिपुत्र ?) में उत्पन्न हुआ था। उसके उपरान्त 23 राजाओं के शासन कर लेने के पश्चात् (इन राजाओं के नाम एवं विवरण अभिलेख में मिट गये हैं) प्रथम जयदेव नामक प्रख्यात राजा आविर्भूत हुआ (श्लोक 6)।

वास्तव में, जयदेव प्रथम के पूर्व लिच्छवियों का इतिहास अन्धकारमय है। जयदेव प्रथम काठमाण्डु घाटी के एक छोटे से भाग का राजा था। इस जयदेव प्रथम की ऐतिहासिकता पर सन्देह नहीं किया जा सकता है, क्योंकि इस अभिलेख के अतिरिक्त मानदेव के अभिलेख<sup>2</sup> में भी जयदेव प्रथम का उल्लेख हुआ है। सम्भवतः यही वह प्रथम राजा है जिसने नेपाल में लिच्छवि राज्य की नींव डाली थी। लेकिन इस राजा पर थोड़ा प्रकाश मिलने के अतिरिक्त उसके विषय में कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती है। जयदेव प्रथम के बाद फिर 12 राजाओं ने शासन किया।<sup>3</sup> लेकिन उनके भी नामों का उल्लेख अभिलेख में नहीं हुआ है। तत्पश्चात् वृषदेव, शंकरदेव, धर्मदेव, प्रथम मानदेव तथा महीदेव ने क्रमशः शासन किया (श्लोक 10)।

## लिच्छवि वंश की प्रथम ज्ञात तिथियाँ

नेपाल के लिच्छवि वंश के राजाओं में मानदेव प्रथम राजा हैं जिसके संवत् 389<sup>4</sup> से 427 तक तिथि के अभिलेख उपलब्ध हैं। उसके चांगु नारायण मन्दिर के 389 तिथि के अभिलेख में उसके प्रपितामह वृषदेव, पितामह शंकरदेव और पिता धर्मदेव का उल्लेख है। नेपाली वंशावलियों में भी ये राजा इसी क्रम से मिलते हैं। इसलिए वृषदेव से मानदेव तक के इस राजक्रम को प्रशनातीत तथ्य माना जाता है।



इस तरह प्रथम मानदेव की तिथि नेपाली इतिहास में आधारभूत तिथि है। प्रथम मानदेव के शासनकाल के पूर्व किसी अन्य राजा के काल की किसी भी घटना की निश्चित तिथि नहीं बतायी जा सकती है।

प्रथम मानदेव के अभिलेखों में जिन तिथियों का उल्लेख मिलता है, वह कौन-सा संवत् है, इस पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। इन्द्र जीला तथा राधा गोविन्द वसाक ने इस संवत् की पहचान विक्रमी संवत् से की है।<sup>5</sup> फ्लीट और काशीप्रसाद जायसवाल के मत में यह गुप्त संवत् है।<sup>6</sup> लेवी के अनुसार इस संवत् का प्रारम्भ लिच्छवियों ने किरातों को सत्ता से हटाने के पश्चात् 110 ई. में किया था।<sup>7</sup>

लेकिन इन विद्वानों निष्कर्ष कई कोणों से नेपाली इतिहास को क्रमबद्ध करने में कठिनाई उत्पन्न करते हैं। इस समस्या पर गहन अध्ययन करने के पश्चात् रमेशचन्द्र मजूमदार, वी.सी. शर्मा तथा दिल्ली रमण रेग्मी ने उसे 78 ई. में आरम्भ होने वाला शक संवत् प्रमाणित किया है जो उचित प्रतीत होता है क्योंकि इसे शक संवत् स्वीकार कर लेने पर इतिहास को क्रमबद्ध करने पर कठिनाई नहीं होती है।<sup>8</sup>

इस आधार पर गणना करने पर (यदि जयदेव के पूर्व लिच्छवि राजाओं का औसत शासन काल 20 वर्ष मान लें तो) जयदेव के पिता धर्मदेव ने स्थूलतः शक सं. 369—389 (=447—467 ई.), पितामह शंकरदेव ने शक सं. 349—369 (=427—447) और प्रपितामह वृषदेव ने शक सं. 329—389 (=407—427 ई.) शासन किया।

वृषदेव के पूर्व लिच्छवि राजाओं का इतिहास जानने में पशुपतिनाथ प्रशस्ति कोई विशेष सहायता नहीं करता है। इस अभिलेख में उल्लिखित है कि प्रथम जयदेव और वृषदेव के मध्य 12 राजाओं तथा सुपुष्प तथा प्रथम जयदेव के मध्य 23 राजाओं ने शासन किया। किन्तु अन्य साक्ष्य इस कथन की पुष्टि नहीं करते हैं। 8वीं शती के प्रशस्तिकार ने संभवतः यह जानकारी 'वंशावलियों' के सदृश किन्हीं अन्य ग्रन्थों से ली होगी अथवा उस समय उपलब्ध राजकीय अभिलेखों से ली होगी। यदि इनमें प्रथम विकल्प सही है तो वृषदेव के पूर्व राजाओं का इतिहास जानना दुष्कर है। फिर भी पशुपतिनाथ प्रशस्ति में प्रथम जयदेव का जिस प्रकार उल्लेख है और जिसकी पुष्टि मानदेव के 388 तिथि के चांगुनारायण मन्दिर अभिलेख से भी होती है, उससे यह निश्चित हो जाता है कि वह प्रथम ऐतिहासिक राजा था।

### वृषदेव (407—427 ई.)

वृषदेव के समय से नेपाली इतिहास से अन्धकार का आवरण हटना प्रारम्भ होता है। उसके राज्यारोहण से लेकर वसन्तदेव तक का नेपाल का इतिहास लगभग सुनिश्चित है। इस युग में नेपाल भारतीय संस्कृति की प्रमुख धारा से पूर्ववत् घनिष्ठतः जुड़ा रहा है। वस्तुतः गुप्त साम्राज्य के हास के कारण नेपाली राजाओं के सम्मुख अपनी शक्ति

वढ़ाने का अवसर उपस्थित हुआ। यह तथ्य ही इस युग के नेपाली इतिहास के नियामक सूत्र हैं।

पशुपतिनाथ प्रशस्ति के अनुसार वृषदेव एक निष्ठावान बौद्ध (सुगत शासन पक्षापाती) था।<sup>9</sup> वंशावलियों के अनुसार उसने अनेक विहार तथा लोकेश्वर पद्मपाणि की प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी।<sup>10</sup> वह युद्ध कार्यों से अलग रहकर शान्त तथा अनुशासित जीवन व्यतीत करने वाला विद्वान् राजा था।<sup>11</sup> उसके विषय में इस तरह के विचार प्रशस्तिकार द्वारा व्यक्त होने के कारण आभास मिलता है कि वह कोई महान् राजा नहीं था। उसने केवल अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार में प्राप्त राज्य को सुरक्षित रखा था।

### शंकरदेव (427—447 ई.)

मानदेव के चांगुनारायण मंदिर अभिलेख के अनुसार वृषदेव के कई विद्वान्, गर्वीले वीरतापूर्ण कार्यों में कुशल, और मनस्वी पुत्र (सुतैर्तिवद्वदिभव्यर्वितैर चपलैः ख्यातैर्विनीतात्यभिः) थे। उनमें से शंकरदेव सिंहासन पर बैठा। शंकरदेव को एक समृद्ध राज्य का स्वामी बताया गया है जिसकी रक्षा उसने अपने भृत्यों की सहायता से मृगेन्द्र की तरह (ररक्षगामिभिमतैर्षृत्यैर्मृगेन्द्रोपमः) की थी।<sup>12</sup> इस उल्लेख से विदित होता है कि वह भी शान्तिप्रिय राजा था और शान्तिमय ढंग से उत्तराधिकार से प्राप्त राज्य का उपभोग किया। अभिलेख में उसके सैनिक सफलताओं के विषय में कोई चर्चा नहीं की गयी है।

### धर्मदेव (447—467 ई.)

चांगुनारायण अभिलेख<sup>13</sup> के अनुसार शंकरदेव के पश्चात् उसका पुत्र धर्मदेव सिंहासन पर बैठा। वह दण्डनीति व कर्मकाण्ड में प्रवीण था और अनुशासन का कट्टर अनुयायी था।<sup>14</sup> अभिलेख में धर्मानुसार राज्य करने, नेपाली क्षेत्र का विस्तार करने एवं प्रजा को क्लेषों से मुक्त रखने के लिए उसकी प्रशंसा की गयी है। वह देवी का कट्टर भक्त था। देवी की पूजा में वह पशुओं की बलि चढ़ाता था।<sup>15</sup> वंशावलियों के अनुसार उसने नन्दी की प्रतिमा तथा स्वयंभूनाथ मन्दिर की स्थापना की थी। चांगुनारायण अभिलेख में उसकी पत्नी राज्यवती को विशिष्ट गुणों से सम्पन्न एवं उच्चकुल की लक्ष्मी कहा गया है।<sup>16</sup> इसी के गर्भ से सुप्रसिद्ध राजा प्रथम मानदेव का जन्म हुआ था। यह नवजात पुत्र गर्वीले तथा प्रफुल्ल चरित्र वाली मां के संरक्षण में पला-पोसा।<sup>17</sup> धर्मदेव स्वयं भी अपने प्रिय और मेधावी पुत्र को क्षत्रिय धर्म को सिखाने में भरपूर रुचि लेता था। इन कारणों से ही मानदेव युवा होने के पूर्व ही सर्वगुण सम्पन्न हो गया।<sup>18</sup>



## मानदेव (467-505 ई.)

धर्मदेव का पुत्र प्रथम मानदेव प्रथम नेपाली राजा है जिसके स्वयं के अभिलेख उपलब्ध हैं। इन अभिलेखों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभिलेख चांगुनारायण मन्दिर अभिलेख है।<sup>19</sup> इस अभिलेख पर सं. 386 (= 464 ई.) या 389 (= 467 ई.) अंकित है।<sup>20</sup> मानदेव के उपलब्ध अभिलेखों की अन्तिम तिथि सं. 427 (= 505 ई.) ज्ञात है।

चांगुनारायण अभिलेख में उल्लेख है कि पिता धर्मदेव का अचानक स्वर्गवास हो जाने पर रानी राज्यवती को गहरा सदमा लगा। उसने अपने युवा पुत्र मानदेव से अपना जीवन त्याग देने की इच्छा व्यक्त की।<sup>21</sup> मां की इच्छा सुनकर वीर पुत्र मानदेव बहुत दुःखी हुआ। उसने मां को ऐसा न करने के लिए हठ किया। उसने मां से अनुनय किया कि राज्य संचालन एवं राजनैतिक गतिविधियों में वह योगदान दे जिससे वंश की प्रतिष्ठा बढ़ाने में वह भविष्य में सफल हो सके। राज्यवती ने अपने महत्वाकांक्षी पुत्र के हठ से प्रभावित होकर अन्ततः जीवन त्यागने की इच्छा छोड़ दी और पुत्र के साथ धर्मदेव का अन्तिम संस्कार किया।<sup>22</sup>

चांगुनारायण अभिलेख में आगे उल्लेख है कि मानदेव ने अपनी पूजनीय मां से इच्छा व्यक्त की कि वह पिता से क्षत्रिय धर्म की शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी सिंहासन पर आलसी राजा की भांति बैठकर पश्चाताप करता रहे, शोभा नहीं देता है। इस प्रकार वह पितृव्रण से भी मुक्त नहीं होगा।<sup>23</sup> अतः उसने क्षत्रिय धर्म का उचित ढंग से निर्वाह करने के लिए पूर्व दिशा में शत्रुओं का दमन करने के लिए मां से अनुमति मांगी। तत्पश्चात् उसने विजय अभियान प्रारम्भ करते हुए घोषणा की जो राजा उसकी प्रभुसत्ता स्वीकार कर लेगा उन्हें सिंहासनाच्युत नहीं किया जायेगा।<sup>24</sup> उसके इस विजय अभियान को राज्य संचालन में निपुण मां राज्यवती ने अपनी स्वीकृति प्रदान की।

मानदेव ने योजनानुसार सर्वप्रथम पूर्व दिशा की ओर प्रस्थान किया। उसके अभियान में पूर्वदिशा के नृपतियों ने बिना हथियार उठाये ही आत्मसमर्पण कर दिया।<sup>25</sup> पूर्व घोषणानुसार उसने उन नृपतियों को सिंहासनाच्युत नहीं किया।<sup>26</sup> अभिलेख में यद्यपि आत्मसमर्पण करने वाले नृपतियों तथा विजित स्थानों के नामों का उल्लेख नहीं है, फिर भी अनुमान लगाया जा सकता है कि ये राज्य कोसीक्षेत्र में रहे होंगे।

चांगुनारायण अभिलेख<sup>27</sup> आगे हवाला देता है कि मानदेव ने पूर्व दिशा में सफलता प्राप्त करने के पश्चात् पश्चिम की ओर प्रस्थान किया। अभिलेख के विवरण से विदित होता है कि मानदेव ने सम्भवतः पहले मल्लपुरी के राजा को प्रभुसत्ता स्वीकार करने के लिए सन्देश भेजा। लेकिन उससे कोई सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त नहीं हुआ। अभिलेख के विवरण में यह भी संकेत दिया गया है कि मल्लपुरी की प्रजा वर्तमान राजा से सन्तुष्ट नहीं थे। मानदेव ने इस स्थिति का लाभ उठाते हुए आक्रमण करने का विचार किया। उसने सर्वप्रथम अपनी सैनिक तैयारी सुसंगठित थी। इस कार्य में उसने अपने



मामा की सहायता ली।<sup>28</sup> उसने योजनानुसार सर्वप्रथम मामा को मल्लपुरी भेजकर वहां की प्रजा को अपने पक्ष में कर लिया। इसके पश्चात् मानदेव ने अपने सैकड़ों हाथियों और अश्वारोहियों के साथ मल्लपुरी पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन कर लिया।<sup>29</sup>

अपने विजय अभियान से लौटकर मानदेव ने अपनी मां राज्यवती के साथ खड़े होकर प्रचुर मात्रा में धन ब्राह्मणों को दान में दिया।<sup>30</sup>

### मल्लपुरी की पहचान

यह 'मल्लपुरी' कहां पर स्थित था, इस पर विद्वानों में मतभेद है। रेग्मी तथा कुछ अन्य विद्वान् 'मल्लपुरी' को नेपाल में पैठण या दैलख के पश्चिम में कहीं स्थिति मानते हैं। हितनारायण झा तथा कुछ अन्य विद्वानों ने 'मल्लपुरी' को वर्तमान गोरखपुर के निकट स्थित होना सिद्ध किया है।<sup>31</sup>

लिच्छवि राजा मानदेव प्रथम एक विजेता ही नहीं महान् निर्माणकर्ता भी था। उसने एक प्रसिद्ध मानगृह का निर्माण कराया जो आगे की कई पीढ़ियों के लिए राजकीय गतिविधियों का केन्द्र बना रहा।<sup>32</sup> इसके अतिरिक्त उसने कई मन्दिर बनवाये और उसे विभिन्न देवी-देवताओं की प्रतिमाओं से अलंकृत कराया, जिसमें एक प्रसिद्ध वामन मूर्ति भी है।<sup>33</sup> अश्वमेध-यज्ञ के समय बलि से पूर्व वामन की बाह्य आकृति में विष्णु का रूप सुन्दर ढंग से चित्रित है।<sup>34</sup> नेपाल में मुद्रा माला का श्रीगणेश भी मानदेव प्रथम ने ही किया था। प्राचीन नेपाल के अभी तक प्राप्त सभी सिक्के ताम्र के हैं, इन सिक्कों पर वैश्रण, पशुपति, मानांक, अंशुवर्मा और जिष्णुगुप्त नाम अंकित हैं। इनमें प्रथम दो नाम देवताओं तथा शेष चार राजाओं के हैं। इसमें 'मानांक' विरुद्ध वाले सिक्के मानदेव ने प्रसारित कराये थे। इन सिक्कों के मुखभाग पर श्री मानांक तथा पृष्ठ भाग पर कमल पर बैठी हुई देवी चित्रित है जिसके एक ओर 'श्री भोगिनी' लिखा है।<sup>35</sup> भोगिनी उसकी एक प्रमुख रानी का नाम था।<sup>36</sup>

मानदेव साहित्य-प्रेमी भी था। उसने संस्कृत को संरक्षण प्रदान किया। परिणामस्वरूप नेपाल में संस्कृत भाषा की आश्चर्यजनक ढंग से उन्नति हुई जिसका उत्कृष्ट उदाहरण स्वयं चांगुनारायण-अभिलेख में प्रयुक्त भाषा है। यह अभिलेख ऐतिहासिक महत्त्व के होने का साथ यह माधुर्य भाषा में लिखित एक उत्तम साहित्यिक कृति भी है। इसमें प्रयुक्त संस्कृत शब्दावली गुप्त अभिलेखों के सदृश्य है।

भारतीय गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त की भांति मानदेव भी कर्मठ, साहसी और शूरवीर था। समुद्रगुप्त की भांति उसने भी राज्य-विस्तार कर समूचे नेपाल को एक सूत्र में पिरोकर सुसंगठित राज्य में परिवर्तित किया। समुद्रगुप्त की भांति मानदेव की प्रशस्ति चांगुनारायण लेख में की गई है। दोनों को हम शत्रु द्वारा अजेय पाते हैं, अर्थात् दोनों अजातशत्रु और महान् संगठनकर्ता हैं जिसके बिना यह दुःसाध्य कार्य सम्पन्न होना सम्भव नहीं था। समुद्रगुप्त की तरह वह भी दूरदर्शिता का परिचय देता हुआ विजित

राजाओं को अपनी प्रभुसत्ता स्वीकार कराकर उन्हें पुनः अपने पद पर आसीन कर देता था। इस तरह मानदेव का चरित्र व कृत्य साम्य होने के कारण उसे नेपाली समुद्रगुप्त कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी।

अभिलेखों से मानदेव प्रथम की तीन रानियों का नाम ज्ञात है। सूर्यघाट-लेख<sup>37</sup> में 'श्री भोगिनी' को मानदेव की महादेवी कहा गया है, जिससे जन्मी पुत्री विजयवती का विवाह वार्त देवलाभ से हुआ था। भोगिनी का ही नाम अंकित होने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह चन्द्रगुप्त प्रथम की कुमारदेवी की तरह अत्यन्त प्रभावशाली रही होगी। सम्भव है कि कुमारदेवी की तरह उसका भी वंश राजनैतिक दृष्टि से नेपाल के किसी क्षेत्र में काफी प्रभावशाली रहा हो और मानदेव की राजनैतिक सफलताओं में उनका योगदान भी रहा हो।

लजिमपात-लेख (सं. 390 = 480 ई.) के अनुसार मानदेव की एक दूसरी रानी का नाम क्षेम सुन्दरी था।<sup>38</sup> इस लेख के अनुसार उसने एक अति सुन्दर शिवमन्दिर लजिमपात में निर्माण कराया था। क्षेम सुन्दरी अपने सौन्दर्य को स्थायी बने रहने के लिए तथा शिव की अनन्य भक्तिन होकर इस मन्दिर में उपासना किया करती थी।

लजिमपात में ही प्राप्त एक और अभिलेख से मानदेव की एक अन्य रानी गुणवती का पता लगता है।<sup>39</sup> इसमें वह अपने पिता किन्नरवर्मन के परम सुख के लिए मानदेव द्वारा एक शिवलिंग स्थापित करने पर उनकी प्रशंसा करती है।

मानदेव स्वयं विष्णु<sup>40</sup> का उत्कट भक्त होने पर भी धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त में विश्वास करता था, जैसा कि ऊपर उल्लेख है कि उसकी रानियाँ शिव की भक्तिन थीं।

अभिलेख में मानदेव के हृष्ट-पुष्ट, चौड़ी छाती, दृढ़ और मांसल हाथों, खिले कमल की तरह नीली आंखों और स्वर्णिम रंग के शरीर की प्रशंसा की गई है। कामदेव की तरह दिखने वाला वह अपने प्रिय रानियों का प्रेमासक्त था।<sup>41</sup> अपने इस दिव्यरूप के साथ-साथ वह करुणा, प्रेम की मूर्ति और अतिथियों का सम्मान करने वाला राजा था।<sup>42</sup> इन सब महान् गुणों से सम्पन्न होने पर भी वह उच्च घोष करने वाली उपाधियों को धारण करने की ओर कभी नहीं आकृष्ट हुआ। वह अपने लिए साधारण उपाधि राजश्री,<sup>43</sup> नृप<sup>44</sup> तथा भट्टारक महाराज<sup>45</sup> से ही सन्तुष्ट था।

चांगुनारायण लेख की तिथि यदि 346 सं. माना जाये तो मानदेव ने कम से कम 42 वर्ष तक राज्य किया, और यदि इसे 389 शुद्ध पाठ मानें तो 39 वर्ष राज्य किया। इस अवधि में उसने नेपाल में लिच्छवि वंश को काफी दृढ़ किया।

### महीदेव (505—506 ई.)

मानदेव के पश्चात् महीदेव सिंहासन पर बैठा। महीदेव के विषय में हमें केवल जयदेव द्वितीय के अभिलेख<sup>46</sup> से जानकारी मिलती है। इसके अनुसार मानदेव के



उपरान्त उसका पुत्र महीदेव ने शासन किया। चूँकि मानदेव की अन्तिम ज्ञाततिथि 427<sup>47</sup> (=505 ई) है और वसंतदेव का प्रथम ज्ञात निर्णय 428<sup>48</sup> (=506 ई) है। अतः स्पष्ट है कि महीदेव ने कुछ ही माह तक शासन किया। महीदेव का अपना कोई अभिलेख भी नहीं मिला है। सम्भवतः उसकी आकस्मिक मृत्यु हो गयी होगी। महीदेव ने यद्यपि बहुत कम समय तक शासन किया। फिर भी जयदेव द्वितीय के अभिलेख तथा जिष्णुगुप्त के एक अभिलेख<sup>49</sup> में उसके नाम का आदरपूर्वक उल्लेख होने के कारण यह कहना युक्तिसंगत होगा कि वह शान्तिप्रिय तथा योग्य राजा रहा होगा।

### वसंतदेव (506—531 ई.)

महीदेव के पश्चात् वसंतदेव सम्भवतः 506 ई. में नेपाल के सिंहासन पर बैठा। उसने सम्भवतः 532 ई. तक शासन किया। क्योंकि थानकोट से प्राप्त उसका अन्तिम अभिलेख की तिथि सं. 554 (=532 ई) है।<sup>50</sup> वसंतदेव को प्रायः सभी प्राप्त अभिलेखों<sup>51</sup> में “परम दैवतबन्धुभट्टारक महाराज श्री पादानुप्यातः ध्रुतनयदयादान दाक्षिण्य पुण्य प्रताप विकसित कीर्तिर भट्टारक महाराज श्री वसंतदेव कुशली....” संबोधन है। यहां ‘बधु भट्टारक’ से तात्पर्य सम्भवतः ‘पितृ भट्टारक’ से है। सम्भव है, पूर्व राजाओं द्वारा प्रयुक्त ‘राजश्री’ और ‘नृप’ उपाधि, जो मानदेव के राज्य स्तर को देखते हुए किसी दशा में ‘महाराज’ से कम महत्त्व प्रदर्शित करने वाला नहीं था, का प्रयोग करना त्यागकर उसने उच्चघोष करने वाला गुणवाचक विरुद्ध “परमदैवतबधु भट्टारक महाराज श्री....” धारण किया। यह विरुद्ध प्रायः उनके सभी अभिलेखों में मिलता है। लगन टोला लेख<sup>52</sup> में उल्लेख है कि वह अपनी बुद्धिमत्ता, राजनीतिज्ञता, संवेदना, नम्रता, सदाचार और साहस के कारण आम जनता में अत्यधिक आदर पाता था।

द्वितीय जयदेव के पशुपतिनाथ-प्रशस्ति में उल्लेख है कि उसने अपने शत्रुओं को पराजित किया, और मानमर्दित सामन्तों ने उसकी वन्दना की।<sup>53</sup> लेकिन किसी भी प्रत्यक्ष साक्ष्य से यह ज्ञात नहीं है कि उसने किसी शत्रु के साथ युद्ध किया। उपलब्ध सामग्री केवल यह संकेत करती है कि उसके शासनकाल में नेपाल में सुख-शान्ति रही है।<sup>54</sup>

लेकिन उत्तर भारत के परवर्ती गुप्त राजाओं के इतिहास पर दृष्टिपात करने पर विदित होता है कि भानुगुप्त (510 ई) तथा ईश्वरवर्मा की तिथि (544 ई) के मध्य परवर्तीगुप्त राजा जीवितगुप्त (हर्षगुप्त का पुत्र) और मौखरि राजा आदित्यवर्मा के पुत्र ईशान वर्मा के संयुक्त विजय अभियान में ‘हिमालय से लेकर समुद्रतट के मध्य क्षेत्र’ पर पुनः अधिकार प्राप्त की थी।<sup>55</sup> इस तथ्य से अनुमान लगाया जा सकता है कि जीवितगुप्त ने ही हिमालय क्षेत्र पर राज्य करने वाले लिच्छवि राजा वसंतदेव को परास्त



करके उससे 'मल्लपुरी' का क्षेत्र छीन लिया। और लिच्छवि राजा पर नियन्त्रण रखने के लिए उसने सम्भवतः नेपाल में क्रमलीन की नियुक्ति 'महाराज महासामन्त' के पद पर करवा दी। इसी तरह दूतक विरोकनगुप्त और रविगुप्त क्रमशः याज्ञिक तथ्य सर्वदण्डनायक महाप्रतिहार पद पर आसीन हुए होंगे।<sup>56</sup> वसंतदेव के अन्तिम प्राप्त अभिलेख (थानकोट से प्राप्त) में 'महाराज महासामंत श्री क्रमलीन' भट्टारक महाराज श्री वसंतदेव को शासन पत्र के सम्बन्ध में राय देते हुए दिखलाया गया है।

**वसंतदेव के उत्तराधिकारी (532—588 ई.)**

लिच्छवि राजाओं की सूची में वसंतदेव के उत्तराधिकारी के रूप में क्रमशः वामनदेव, रामदेव, गणदेव, शिवदेव प्रथम, उदयदेव, ध्रुवदेव, भीमाअर्जुनदेव के नामों का उल्लेख मिलता है किन्तु ये सभी नाममात्र के शासक रहे थे।

गुप्त सामन्तों की स्थिति काफी दृढ़ हो गयी थी। वसंतदेव (532 ई.) के पश्चात् वामनदेव व गणदेव लिच्छवि राजा नेपाल के सिंहासन पर बैठे। लेकिन वे नाममात्र के शासक रहे। वास्तविक सत्ता गुप्त सामन्तों के हाथ में ही रही। गणदेव का प्रारम्भिक अभिलेख की तिथि सं. 482 (560 ई.) है। इसमें गुप्त सामन्त श्री भौमगुप्त 'सर्वदण्डनायक महाप्रतिहार' के रूप में उल्लिखित है।<sup>57</sup> यहां यह ध्यान देने योग्य है कि सर्वदण्डनायक महाप्रतिहार होते हुए भी वह दूतक नहीं था, जबकि इसके पूर्व वसंतदेव के शासनकाल में सर्वदण्ड नायक रविगुप्त दूतक का भी कार्य करता था। भौमगुप्त ने अपना महत्त्व दिखाने के लिए 'परमदैवतश्री' उपाधि भी धारण की, जबकि लिच्छवि राजा वामनदेव, रामदेव तथा गणदेव केवल 'भट्टारक महाराज' की उपाधि धारण करते थे। गणदेव के अन्तिम ज्ञात तिथि सं. 489 (567 ई.) में ऐसा ही उल्लेख है।<sup>58</sup> इससे प्रतीत होता है कि लिच्छवि राजा इन गुप्त सामन्तों के कठपुतली बनकर रह गये थे।

भौमगुप्त का प्रभाव लिच्छवि राजा शिवदेव प्रथम के शासनकाल में सं. 515 (=593) तक बना रहा था। शिवदेव ने इन गुप्त सामन्तों से मुक्त होने का प्रयास प्रारम्भ किया। लेकिन यह कार्य वह अकेले नहीं कर सकता था, क्योंकि गुप्त सामन्त उसकी गतिविधियों पर कड़ी नजर रखते थे। उसके शासनकाल (सं. 510-535 अर्थात् 588-613 ई.) भौमगुप्त लिच्छवियों के लिए 'राहु' बन चुका था। इस राहु से मुक्ति पाने के लिए शिवदेव प्रथम को सौभाग्य से एक योग्यतम सामन्त अंशुवर्मन मिल गया,<sup>59</sup> जो सम्भवतः लिच्छवियों की अन्य किसी शाखा से सम्बन्धित था।

**अंशुवर्मन (574—619 ई.)**

अंशुवर्मन लिच्छवि था अथवा गुप्त सामन्त, इस पर विद्वानों में मतभेद है। अंशुवर्मन के लिच्छवि होने पर प्रश्नचिह्न लगाने वाले विद्वानों का तर्क है कि यदि

अंशुवर्मन लिच्छवि राजवंश का होता तो जयदेव द्वितीय के पशुपतिनाथ अभिलेख तथा लिच्छवि राजाओं की अन्य अभिलेखों में उसका भी नाम उल्लेख किया गया होता।<sup>60</sup> लेकिन सम्भवतः लिच्छवि राजाओं के अभिलेखों में अंशुवर्मन का नाम उल्लेख होने का कारण यह रहा हो कि अंशुवर्मन नेपाल में राज्य कर रहे लिच्छवि राजवंश से सम्बन्धित न होकर लिच्छवियों के अन्य किसी शाखा से सम्बन्धित रहा हो। वह ब्राह्मण मत का अनुयायी नहीं था, क्योंकि वह वैष्णव मत मानने वाले लिच्छवि राजाओं की तरह 'परम दैवत' या 'देव' आदि उपाधि धारण नहीं करता है। सम्भवतः इस कारण भी पशुपतिनाथ अभिलेख में उसका नाम उल्लेख नहीं किया गया है।

वंशावलियों से ज्ञात होता है कि लिच्छवि राजा शिवदेव वर्मन (अभिलेखों में उल्लिखित शिवदेव) का अंशुवर्मन दामाद था।<sup>61</sup> अंशुवर्मन को लिच्छवि कहने का आधार यह भी है कि वंशावलियों के सभी लिच्छवि राजा 'वर्मन' विरुद्ध धारण किये हुए हैं और सूर्यवंशी हैं। अंशुवर्मन भी 'वर्मन' विरुद्ध करता है, जबकि दूसरी ओर अन्य गुप्त सामन्त प्रायः 'गुप्त' विरुद्ध धारण किये हुए हैं।

अंशुवर्मन के सहयोग से ही शिवदेव प्रथम लिच्छवि कुल की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित कर सका। इसलिए शिवदेव प्रथम को अभिलेखों में 'लिच्छवि कुलकेतु' कहा गया है।<sup>62</sup> अंशुवर्मन का ही सहयोग पाकर शिवदेव प्रथम शांति एवं सुव्यवस्था स्थापित करने में सफल हो सका। अंशुवर्मन की मृत्यु होते ही जो गुप्त सामन्त थे, पुनः सक्रिय हो गये। अंशुवर्मन का गुणगान शिवदेव प्रथम के लगभग सभी अभिलेख करते हैं। अतः अंशुवर्मन को लिच्छवि न मानने के तर्क का आधार काफी कमजोर है। उसके लिच्छवि सामन्त होने का आधार काफी मजबूत है। यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि वंशावलियों में अंशुवर्मन को 'ठकुरीवंश' कहा गया है, न कि गुप्तवंश। यही नहीं, उसने गुप्त सामन्तों को प्रश्रय देने की अपेक्षा शिवदेव के पुत्र उदयदेव,<sup>63</sup> जो उसका सगा साला भी था, को ही अपना दूतक तथा युवराज घोषित किया। हेनत्सांग<sup>64</sup> जब 635 ई. में भारत व नेपाल भ्रमण के लिए आया तो इसे लिच्छवि राजा कहकर ही प्रशंसा करता है। उसने उसकी प्रशंसा महान् विद्वान् के रूप में की है, जिसने शब्द विद्या (व्याकरण) पर एक ग्रन्थ लिखा था।

अंशुवर्मन महत्वाकांक्षी महासामन्त था। उसने लिच्छवि राजा शिवदेव प्रथम को गुप्त सामन्तों के चंगुल से मुक्त कराकर अपना प्रभाव स्थापित किया। लिच्छवि राज्य विस्तार वहां तक किया जहां तक पहले मानदेव का अधिकार था। उसमें मल्लपुरी पर भी सम्भवतः पुनः अधिकार में कर लिया। शिवदेव के समय के अभिलेख<sup>65</sup> (सं. 520 (= 596 ई.) में 'मल्लकर' का उल्लेख है (यद्यपि इस अभिलेख में शिवदेव का नाम नहीं है)। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि 'मल्लों' को अंकुश में रखने के लिए ही शिवदेव प्रथम को जनता पर 'मल्लकर' लगाना पड़ा हो। (देखें, पीछे, पृ. 91)



## द्वैराज्य शासन व्यवस्था

शिवदेव के शासनकाल (शक सं. 510-535) अर्थात् 588-613 ई.) में महासामन्त अंशुवर्मन इतना शक्तिशाली हो गया कि उसने महासामन्त होने के 30वें वर्ष में नेपाल की घाटी में अपना एक अलग स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया और उसने अपने पृथक् शिलालेख स्थापित कराये तथा उन शिलालेखों पर उसने स्वयं द्वारा प्रचारित नया संवत् प्रयोग किया। नया संवत् प्रयोग वाले शिलालेख (सं. 30-45 तक) मिले हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि अंशुवर्मन 29 वर्ष सामन्त व महासामन्त के रूप में पदासीन रहा और 30वें वर्ष अपने को वह स्वतन्त्र राजा घोषित करने के बाद अपना नया संवत् प्रयोग करना प्रारम्भ किया, किन्तु उसकी गणना अपने को सामन्त के रूप में पदासीन होने से की। शिलालेखों से यह आभास मिलता है कि प्रारम्भ में अंशुवर्मन केवल एक सामन्त<sup>66</sup> था, जो सम्भवतः 574 ई. में नियुक्त हुआ।<sup>67</sup> अंशुवर्मन की योग्यता तथा उसके द्वारा लिच्छवि वंश की पुनः प्रतिष्ठा स्थापित करने के कारण ही शिवदेव प्रथम ने अपना पुत्री का विवाह उससे कर दिया और उसकी पदवी सामन्त से 'महासामन्त' कर दी। पाटन अभिलेख सं. 517<sup>68</sup> में अंशुवर्मन 'श्रीसामन्त' के रूप में उल्लिखित है और उसी वर्ष का भदगांव<sup>69</sup> अभिलेख में उसे 'महासामन्त' कहा गया है। इससे आभास मिलता है कि सं. 517 (=595 ई.) में उसका पद सामन्त से बढ़कर महासामन्त हो गया था।

सन् 595 ई. (सं. 517) में महासामन्त को पद प्राप्त होने के पश्चात् सम्भवतः शिवदेव प्रथम ने उसे राज्य के प्रशासन तथा सुरक्षा का अधिकार भी उसे दे दिया। इस अधिकार को पाकर अंशुवर्मन ने अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली और आगे चलकर सम्भवतः शिव प्रथम के शासनकाल के मध्य ही सन् 604 ई. में अंशुवर्मन ने एक अलग राज्य की स्थापना कर ली, जो उसके सभी अभिलेख सिद्ध करते हैं। यह स्थिति शिवदेव प्रथम के शासन के 39वें (सम्भवतः शिवदेव प्रथम की मृत्यु तक) तक बनी रही। इस स्थिति को देखते हुए हम अनुमान लगा सकते हैं कि नेपाल में इस समय द्वैराज्य शासन प्रणाली स्थापित हो गई थी। इन्द्रजी और काशीप्रसाद जायसवाल का भी मत है कि नेपाल में द्वैराज्य शासन प्रणाली थी।

अंशुवर्मन नेपाल का पहला राजा था जिसने पड़ोसी राज्यों के राज-परिवारों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर अपनी स्थिति सुदृढ़ की। अंशुवर्मन की बहन भोगदेवी भारतवर्ष के मौखिरि वंश के राजा शूरसेन से व्याही थी,<sup>70</sup> जिससे भोगवर्मन पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका विवाह मगध के गुप्त राजा आदित्यसेन की पुत्री से हुआ था। भोगदेवी ने पशुपतिनाथ मन्दिर के समीप एक लिंग की स्थापना की थी जो सूर्य भोगेश्वर के नाम से विख्यात है।<sup>71</sup>

अंशुवर्मन के संवत् 34 के अभिलेख<sup>72</sup> में ही शिवदेव का पुत्र उदयदेव का



उल्लेख दूतक एवं युवराज के रूप में हुआ है। सम्भवतः अंशुवर्मन ने ऐसा इसलिए किया होगा कि उसका कोई पुत्र नहीं था। उदयदेव उसका साला था, इसलिए अंशुवर्मन ने उसे अपना उत्तराधिकारी चुना होगा। यह भी हो सकता है कि शिवदेव प्रथम के पुत्र उदयदेव की ओर से कोई झगड़े की स्थिति न पैदा हो, इसलिए अंशुवर्मन ने उसे अपना 'दूतक' नियुक्त किया और उसे 'युवराज' भी घोषित किया। 'दूतक' के रूप में शासन में हिस्सा लेते हुए सम्भवतः उदयदेव ने यह सोचा हो कि भविष्य में वही अविभाजित राज्य उत्तराधिकारी होगा, अतः इस पद से वह पूर्णरूप से सन्तुष्ट रहा होगा।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि शिवदेव प्रथम के शासनकाल के 30वें वर्ष (604 ई.) अंशुवर्मन ने नेपाल में एक अलग राज्य की स्थापना कर ली थी और अपने लिए एक अलग भवन कैलासकूट में बनवाया जहां से वह शासन भी करने लगा था।<sup>73</sup> सरकारी विज्ञप्तियों पर उसके हस्ताक्षर होते थे, ऐसा शिवदेव के लेखों<sup>74</sup> से भी विदित है। लेकिन इस पर भी वह स्वयं को केवल 'महासामन्त' और 'श्री' ही कहता था।<sup>75</sup> यह स्थिति सम्भवतः शिवदेव प्रथम के शासनकाल के 39वें वर्ष (सम्भवतः शिवदेव प्रथम की मृत्यु तक) तक बनी रही। शिवदेव की मृत्यु के पश्चात् अंशुवर्मन ने राज्य पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण कर ली जिसकी पुष्टि ध्रुवदेव के पाटन अभिलेख<sup>76</sup> करते हैं। उसने सिक्के भी प्रसारित कराये। उसके द्वारा प्रसारित कुछ सिक्कों के मुख भाग पर 'श्री अंशों' तथा पृष्ठ भाग पर 'महाराजधिराजस्थ' अंकित है। अंशुवर्मन के कम से कम 45 वर्ष (574-619 ई.) तक राज्य किया। उसका अन्तिम प्राप्त अभिलेख तिथि सं. 45 है।<sup>77</sup>

अंशुवर्मन की मृत्यु के पश्चात् सम्भवतः उदयदेव पूर्णराज्य का उत्तराधिकारी बना। उदयदेव का यद्यपि कोई अभिलेख नहीं मिला है, किन्तु उसके महाराजा होने की पुष्टि जयदेव द्वितीय का पशुपतिनाथ अभिलेख करता है। ताडविवरण (तिब्बती विवरण) भी यह संकेत करता है कि उससे सिंहासन प्राप्त करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। सम्भवतः उसने गुप्त सामन्तों से सद्भावना प्राप्त कर यह सफलता प्राप्त की थी। अंशुवर्मन की मृत्यु के पश्चात् उदयदेव का प्रधानमन्त्री जिष्णुगुप्त बना जो अत्यधिक शक्तिशाली था।

ताडविवरण आगे सूचना देता है कि उदयदेव वाद में अपने कनिष्ठ भ्राता ध्रुवदेव द्वारा अपदस्थ कर दिया गया। इस विवरण से स्पष्ट होता है कि उदयदेव पूर्णरूप से गुप्तों की दया पर निर्भर था। उसके साथ जिष्णुगुप्त प्रधानमन्त्री ने उसी तरह से व्यवहार किया जिस तरह अंशुवर्मन ने शिवदेव (प्रथम) के साथ किया था। सम्भवतः उदयदेव पूर्व की तरह किसी अन्य के द्वारा नियन्त्रित किया जाना पसन्द नहीं किया, और इसलिए उसने गुप्तों का प्रभाव समाप्त करने के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग किया। परिणाम यह हुआ कि वह सिंहासनाच्युत कर दिया और उसकी जगह

ध्रुवदेव सिंहासन पर बैठा जिसने गुप्तों के आदेश पर चलना स्वीकार किया। यह घटना सं. 48 (ध्रुवदेव का प्रारम्भिक प्राप्त अभिलेख) से पूर्व की है। (देखें, पीछे, पृ. टिप्पणी 89)

सम्भवतः उदयदेव सं. 45-48 (=619-622 ई.) तक शासन किया। उसके पश्चात् ध्रुवदेव ने सम्भवतः दो वर्ष तक शासन किया। ध्रुवदेव का प्रारम्भिक प्राप्त अभिलेख सं. 48 और अन्तिम अभिलेख सं. 49 है। उसके पश्चात् उसका पुत्र या भाई भीमार्जुन दैव सिंहासन पर बैठा, जिसके अभिलेखों पर अंकित आरम्भिक तिथि सं. 55 और अन्तिम तिथि सं. 65 (=639 ई.) है। इसने भी सामान्य राजा की भांति 'भट्टारक' (नोली, अभि. 56) की उपाधि से अपने को सन्तुष्ट किया। अभिलेखों से पता लगता है कि प्रधानमन्त्री, जिष्णुगुप्त ने उदयदेव, ध्रुवदेव तथा उसके उत्तराधिकारी भीमार्जुनदेव को अपने हाथ की कठपुतली बनाकर रखा और ऊंची-ऊंची राजकीय उपाधियां 'भागवत्—पशुपति भट्टारक पादानुगृहितोवय-पादानुध्यातः' ग्रहण की।<sup>79</sup> वह इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ, बल्कि अपने पुत्र विष्णुगुप्त को 'युवराज' सम्बोधित किया। (नोली, अभि. 50-56)<sup>80</sup> जिष्णुगुप्त ने अपने नाम के सिक्के भी प्रसारित कराये। उसके सिक्कों पर 'जिष्णुगुप्तस्य' अंकित है।<sup>81</sup>

जिष्णुगुप्त का अन्तिम प्राप्त अभिलेख की सं. 59<sup>82</sup> (=633 ई.) है, इस वर्ष में विष्णुगुप्त (जिष्णुगुप्त का पुत्र) तथा श्रीधरगुप्त (पौत्र), क्रमशः युवराज तथा दूतक के रूप में उल्लिखित हैं। इसी समय जब विष्णुगुप्त अपने पिता का पद प्राप्त कर लेता है तो श्रीधरगुप्त दूतक 'युवराज'<sup>83</sup> पद पर आ जाता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि सं. 59 में कभी जिष्णुगुप्त का देहान्त हो गया होगा।

प्रधानमन्त्री का पद प्राप्त कर विष्णुगुप्त ने गुप्त सामन्तों की धृष्टता को भी पीछे छोड़ दिया। जहां महाराज श्री भीमार्जुनदेव लोगों की कठिनाई दूर करने के लिए कई प्रकार की योजनाओं में व्यस्त रहता था, वहीं विष्णुगुप्त केवल डींगें मारा करता था कि उसमें एक गर्बीले राजा के सभी गुण हैं तथा वही अन्धकार को मिटाने वाला है।<sup>84</sup>

## द्वैराज्य व्यवस्था समाप्त

नरेन्द्रदेव (641—677 ई.)

जिष्णुगुप्त नेपाल के राजसिंहासन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने के लिए जिस समय अपनी शक्ति में वृद्धि करने का प्रयास कर रहा था, नरेन्द्रदेव (उदयदेव का पुत्र) ने गुप्त रूप से तिब्बत में आकर शरण ली थी। यद्यपि ताडविवरण में नरेन्द्रदेव के पिता का नाम उल्लिखित नहीं है, पर जयदेव द्वितीय के पशुपतिनाथ अभिलेख में उसके पिता का



नाम उदयदेव का उल्लेख है। ताडविवरण<sup>85</sup> से विदित है कि नरेन्द्रदेव तिब्बत के राजा से सहायता प्राप्त करने में सफल हुआ। नेपाल के सिंहासन पर एक तरह से अधिकार जमाये हुए अवसरवादी गुप्तों को समूल नष्ट करने के लिए तिब्बत के राजा ने नरेन्द्रदेव की सहायता के लिए एक बड़ी सेना भेजी। नरेन्द्रदेव ने नेपाल पर आक्रमण किया और अवैध अधिकार किये गुप्तों को नेपाल की राजनीति से पूरी तरह बाहर निकाल दिया। चूंकि नरेन्द्रदेव के अभिलेखों में गुप्त सामन्तों अथवा अधिकारियों का नाम नहीं मिलता है। इससे स्पष्ट है कि राजनीति में गुप्तों का हस्तक्षेप समाप्त हो गया था। इस तरह नरेन्द्रदेव के शासनकाल में नेपाल में द्वैराज्य व्यवस्था की समाप्ति हुई और नेपाल में लिच्छवि वंश का पुनः गौरव स्थापित हुआ। इसलिए उसे लिच्छवि वंश का उद्धारक कहना उचित होगा। नरेन्द्रदेव ने पुनः उच्च राजकीय उपाधि 'परमभट्टारक महाराजाधिराज'<sup>86</sup> धारण की।

नरेन्द्रदेव ने तिब्बत के राजा की सहायता प्राप्त करने के लिए बदले यद्यपि कुछ वार्षिक कर किया, जिसकी पुष्टि नरेन्द्रदेव के पुत्र शिवदेव द्वितीय के लगनटोला अभिलेख सं. 119 (= 693 ई.) से भी होती है। लेकिन इसके अतिरिक्त हम नेपाल की राजनीति में तिब्बत का किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं पाते हैं।

नेपाल की राजनीति से गुप्तों का हस्तक्षेप पूर्णतः समाप्त करने के पश्चात् नरेन्द्रदेव ने पड़ोसी देश चीन से भी मित्रता स्थापित की। उसने अपने पुत्र शिवदेव द्वितीय को उपहार के साथ 651 ई. में चीन भेजा।<sup>87</sup> इसी प्रकार 646 ई. में एक चीनी दूत मण्डल नेपाल होता हुआ भारत आया था। यह दूत मण्डल जब भारत पहुंचा तो तब तक भारत के सम्राट हर्षवर्द्धन की मृत्यु हो चुकी थी। भारत पहुंचने पर मगध क्षेत्र का अर्जुन अथवा अरुणासव (सम्भवतः हर्षवर्द्धन का मन्त्री अथवा सामन्त) ने इस दूत मण्डल के साथ दुर्व्यवहार किया और चीनी दूत वेंग-ह्वेन-त्सांग के अंगरक्षकों को मार डाला। चीनी दूत सहायता के लिए नेपाल आया। उसके अनुरोध पर तिब्बत नरेश खोड-जन-गाम-पो ने एक हजार सैनिक तथा नेपाल नरेश नरेन्द्रदेव ने सात हजार सैनिक सहायता के लिए दिए। इस संयुक्त सेना ने अर्जुन के राज्य पर आक्रमण कर अर्जुन को पराजित किया और उसे बन्दी बनाकर चीनी दूत चीन ले गया, जहां इसके लिए उसे बहुत अधिक सम्मान दिया गया।<sup>88</sup>

नरेन्द्रदेव ने तिब्बत तथा भारत के मौखरियों से विवाह सम्बन्ध स्थापित किए। उसने अपनी बहन भृकुटी का विवाह तिब्बत के राजा तथा अपने पुत्र शिवदेव द्वितीय का विवाह मगध का राजा भोगवर्मन की पुत्री वत्सदेवी से किया। इस प्रकार उसने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके नेपाल में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली।<sup>89</sup>

नरेन्द्रदेव ने कम से कम 37 वर्ष तक शासन किया। नरेन्द्रदेव के प्रारम्भिक ज्ञात तिथि सं. 67 तथा अन्तिम ज्ञात तिथि सं. 103 है। अर्थात् नरेन्द्रदेव ने कम से कम 641-677 ई. तक अवश्य शासन किया।<sup>90</sup>



## नरेन्द्रदेव के कमजोर उत्तराधिकारी

नरेन्द्रदेव के पश्चात् उसका पुत्र शिवदेव द्वितीय सिंहासन पर बैठा। शिवदेव द्वितीय का एक अभिलेख तिथि सं. 109 तथा अन्तिम प्राप्त अभिलेख तिथि सं. 125 का है,<sup>91</sup> अर्थात् उसने कम से कम 699 ई. तक शासन किया।

शिवदेव द्वितीय के पश्चात् जयदेव द्वितीय सं. 137<sup>92</sup> (= 711 ई.) के पूर्व सिंहासन पर बैठा। उसका पुत्र शंकरदेव द्वितीय का प्रथम ज्ञात तिथि सं. 189 है।<sup>93</sup> अतः इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि जयदेव द्वितीय का शासन काल सम्भवतः 711-763 तक अवश्य रहा होगा, अर्थात् जयदेव द्वितीय ने कम से कम 52 वर्ष तक राज्य किया।

जयदेव द्वितीय के पश्चात् शंकरदेव द्वितीय नेपाल के सिंहासन पर आसीन हुए। उसके शासनकाल का प्रथम ज्ञात तिथि सं. 189 तथा अन्तिम ज्ञात तिथि सं. 207 है।<sup>94</sup> इस अन्तिम प्राप्त अभिलेख में विजयदेव को दूतक के रूप में उल्लेख है। इस तरह शंकरदेव द्वितीय ने कम से कम 18 वर्ष (763-781 ई.) तक शासन किया। यही तिथि नेपाल के लिच्छवि राजाओं की अन्तिम ज्ञात तिथि है।

शंकरदेव द्वितीय के काल में एक महत्वपूर्ण घटना हुई। कल्हण की राजतरंगिणी<sup>95</sup> के अनुसार कश्मीर के राजा ब्रजादित्य का पुत्र जायापीड (शासनकाल 751-782 ई.) ने नेपाल के अर्मुदि को पराजित किया था। अन्य साक्ष्य उपलब्ध न होने के कारण अर्मुदि की पहचान करना कठिन है। परन्तु शंकरदेव द्वितीय को नेपाल में 781 ई. में शासन करता देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अर्मुदि (अरमुडी) सम्भवतः नेपाल के लिच्छवि राजा का नायक अथवा सामन्त था।

### संदर्भ एवं टिप्पणियां

1. नोली, अभि 81, द्बन्टी धी इन्सक्रिप्शन्स, अभि 15, पृ. 16-20.
2. नोली, अभि 1, द्बन्टी धी इन्सक्रिप्शन्स, अभि 1.
3. द्बन्टी धी इन्सक्रिप्शन्स, अभि 15, पृ. 16-20 : इन्द्रजी ने इसे 11 राजाओं पढ़ा; नोली, अभि 81, पृ. 116-17 : नोली भी 11 राजाओं ही पढ़ते हैं; लेकिन बाद में नेपाली विद्वान् महेशराज पंत ने इस श्लोक का शुद्ध पाठ करके बताया कि जयदेव प्रथम और वृषदेव के मध्य 12 राजाओं ने शासन किया था (द्रष्टव्य, इतिहास संशोधन, अंक 53, पृ. 6-16)
4. द्बन्टी धी इन्सक्रिप्शन्स, अभि 1; नोली, अभि 1 : इन्द्रजी व नोली इस 386 पढ़ते हैं जो अशुद्ध है; नेपाली विद्वान् (इतिहास संशोधन, अंक 2, पृ. 3-6) इसका शुद्ध पाठ 389 किया है।
5. आई.ए. भाग 13, पृ. 425-26.
6. आई.ए. भाग 17, पृ. 210; जायसवाल, क्रोनोलाजी एण्ड हिस्ट्री आफ नेपाल, पृ. 6-7
7. लेवी, ली नेपाल, भाग 2, पृ. 61-64, 70-81, 126.
8. ज.एसो, भाग 1, 1959, पृ. 47-48; नेपाल की ऐतिहासिक रूपरेखा, पृ. 82; रेग्मी, पृ. 103, 112.

9. नोली, अभि 81; ट्वन्टी थी इन्सक्रिप्शन्स, अभि 15.
  10. राइट, डेनियल, हि.ने., पृ. 66-78.
  11. नोली, अभि 81
  12. नोली, वही, पृ. 2
  13. नोली, वही, श्लोक 5
  14. नोली, वही, श्लोक 4; इ.स.प्र.प्र., खण्ड 1, पृ. 103 (श्लोक 4).
  15. वही, श्लोक 5
  16. वही, श्लोक 5 : पत्नी तस्य विशुद्ध-वंश-विभवा श्री राजवत्पुत्रमा ।  
प्रणानाम भवत्प्रिया कुल गुणौलक्ष्मीरिवामया हरेः ॥
  17. झा, लिच्छवि, पृ. 129.
  18. वही.
  19. नोली, अभि 1; नेपाली भाषा में 'चांगु' का अर्थ गरुण होता है.
  20. नोली ने इस तिथि 386 पढ़ा है. परन्तु एक नेपाली लेखक ने इसका सही पाठ किया 389 (रेग्मी द्वारा उद्धृत).
  21. चांगुनारायण लेख, श्लोक 10.
  22. वही, श्लोक 11.
  23. वही, श्लोक 15.
  24. वही, श्लोक 14.
  25. वही, श्लोक 16.
  26. वही, श्लोक 16.
- यूपैश्चारुभङ्गच्छितैर्वसुमती पित्रा ममालङ्कृता  
क्षेत्रेणाजिमखाश्रयेण विधिना दीक्षाश्रितो (5) हं स्थितः ।  
यात्राम्प्रत्यरि-सङ्क्षयाय तरसा गच्छामि पूर्वान्दिशम्  
ये चाज्ञा वशवत्रिनो मम नृपाः संस्थापयिष्यामितान् ॥  
प्रायत्पूर्वपथेन तत्र क शथा ये पूर्वदेशाश्तथः  
सामन्तः प्रणिपातबन्धु रशिरः प्रभ्रष्ट मौलिसाजः  
तानाज जावाश वत्र तिनो नरपतिः संस्थाप्य तस्मात् पुनः  
निर्भाः सिट इवाकुलोदतसटः पशेकाद्भुवञ्जगमिवान । (वही, श्लोक 16).
27. वही, श्लोक 17.
  28. वही, श्लोक 18.
  29. वही, श्लोक 18 : अभिलेख इस बात की ओर संकेत करता है कि मल्लपुरी की जनता वहाँ के राजा के प्रति काफी असन्तोष व्याप्त था जिसका लाभ मानदेव ने उठाया.
  30. नोली, अभि 1; ट्वन्टी थी इन्सक्रिप्शन्स, अभि 1, श्लोक 19.
  31. देखें, पीछे, अध्याय, गुप्तों का समय लिच्छवि, पृ.
  32. वही. पृ. 88; नोली, अभिलेख 62.
  33. नोली, अभिलेख 3, पृ. 6.
  34. झा, लिच्छवि, पृ. 133.
  35. रेग्मी, एशियन्ट नेपाल, पृ. 91, झा, लिच्छवि, पृ. 134

36. सूर्यघाट अभिलेख, सं. 427 (अभिलेख पार्ट 1, पृ. 23-24.
37. अभिलेख, भाग 1, पृ. 23-24.
38. इतिहास संशोधन, पृ. मूल 246, श्लोक 2.
39. वही, पृ. मूल, 265
40. नोली, अभि. 3.
41. वही, अभिलेख 7; इति. संशोधन, पृ. मूल 104.
42. वही.
43. नोली, अभि, 3, 6, 7.
44. वही, अभि. 8.
45. पलन चोक—लेख, सं. 425 (इतिहास संशो., पृ. मूल, 265)
46. नोली, अभि, 81
47. सूर्यघाट लेख सं., 427 (अभि. पार्ट 1, पृ. 22-24).
48. नोली, अभि. 12 (आदि नारायण—लेख).
49. नोली, अभि 54 (केवलपुर—लेख) पृ. 71 : महाराज श्री वसुराज श्री महीदेव.
50. झा, लिच्छवि, पृ. 139.
51. नोली, अभि. 12, 13, 15.
52. वही, अभि. 13.
53. नोली, 81 पृ. 116 : वसन्त इव लोकस्य कान्तः शान्ता विग्रहः ।  
आसीद् वसन्त देवोस्माददान्त सामन्त वन्दितः ॥10 ॥
54. वही, अभि. 12, 13.
55. लिच्छवि, पृ. 110; द्रष्टव्य, पीछे, पृष्ठ टिप्पणी 46, गुप्तों के समय में लिच्छवि, टिप्पणी.
56. पीछे देखें, पृ. 89.
57. लिच्छवि, पृ. 139.
58. नोली, अभिलेख, 20.
59. झा, लिच्छवि, पृ. 141.
60. झा, लिच्छवि, पृ. 111
61. राइट, हिस्ट्री आफ नेपाल, पृ. 130
62. नोली, अभिलेख, 24
63. वही, अभिलेख, 41
64. बील, ह्वेनत्सांग का यात्रा विवरण, भाग 3, पृ. 319.
65. नोली, अभि. 30.
66. वही.
67. झा, लिच्छवि, पृ. 141.
68. नोली, अभि. 23.
69. वही, अभि. 24.
70. नोली, अभि. 41.
71. वही.
72. वही.
73. वही, अभि. 40.



74. वही, अभि 63.
75. वही, अभि 35.
76. वही, अभि 50.
77. वही, अभि 40.
78. ताड्विवरण
79. नोली, अभि 50-56
80. वही.
81. कैटलाग आफ द क्वायन्स आफ नेपाल, पृ. 1.
82. नोली, अभि 55, 57.
83. वही, अभि 60, 62.
84. वही, अभि 61.
85. ताड्विवरण
86. नोली, अभि 66, 68, 70, 73.
87. झा, लिच्छवि, पृ. 157.
88. पीछे देखें, अध्याय गुप्तकाल में लिच्छवि, पृ. 94.
89. वही.
90. वही, पृ. 103, टिप्पणी 122.
91. नोली, अभि 76, 78.
92. वही, अभि 79
93. इतिहास प्रकाश, भाग 1, पृ. 159.
94. वही.
95. बंसोलाल मल्ल, स्कल्पचर आफ कश्मीर, आगन कला प्रकाशन, दिल्ली (1990) पृ. 9



## आधार ग्रंथ सूची

### (क) ब्राह्मण ग्रंथ

अथर्ववेद (सम्पा)	: आर. रोथ और डब्लू. डी. विह्टने (बर्लिन, 1856)
ऋग्वेद (सम्पा)	: श्री पाद शर्मा (औधनगर, 1940)
कौटिलीय अर्थशास्त्र (संस्कृत मूल तथा हिन्दी)	: उदयवीर शास्त्री (लाहौर, 1925)
पाणिनीय अष्टाध्यायी (अं. अनु.)	: एस. सी. वसु (वाराणसी)
पतंजलि महाभाष्य (सम्पा)	: कीलहार्न (बम्बई, 1892, 1909)
मनुस्मृति (सम्पा)	: गणेशदत्त पाठक (वाराणसी, 1948)
(हिन्दी अनु.)	: केशव प्रसाद शर्मा (बम्बई, 1923)
द लॉ आफ मुन (अं. अनु.)	: व्यूलर (सै. वु. ई.), 25, आक्सफोर्ड, 1886)
महाभारत विद कमेंटरी (सम्पा)	: नीलकंठ (पूना, 1929-1933)
रामायण (संस्कृत व हिन्दी अनु.)	: द्वारका प्रसाद शर्मा (इलाहाबाद, 1926)

### (ख) बौद्ध ग्रंथ

अंगुत्तर निकाय (सम्पा)	: मोरिस एवं हार्डी (पा. टे. सो., लण्डन, 1883-1900)
द बुक आफ द ग्रेडोल सेइंग (अं. अनु.)	: बुडवर्ड तथा हेवर, पांचवां भाग (पा. टे. सो., 1932-36)
उदान (सम्पा)	: पी. सैथल (पा. टे. सो., लण्डन, 1885)
उदान (सम्पा. अनु.)	: जगदीश कश्यप भिक्षु
खुद्दक पाठ (सम्पा. अनु.)	: आर. सी चिल्डर्स (ज. रा. ए. सो., 1870, पृ. 309-39)
खुद्दक कमेंटरी (बुक घोष)	: पा. टे. सी. (लण्डन)
परमत्थजोतिका (खुद्दक टीका)	: नलिनाक्षदत्त (श्री नगर, 1942)
गिल्गित मैनुस्क्रिप्ट (विनयवस्तु)	



जातक (सम्पा)	: फाउसवोल, वी., सात भाग (लण्डन, 1877-97)
जातक (सम्पा. अंग्रेजी)	: कावेल, ई. वी. भाग 1 व 2 (लण्डन, 1957)
डिक्शनरी आफ पाली प्रापर नेम थेर तथा थेर गाथा (सम्पा)	: मलालसेकरा, भाग दो (1938) : ओल्डन वर्ग तथा पिस्थेल, डपा. टे. सो., लण्डन, 1883)
थेरी गाथाएं (हिन्दी अनु.)	: भरतसिंह उपाध्याय (नई दिल्ली, 1950)
साम आफ द ब्रदेन (थेर अनु.)	: श्रीमती रिसडेविड्स (लण्डन, 1951)
साम आफ द सिस्टर्स (थेरी अनु.)	: श्रीमती रिसडेविड्स (लण्डन, 1949)
दीघ निकाय (सम्पा)	: श्रीमती रिसडेविड्स व कारपेटर, भाग 1 (पा. टे. सो. 1949)
दीघ निकाय (हिन्दी अनु.)	: राहुल सांस्कृत्यायन (सारनाथ)
डायलाग्स आफ बुद्ध (अं अनु.)	: रिसडेविड्स तथा सी. ए. ई., खंड 2 (लण्डन 1959)
सुमंगल विलासिनी (दीघ टीका)	: रिसडेविड्स (पा. टे. सो., लण्डन, 1886)
द लाइफ आफ द बुद्ध	: रॉकहिल (लण्डन 1907)
धम्मपद (पाली व हिन्दी अनु.)	: राहुल सांस्कृत्यायन (सारनाथ)
धम्मपद अट्ठकथा (धम्म टीका)	: एच. सी. थार्मस (पा. टे. सो., लण्डन, 1906-15)
पेतवत्थु (सम्पा.)	: राहुल सांस्कृत्यायन (रंगून 1937)
पूजा वलिय	: सीलोनो बुद्धिष्ट ग्रंथ
बुद्ध चरित्र आफ अश्वघोष (सम्पा.)	: वी. ट्रेंकनर तथा चामर्स (पा. टे. सो. लण्डन, 1948-51)
डायलाग्स आफ द बुद्ध (मज्झि. अ. अनु.)	: चामर्स, दो भाग (बुद्धिष्ट सी., 1944-52) 5-6 लण्डन, 1926-27)
महावग्ग (सम्पा.)	: एन. के. भागवत् दो भाग (बम्बई. 1944-52)
महावंस (हिन्दी अनु.)	: भदन्त आनन्द कौसल्यायन (इलाहाबाद, 1942)
महावस्तु (सम्पा.)	: ई. सेनार्ट, तीन भाग (पेरिस, 1982-97)
महावस्तु (अं. अनु.)	: जे. जे. जोन्स, भाग 1 (लण्डन, 1949)
ललित विस्तर (सम्पा.)	: लुफौन (पाले, 1902-1908)

विनय पिटक (सम्पा)	श्रोल्डन वर्ग, 5 भाग (पा. टे. सो., लण्डन, 1879-1883)
विनय पिटक (हिन्दी अनु.)	: राहुल सांस्कृत्यायन (सारनाथ, 1935)
द बुक आफ द डिस्पिलिन (विनय पिटक का अं. अनु.)	: आई. वी. हार्वर. (बुद्धिष्ट सीरीज़. लण्डन, 1938-52)
समंतपासादिका (विनय पिटक टीका)	: चार भाग (पा. टे. सो.)
संयुक्त निकाय (सम्पा)	: लियोन फियर और श्रीमती रिस डेविड्स (लण्डन, 1884-98)
द बुक आफ द किंड्रेड सेइंग (अं. अनु.)	: श्रीमती रिस डेविड्स और बुडवर्ड (पा. डे. सो. लण्डन. 1916-30)

### (ग) जैन ग्रंथ

अभिधान राजेन्द्र (कोश)	: भाग 3. (1914)
आचारंग-सूत्र (सम्पा)	: जैकोबी (पा. टे. सो. लण्डन, 1882)
" (अनु)	: जैकोबी (सै. बु. ई. भाग 22 आक्सफोर्ड. 1884)
आवश्यक सूत्र (चूर्णि)	: जिनदास गणि, दो भाग (रतलमा, 1928-29)
उवासगदसाव (सम्पा. वअं)	: होन्ले. दो भाग (बिब्लोथिका) इंडिका सी., कलकत्ता, 1890-98)
कल्पसूत्र (अनु.)	: जैकोबी (सै. बु. ई., भाग 22)
निरयावली सूत्र (सम्पा)	: ए. एस. गोपनी और चौशी (अहमदाबाद, 1935)
भगवती सूत्र (सम्पा. व टीका)	: अभयदेव (बम्बई 1918-21)
स्थाविरावली चरित या हेमचन्द का परिशिष्ट पर्व (सम्पा)	: जैकोबी (बिब्लोथिका) इंडिका सी., कलकत्ता, 1882)
श्रमण भगवान महावीर	: मुनि रत्नप्रभ विजय, भाग 2, खण्ड 2. (अहमदाबाद, 1851)

### (घ) अभारतीय स्रोत

बुद्धिष्ट रिकार्ड आफ द वैस्टर्न वर्ड (हैनत्सांग का यात्रा विवरण)	: सैमुअल बोल (लण्डन, 1884)
द रोमांटिक लिजेन्ड आफ शाक्य बुद्ध	: सैमुअल बोल (लण्डन, 1875)
द लाइफ आफ द बुद्ध एण्ड अर्ली	: बुडविले रॉकहिल (लण्डन, 1907)

हिस्ट्री आफ हिज आर्नर (तिब्बती ग्रंथों में वर्णित) (अं. अनु.)

एन एकाउन्ट आफ द किंगडम आफ नेपाल : किरपाट्रिक (लण्डन, 1811)

हिस्ट्री आफ नेपाल (परवतिया संस्स) (अं. अनु.) : डी. राइट (कैम्ब्रिज, 1877 व कलकत्ता 1958)

एल नेपाल (तीन भाग) : सिल्वां लेवी, (पेरिस, 1909)

(च) अभिलेख

उपाध्याय वासुदेव  
नोली, आर.

: गुप्त अभिलेख (पटना, 1974)  
: नेपालीज़ इन्सक्रिप्शन्स इन गुप्त कैरेटर्स (रोम, 1956)

फ्लीट, जे. एफ.

: कार्पस इन्सक्रिप्शन्स इंडिकेरम, भाग 31  
परवर्ती गुप्त राजाओं के अभिलेख (कलकत्ता, 1988)

सरकार. डी. सी.

: स्लेक्टेड इन्सक्रिप्शन्स. भाग 1  
(कलकत्ता, 1942)

(झ) मुद्रा

अल्तेकर, अ. सदाशिव  
ठाकुर, उपेन्द्र

: गुप्तकालीन मुद्राएं (पटना, 1954)  
: सम आवजर्वेंशन्स आन चन्द्रगुप्त  
प्रथम—कुमार देवी क्वायन्स—टा (इ.  
न्यू. क्रोनिकल. भाग 2, खण्ड 1. 1961)

(ज) उत्खनन-रपट

आक्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया  
एन्युअल रिपोर्ट

: 1881-62, 1880-81, 1903-04,  
1913-14, 1921-22, 1922-23,  
1957-58, 1958-59, 1959-60,  
1960-61

वैशाली इक्वेशन

: कृष्णदेव तथा विजयकांत मिश्र

(झ) शोध निबंध

इन्द्र जी. ला.

: सम कन्सीडिरेशन्स आफ द हिस्ट्री  
आफ नेपाल. इ. ए. 1884 भाग 13, पृ.  
412-428

गोपाल. यू. एन.

: द कांस्टीट्यूशन आफ व लिच्छवीज



- आफ वैशाली. इ. हि. क्वा., 1044 भाग  
20, अंक 4, पृ. 334-40
- जायसवाल, काशी प्रसाद : हिस्टारिकल डेट इन द ड्रामा "कौमुदी  
महोत्सव, 'अ. भा. ओ. रि. ई. 1930-31,  
भाग 12, पृ. 50-57
- पाण्डेय, एम. एस. : ए फ्रेश स्टडी आफ द अर्ली गुप्त  
क्रोनोलाजी एण्ड लिच्छवि-गुप्त  
रिलेशनशिप. ज. वि. रि. सो., भाग 46
- फ्लीट, जे. एफ. : द क्रोनोलाजी आफ द अर्ली रूलर्स  
आफ नेपाल. इ. ए. 1885, भाग 14, पृ.  
342-51
- भण्डारकर, डी. आर. : द कारमाइकेल लेक्चर्स, 1918  
(लेक्चर्स आन द एंशियेण्ट इंडियन  
न्यूमिस्मेटिक्स) कलकत्ता, 1921
- मजूमदार, रमेश चन्द्र : द कांस्टीट्यूशन आफ द लिच्छवीज़  
एण्ड शाक्याज़, इ. हि. क्वा., 1851,  
भाग 27, अंक 4, पृ. 327-33
- विद्या भूषण, सतीश चन्द्र : पर्सियन एम्पिनिटीज आफ द लिच्छवि,  
इ. ए., 1908, भाग 37, पृ. 78
- " " " : द लिच्छवीज़ रेस आफ एंशियेण्ट  
इंडिया, ज. ए. सो. बं., 1902, भाग 71
- स्मिथ, पिसेन्ट आर्थर : तिब्बतन एम्पिनिटीज आफ द  
लिच्छवि, इ. ए. मई 1903, भाग 32, पृ.  
233-36
- " " " : वैशाली, ज. रा. ए. सो., 1913
- सरकार, डी. सी. : एन हिस्टोरिसिटी आफ द कौमुदी  
महोत्सव जे. ए. एच. एस., 1937-38,  
भाग 11

#### सहायक ग्रंथ

- अल्तेकर, अ. सदाशिव : स्टेट एण्ड गर्वनमेन्ट इन एंशियेण्ट  
इंडिया, द्वितीय संस्करण (वाराणसी,  
1955)
- " " " : पोजीशन अण्ड वोमेन इन हिन्दू

- अग्रवाल, वासुदेवशरण : सिविलाइजेशन (दिल्ली, 1962)
- ओल्डनवर्ग, एच. : पाणिनि कालीन भारतवर्ष, प्रथम संस्करण (वाराणसी सं. 2012)
- गुप्त, परमेश्वरीलाल : प्राचीन भारतीय साहित्य और धर्म (हिन्दी अनु.)
- गोयल, श्रीराम : गुप्त साम्राज्य (वाराणसी, 1960)
- गोपाल, हरिरंजन तथा जर्नादन : प्राचीन नेपाल का राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास (वाराणसी, 1973)
- चौधुरी, आर. के. : बुद्धिज्म एण्ड वैशाली (पटना, 1957)
- जिला गजेटियर : हिस्ट्री आफ बिहार (पटना, 1958)
- जायसवाल, काशीप्रसाद : मुजफ्फरपुर (कलकत्ता, 1907)
- जायसवाल काशीप्रसाद : हिन्दू पालिटी, तृतीय संस्करण (बंगलौर, 1955), हिन्दी अनु. (वाराणसी, वि. सं. 2014)
- जायसवाल काशीप्रसाद : भारतवर्ष का अंधकारयुगीन इतिहास द्वितीय संस्करण (वाराणसी वि. सं. 2014)
- जायसवाल काशीप्रसाद : क्रोनोलाजी एण्ड हिस्ट्री आफ नेपाल (पटना, 1937)
- जायसवाल, प्रसान्त कुमार : गुप्तकालीन उत्तर भारत का जैनैतिक इतिहास (पटना, 1965)
- ठाकुर, उपेन्द्र : हिस्ट्री आफ मिथिला (दरभंगा, 1956)
- दत्त, नलिनाक्ष : अली हिस्ट्री आफ द स्प्रेड आफ बुद्धिज्म (लण्डन)
- दिवाकर, आर. आर. (सम्पा) : बिहार थू द ऐज्ज (1959)
- प्रकाश, ओम : फूड एण्ड ड्रिन्क इन एंशियेन्ट इंडिया (दिल्ली, 1961)
- पाठक, विशुद्धानन्द : हिस्ट्री आफ कौशल (वाराणसी, 1962)
- पार्जिटर, एफ. ई. : द पुराण टेक्स आफ द डायनस्टीज़ आफ द कलियज (आक्सफोर्ड, 1913 एवं वाराणसी 1921)
- प्राणनाथ : ए स्टडी इन इकोनोमिक कंडीशन आफ एंशियन्ट इंडिया, (लण्डन, 1929)
- बोस, ए. एन. : सोसल एण्ड रूरल इकोनामी आफ

मजूमदार, राय चौधुरी व दत्त	नार्दन इंडिया, (कलकत्ता, 1942-45)
माथुर, जे. सी. तथा योगेन्द्र मिश्र	: एन एडवांस हिस्ट्री आफ इंडिया, द्वितीय संस्करण (लण्डन, 1950)
मिश्र, योगेन्द्र	: वै. अमि. प्र. (वैशाली, 1948)
	: एन अर्ली हिस्ट्री आफ वैशाली (मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1962)
मुखर्जी, शोभा	: द रिपब्लिकन ट्रेड इन एंशियण्ट इंडिया (दिल्ली, 1969)
रिस डेविड्स, टी. डब्लू	: बुद्धिस्ट इंडिया (कलकत्ता, 1950)
राय चौधुरी, पी. सी.	: जैनिज्म इन बिहार (पटना, 1957)
राय चौधुरी, हेमचन्द्र	: द डायनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दन इंडिया भाग 1 (कलकत्ता, 1952)
रेग्मी, दिल्ली रमण	: एंशियण्ट नेपाल (कलकत्ता, 1952)
ला, विमल चरण	: ए हिस्ट्री आफ पाली लिटरेचर, भाग 1 (लण्डन, 1933)
"	: क्षत्रिय क्लान्स इन बुद्धिष्ट इंडिया, कलकत्ता और शिमला (1922)
"	: ट्राइब्स इन एंशियण्ट इंडिया, (पूना, 1943)
शुक्ल, देवीदत्त	: प्राचीन भारत में जनतंत्र (लखनऊ, 1966)
श्रीवास्तव, बलराम	: ट्रेड एण्ड कामर्स इन एंशियण्ट इंडिया (वाराणसी, 1968)
सम्मोदार, जे. एन.	: द ग्लौरी आफ मगध, द्वितीय संस्करण (1927)
संधवी, एस. एल.	: वैशाली-विदेह (मुजफ्फरपुर, 1953)
सिंह, एस. एन.	: हिस्ट्री आफ तिरहुत (कलकत्ता, 1922)
सिंह, मदन मोहन	: बुद्धकालीन समाज और धर्म (पटना, 1922)
सूरी, विजयेंद्र	: वैशाली (बम्बई, 1958)
" "	: तीर्थंकर महावीर, भाग 1 (बम्बई, 1966)
त्रिपाठी, सच्चिदानन्द	: शृंगकालीन भारत (वाराणसी, 1977)
त्रिवेद, देव सहाय	: प्राङ्मौर्य विहार (पटना, 1954)





## अनुक्रमणिका

- अंगुत्तर निकाय, 31, 52, 53, 57, 134,  
 161, 191, 215  
 अंगुलिमाल, 66  
 अंधभूत जातक, 221  
 अंबपाली, 17, 63, 65, 133, 134S  
 135, 144  
 अंशुवर्मन, 91, 92, 107, 108, 109,  
 242, 243, 244  
 अभिषेकपुष्करणी, 40  
 अजातशत्रु, 11, 12, 13, 14, 28, 33,  
 34, 55, 63-72, 78, 95, 102, 103,  
 119, 120, 121, 143, 181, 239  
 अजित, 17, 173,  
 अजित केसंबली, 128  
 अथर्ववेद, 27, 158, 217  
 अभय, 68  
 अशोक, 79, 80, 170, 173,  
 अश्वघोष, 83  
 अष्टाध्यायी, 29, 55, 139, 167, 215  
 अष्टकुलक, 192  
 आचारांगसूत्र, 28,  
 आजिविक, 164  
 आनन्द, 38, 39, 69  
 आलार-कालाम, 159  
 आपस्तंब श्रौतसूत्र, 27  
 एकपण्णजातक, 39, 40, 225  
 उग्ग गृहपति, 134  
 उदयदेव, 109, 110, 242, 246  
 उदान जातक, 173  
 उद्दालक जातक, 124  
 ऋग्वेद, 123, 158  
 कटाहक जातक, 81, 129  
 कण्व, 52, 53, 54, 55, 56  
 कनिष्क (देवपुत्र), 14, 15, 83, 84, 92  
 करालजनक, 31, 33, 34  
 कलियुग वृत्तांत, 101  
 कल्पसूत्र, 163  
 कारणपाली, 160  
 कालकंणी जातक, 129  
 कालाशोक, 54, 78  
 काहौन अभिलेख, 104  
 कोटिग्राम, 40, 171, 199  
 कौटिल्य अर्थशास्त्र, 25, 33, 52, 73,  
 79, 119, 125, 129  
 कोलार, 13, 26  
 कुण्डपुर, 38, 162, 172  
 कौमुदी महोत्सव, 15, 89, 90, 91  
 कुमारदेवी, 11, 32, 93, 94, 101  
 कुमारामात्य, 15, 94, 95, 120, 121  
 कूटागार, 40, 66, 161, 170, 171, 225

कृतिजनक, 55  
 खण्ड, 56, 68, 120, 183  
 खारवेल, 81, 82, 83  
 खुइक पाठ, 28, 29, 35  
 खोतान, 33, 34  
 गंगमाल जातक, 129  
 गणदेव, 106  
 गिलिगत मैनुस्क्रिप्ट, 40, 56, 181  
 गोप, 32, 66, 121, 190  
 गोसिंग सालवन, 37, 172  
 घुस जातक, 65  
 चण्डसेन, 90, 91, 93, 143  
 चन्द्रगुप्त मौर्य, 53, 54, 79  
 चांगुनारायण मंदिर अभिलेख, 16, 103,  
 105, 235, 237, 238  
 चीरवस्तु, 32, 68  
 चेटक, 13, 14, 28, 31, 38, 63, 65,  
 68, 69, 70, 71, 102  
 चैत्य, 28, 29, 62, 160, 264  
 छंद, 182, 190  
 जयदेव द्वितीय, 89, 105, 108, 111,  
 235, 242, 248  
 जटिल तपस्वी, 161  
 जिष्णुगुप्त, 109, 110, 245, 246  
 जेथरिया, 96, 122  
 जैन कल्प सूत्र, 31  
 ज्येष्ठा (चेटक की पुत्री), 135  
 तक्षशिला, 66  
 ताड विवरण, 109, 110, 247  
 तिब्बती दुल्व, 26, 40, 56, 62, 143,  
 225  
 त्रिशला, 31, 38  
 तिषटि शलाका पुरुष चरित्र, 57, 68  
 थेरवाद, 219

दासक थेर, 160  
 दिव्यावादन, 64  
 दीघ निकाय, 66, 171, 219, 220,  
 226  
 देवभूति, 14, 81  
 धम्मपद अट्टकथा, 63  
 ध्रुव देव, 108, 109  
 नंद जातक, 128  
 नंदिवर्द्धन, 122  
 नरेन्द्रदेव, 102, 109, 110, 111, 246,  
 247, 248  
 नाग, 36  
 नाग दासक, 78  
 नादिक, 171, 172  
 निमि जातक, 51  
 निरयावलि सूत्र, 31, 63, 64  
 नेपाल, 11, 13, 79, 84, 92, 95, 96,  
 101, 102, 106, 110, 235, 247  
 परमत्यजोतिका, 11, 25, 29, 30, 31,  
 181, 183  
 पतंजलि, 55, 56, 119, 125, 139  
 पशुपतिनाथ अभिलेख, 102, 103  
 पाणिनि, 29, 55, 108, 109, 139,  
 183, 216, 217  
 पाटलिपुत्र, 14, 15, 78, 79, 81, 83,  
 86, 93, 94, 102, 103, 171, 230  
 पावा, 172, 199  
 पिंगयानी ब्राह्मण, 160, 169  
 पुष्यमित्रशुंग, 81  
 प्रयागप्रशस्ति, 15, 32, 95, 101, 103,  
 64, 65, 66  
 प्रसेनजित, 54, 56, 64, 65, 66  
 फाह्यान, 33, 38, 40, 169, 170, 227  
 फूसे, 41



बंदर पोखर, 38, 170  
 बनस्पर, 83  
 बसंतदेव, 105, 106, 236  
 बाल्मीकि रामायण, 35, 36, 50  
 बालिकाछवि, 171, 173  
 बेलुवगामक, 111  
 बिम्बसार, 32, 38, 53, 54, 56, 62,  
 63, 64, 65, 66, 166, 167, 188  
 बौद्धलिच्छवि, 179, 180  
 बुद्ध, 13, 16, 20, 31, 32, 33, 38,  
 39, 52, 53, 54, 66, 69, 70, 73,  
 80, 119, 123, 124, 130, 131, 134,  
 140, 141, 143, 158, 166, 167,  
 168, 183, 214, 215, 217  
 बुद्धघोष, 25, 35, 63, 64, 73, 138,  
 162  
 भद्रावैशाली, 36, 52  
 भद्रबाहु, 217  
 भरहुत, 221, 222  
 भागवत पुराण, 36  
 भिक्षापात्र, 38, 84, 92  
 भीमार्जुनदेव, 109, 242, 246  
 मनुस्मृति, 12, 13, 26, 27, 28, 30,  
 33, 65, 126, 129, 204  
 मल्ल, 28, 50, 65, 107, 181  
 मल्लपुरी, 16, 104, 105, 105, 107,  
 238, 242  
 महाउम्मग जातक, 52  
 महाभारत, 28, 35, 36, 37, 50, 51,  
 73, 120, 121, 183, 188  
 महापरिनिब्बान सूत्र, 28, 30, 34, 141,  
 162, 163  
 महापद्मनन्द, 54, 55, 78, 79  
 महालि, 30, 66, 137, 166

महावीर स्वामी, 28, 34, 38, 57, 64,  
 65, 70, 71, 83, 158, 163, 164,  
 172  
 महाप्रजापतिगौतमी (बुद्ध की सौतेली  
 माँ), 17, 38, 169  
 महादेवी, 85, 101, 240  
 महीदेव, 105, 106, 235, 239, 240,  
 241  
 मानदेव, 103, 104, 105, 235, 237,  
 243  
 मालालंकार वत्थु, 78  
 मिथिला, 37, 38, 51, 52  
 मुषिक जातक, 65  
 मेगस्थनीज, 66  
 मोग्गलिपुत्रतिस्य, 220  
 मृण्यमयी मूर्तियाँ, 18, 80, 229, 230  
 यक्ष, 28  
 यूची, 13, 26, 34, 159  
 राजगृह, 38, 62, 65, 70, 78, 82,  
 130, 162, 167  
 राजतरंगिणी, 111, 248  
 राहुल सांकृत्यायन, 63, 65, 96, 122,  
 160, 188  
 रेवत (बौद्धविद्वान), 220  
 ललित विस्तर, 56, 120, 135, 159,  
 165  
 लिच्छवि, 11, 14, 25-39, 64, 79,  
 82, 92, 95, 96, 120, 121, 123,  
 142, 159, 168, 183, 184  
 वस्सकार, 69, 72, 120, 121  
 वसुमित्र, 14, 81, 82  
 वज्जि, 29, 32, 33, 39, 56, 96, 111,  
 160, 166, 182, 191  
 वामनदेव, 106

ती, 65  
सेनापति, 68, 121, 135, 140,  
190  
जातक, 30  
र्मन, 15, 90, 91, 93  
16, 90, 101, 102, 103  
विलासिनी, 30, 67, 160  
36, 37, 50, 56,  
ांग, 55, 123  
व, 102, 111, 230  
जातक, 167  
ब्राह्मण, 28  
व प्रथम, 106, 107, 108  
व द्वितीय, 246, 247  
ाग, 25, 78  
ात, 53  
68  
गुम्फा अभिलेख, 82  
ांग, 31, 38, 39, 41, 96, 110,  
139, 159, 170, 181, 202, 227  
जातक, 126

ब्राह्म, 29, 30, 32, 65, 123  
 वासवखतिया, 118  
 विष्णुगुप्त, 109, 110, 111, 246  
 विदेह, 13, 28, 50, 52, 56, 57  
 विनय पिटक, 11, 28, 128, 144,  
 165, 200  
 वैशाली, 12, 14, 16, 32-38, 57, 62,  
 64, 78, 79, 85, 95, 102, 120,  
 121, 127, 135, 159, 160, 161,  
 168, 225, 226  
 वृक्षपूजा (चैत्यपूजा), 160  
 संभाराम, 159  
 संथागार, 65, 120  
 संयुक्त निकाय, 57, 162, 219, 220  
 समुद्रगुप्त, 15, 16, 32, 96, 101,  
 103, 105,  
 सर्वकामी (बौद्ध भिक्षु), 17, 173  
 सांख्यान श्रोतसूत्र, 52  
 सानवाहन, 63, 65, 96, 122, 160,  
 188  
 साभवेद, 217

सालवती, 65  
 सिंह सेनापति, 68, 121, 135, 140,  
 163, 190  
 सिंगल जातक, 30  
 सुंदरवर्मन, 15, 90, 91, 93  
 सुपुष्प, 16, 90, 101, 102, 103  
 सुमंगल विलासिनी, 30, 67, 160  
 सुमति, 36, 37, 50, 56,  
 सूत्रकृतांग, 55, 123  
 शंकरदेव, 102, 111, 230  
 शंख जातक, 167  
 शतपथ ब्राह्मण, 28  
 शिवदेव प्रथम, 106, 107, 108  
 शिवदेव द्वितीय, 246, 247  
 शिशुनाग, 25, 78  
 हरितमात, 53  
 हल्ल, 68  
 हाथी गुम्फा अभिलेख, 82  
 ह्वेनत्सांग, 31, 38, 39, 41, 96, 110,  
 122, 139, 159, 170, 181, 202, 227  
 शृंगाल जातक, 126



